हिन्दी सन्त काव्य में मधुर भावना

डॉ. प्रवेश विरमानी

हिन्दी संत-काव्य में मधुर भावना

डॉ० प्रवेश विरमानी

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु स्वीकृत]

प्रथम संस्करण : १९८८

मूल्य : रु० ६५/-

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक : स्टैण्डर्ड प्रेस, २ बाई का बाग, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

मध्यकाल में 'संत' और 'भक्त' शब्द प्रायः समानार्थी हो गये थे, किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने निर्गुण और सगुण भावधारा के उपासकों एवं साहित्यकारों में विभेद करना आरम्भ कर दिया और संत-साहित्य को निर्गुण धारा तक सीमित मान लिया। स्वभावतः सगुण भक्तिधारा के कवियों को भक्त कहा जाने लगा। इस विभाजन का प्रमुख श्रेय पं० रामचन्द्र शुक्ल को है जिनके इतिहास की मान्यताओं को परवर्ती इतिहासकारों एवं शोधकों ने बहुत दूर तक स्वतःसिद्ध मान लिया। सुविधा के लिए इस विभाजन को भले ही मान्यता मिल जाय पर तत्त्वतः संत और भक्त पृथक् कर्म संभव नहीं है। तुलसी संत को उतना ही महत्व देते हैं जितना कबीर, और दोनों ही भक्ति को समान रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं। निर्गुण, सगुण का विभेद भी उस तरह का नहीं है, जैसा माना जाता है। सगुण भक्त निर्गुण-सगुण दोनों को स्वीकार करते हैं जबकि निर्गुण भक्त सगुण का विरोध करते हैं। इधर के शोधकार्यों में कबीर आदि निर्गुण उपासकों की कृतियों में सगुण परम्परा एवं अवतारवाद का भी सन्निवेश निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः दोनों के बीच संबंध-सूत्र और आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। रूप से नाम की वरीयता इसी तरह का एक बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह माधुर्यभाव उस ज्ञानाश्रयी शाखा में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है जिसे ज्ञानमूलक, हठयोगपरक और त्याग-तितिक्षा से विशेषतः संबद्ध माना जाता है।

वर्तमान शोध-प्रबंध 'हिन्दी संत-काव्य में मधुर भावना' डॉ० प्रवेश विरमानी द्वारा इलाहाबाद बिश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया। सन् १९७७ में डॉ० पारसनाथ तिवारी जी के संपर्क में आकर शोधछात्रा ने कई वर्षों के अथक परिश्रम से उन्हीं के निर्देशन में अपना कार्य पूरा किया और सफलतापूर्वक उपाधि प्राप्त की। इस कार्य से पहले इसी से मिलते-जुलते विषय में कई शोधकार्य संपन्न हो चुके थे। जैसे—१९७६ में काशी विद्यापीठ से 'संत-साहित्य का भावबोधीय धरातल' तथा 'हिन्दी संत-काव्य में माधुर्यभाव' विषय पर गुजरात से शोध संपन्न हो चुका था। इस कार्य के समानान्तर गढ़वाल विश्वविद्यालय से १९७८ में 'हिन्दी ज्ञानाश्रयी संतों के काव्य में माधुर्यभाव' शीर्षक शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया गया। यह विवरण 'शोधसंदर्भ', भाग १, २ में द्रष्टव्य है। और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं

जिससे सिद्ध होता है कि इस ओर पहली बार शोधकार्य सम्पन्न नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में शोधार्थी का कार्य कठिन हो जाता है, विशेषतः जब वह एक अनुभवी विशेषज्ञ के साथ शोध के लिए उन्मुख होता है। प्रस्तुत ग्रंथ की विषय-सूची देखकर यह स्पष्ट हो जायेगा कि संबद्ध विषय के प्रायः सभी पक्षों का इसमें समावेश किया गया है। 'संत' शब्द की अर्थ-व्याप्ति और 'मधुर' शब्द की पूर्वपरम्परा का गहराई के साथ विविध क्षेत्रों में अनुशीलन किया गया है। सूफी और ईसाई परम्परा तथा सगुण भक्ति-साहित्य को भी दृष्टि में रखा गया है। पाँच अध्यायों में विभाजित यह शोध-प्रबन्ध कई दृष्टियों से ज्ञानवर्द्धक एवं पठनीय सिद्ध होता है। मुझे प्रसन्नता है कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी के द्वारा इसका प्रकाशन हो रहा है। विश्वास है कि साहित्य-मनीषी तथा सुधी अध्येता इसका अवश्य स्वागत करेंगे।

जगदीश गुप्त
सचिव एवं कोषाध्यक्ष

●●●

प्राक्कथन

बाल्यावस्था से ही मेरा लगाव ईश्वर-भक्ति के प्रति था। कमरा बन्द कर शान्त वातावरण में परमपिता प्रभु का ध्यान करने और भक्तिभाव से पूरित पुस्तकों का अध्ययन करने से ही मन को सान्त्वना प्राप्त होती थी। इसी कारण हिन्दी पाठ्य पुस्तकों में कबीर, नामदेव, रैदास, सूर, तुलसी आदि संतों के पदों तथा साखियों के पठन-पाठन में विशेष आनन्द आता था। स्नातकोत्तर कक्षाओं में जब इन संतों की भक्ति का सूक्ष्मतः मनन-चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि वही सर्वव्यापी एक ओर अणु-अणु में व्याप्त ब्रह्म है तो दूसरी ओर पति अथवा प्रेमी के रूप में भी माना गया है। प्रथम प्रकार की भक्ति तो बोधगम्य थी, पर द्वितीय प्रकार की भक्ति प्रश्नात्मक थी। हृदय में बार-बार यह प्रश्न उठता कि यदि यह भक्ति कामप्रधान है तो सामान्य मानव और प्रभु में अन्तर ही क्या? इस प्रश्न का स्वतः समाधान करना मेरे लिए आकाश में तारे गिनने की भाँति था। स्नातकोत्तर परीक्षा सन् १९७३ ई० में उत्तीर्ण करने के साथ ही साथ अध्ययन-कार्य में समय न देने के कारण यह विचारणीय प्रश्न गुप्त मस्तिष्क के कपाटों में बन्द हो गया।

यदि सन् १९७७ ई० को मैं अपना सौभाग्य कहूँ तो यह असंगत न होगा, क्योंकि एक अत्यन्त साधारण घटना से मेरे पति के एक मित्र श्री एस० पी० त्रिपाठी द्वारा मुझे शोधकार्य के लिए प्रेरणा मिली। उनकी प्रेरणा ने मुझे प्रोत्साहित किया और मैं अपने गुरु डॉ० पारसनाथ तिवारी जी के यहाँ अपनी जिज्ञासा लेकर गई। उन्होंने मेरा प्रश्न सुनकर उस पर चर्चा की एवं उसी विषय से सम्बन्धित पुस्तकों का अध्ययन तथा शोधकार्य करने के लिए प्रेरित किया।

यह शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में उत्तर-मध्ययुगीन परिस्थितियों का निरूपण किया गया है, क्योंकि किसी भी साहित्य के अन्तस्तल में पहुँचने से पूर्व उस युग की परिस्थितियों का जानना अति आवश्यक है।

द्वितीय अध्याय में भक्ति की व्याख्या, व्युत्पत्ति एवं उसके अर्थतत्त्व तथा विविध रूपों का परिचय देने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय में मधुर भक्तिरस के विकास का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत मधुर भक्तिरस के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, संचारी भाव आदि की विस्तार से व्याख्या की गई है। साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मधुराभक्ति-विषयक विद्वानों के विचार, भक्ति में मधुर भावना की प्रवृत्ति का प्रयोजन, भक्ति के विषय में पाश्चात्य मानस-तत्त्वज्ञानियों के मत, भक्ति-साधना में दाम्पत्य-प्रेम का प्रयोजन, प्रेम की चरम परिणति तथा काम के भक्तिरूपत्व से लाभ आदि विषयों को भी इसी अध्याय में समाविष्ट कर लिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में 'संत' और 'मधुर' शब्दों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार करते हुए मधुरोपासना के स्वरूप तथा मधुर भक्ति-भावना के विभिन्न रूपों का परिचय दिया गया है। साथ ही औपनिषदिकों, पुराण-साहित्य, ईसाइयों के आध्यात्मिक परिणय, सूफियों के दाम्पत्य-भाव, आलवार, कन्नड़, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया, बाउल, सिद्ध, जैन, नाथ, सूफी, कृष्णभक्ति एवं रामभक्ति के समस्त साहित्यों में मधुर भक्तिभाव का सूत्र ढूंढ़ने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में संतों की भक्ति में निहित सुरति-निरति की कल्पना, सहज भावभक्ति, प्रेमलक्षणा भक्ति, संत-साधना के विषयालम्बन निर्गुण राम, आश्रयालम्बन भक्त-भामिनी अथवा जीवात्मा-रूपी सुन्दरी, मधुराभक्ति की संयोगात्मक भक्ति में संसार-रूपी नैहर से आत्मा-रूपी वधू का गौना, नववधू के परिधान, सखी द्वारा नववधू का उद्बोधन, आत्मा-परमात्मा का प्रणय-विलास आदि तथा मधुर भक्ति की वियोगात्मक भक्ति में प्रवर्तक दशा, साधक दशा, महाभाव-दशा, विरहभेद : पूर्वराग, प्रवास-विरह, विरह की अन्तर्दशाओं आदि का दिग्दर्शन कराना ही हमारा ध्येय रहा है।

घरेलू झंझटों के कारण जब भी मैं अपने शोधकाल में संग्रहित सामग्री को शोध-प्रबन्ध का रूप देने में उदासीन और हतोत्साह होने लगती तो मेरे शोध-निर्देशक डॉ० तिवारी मुझमें आत्मविश्वास जागृत कर उत्साह के साथ निरन्तर कार्य करने एवं विषय को गहराई से समझने की प्रेरणा देते। अपनी स्वभावगत सरलता एवं शालीनता द्वारा प्रस्तुत प्रबन्ध के रचनाकाल में उन्होंने जो सहायता प्रदान की है, उसके लिए उनके प्रति आभार मात्र व्यक्त कर मैं उऋण नहीं हो सकती। हिन्दी भक्ति-साहित्य पर विभिन्न दृष्टियों से विद्वानों ने प्रचुर कार्य किया है, किन्तु प्रस्तुत समस्या से सम्बद्ध विवेचन अधिक नहीं है। फिर भी अपने इस अध्ययन के उपक्रम में जिन विद्वानों की पुस्तकों से मुझे सहायता मिली है, उनके प्रति निष्ठापूर्वक अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

शोधकार्य के लिए अपने विषय से सम्बन्धित सामग्री का चयन करने में हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय के जिन कार्यकर्ताओं ने निःस्वार्थ भाव से सुख-सुविधाएँ दीं, उन सबके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। शोधकार्य करते समय मेरे पति श्री रमेशचन्द्र तथा अबोध शिशु हेमन्त एवं मधुर ने जो सहयोग दिया, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

इस विषय का अध्ययन करने वाले विद्वानों एवं अनुसन्धित्सुओं को प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से यदि थोड़ी भी उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगी। वस्तुतः वही इसके वास्तविक मूल्यांकन के अधिकारी भी हैं।

—प्रवेश विरमानी

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

उत्तर मध्ययुगीन परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति

मुगल शासन का परवर्ती युग सन्त-साहित्य का उत्तर मध्य युग (१७वीं-१८वीं शताब्दी) है। इसमें शाहजहाँ के शासन काल (सन् १६२६-१६६६ ई०) के इकतालीस वर्ष, औरंगजेब की शासनावधि (१६५८-१७०७ ई०) के पचास वर्ष, तत्पश्चात् मुअज्जम, जहाँदारशाह, फर्रुखसियर, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलमगीर द्वितीय तथा शाहआलम जैसे अक्षम उत्तराधिकारियों का १०० वर्षों का शासन काल सम्मिलित है। अन्तिम सौ वर्ष तो चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके विनाश का इतिहास है।

असहिष्णु मुगल राजतन्त्र—जहीरुद्दीन बाबर ने पानीपत के युद्ध में दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को हराकर उत्तरी भारत में मुगल साम्राज्य स्थापित किया। उसका पुत्र हुमायूँ १५३० ई० में गद्दी पर बैठा, किन्तु १५४० ई० में अफगान नेता शेरशाह सूर ने उसे हराकर अपना राज्य कायम किया। हुमायूँ ने १५५५ ई० में लौटकर फिर अपने राज्य को जीता। लेकिन अगले ही वर्ष उसकी मृत्यु हो गई और उसका यशस्वी पुत्र अकबर राज्यारूढ़ हुआ। अकबर ने पंजाब में सिकन्दरसूर, दिल्ली में हेमू और चुनार में अदली से लोहा लिया और ग्वालियर, मालवा, गोण्डवाना, चित्तौड़, रणथम्भोर, कालिंजर, गुजरात, सूरत, बिहार, बंगाल, काबुल, यूसुफजई, कश्मीर, सिन्ध, उड़ीसा, बरार, गाविलगढ़ और नर्नाला, अहमदनगर, असीरगढ़ को जीतकर सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की। जिसका स्वर्णकाल १७०७ ई० पर्यन्त अर्थात् औरंगजेब की मृत्यु तक रहा।[1]

औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त तो स्थिति पूर्णरूप से शोचनीय हो गई। उसके सब उत्तराधिकारी असमर्थ, विलासी और अयोग्य निकले। मुगल राज्य-व्यवस्था में जहाँ सम्राट् के व्यक्तित्व में ही समस्त शक्तियाँ निहित रहती थीं। इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने से अनेक प्रदेशों के शासक जो पहले से ही सिर उठा रहे थे; वे

---

१. बुद्ध प्रकाश—'भारतीय धर्म एवं संस्कृति', पृ० १६४

पूर्णतया स्वतन्त्र हो गए। आगरा में जाट तथा राजस्थान में राजपूत विद्रोह करने पर तुल गए।

औरंगजेब के पाँच पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा सुल्तान मुहम्मद सन् १६७६ ई० में मर चुका था। यह पुत्रविहीन था। अकबर ईरान भाग गया था और सन् १७०६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। मुअज्जम, आजम तथा कामबख्श तीन पुत्र अभी जीवित थे और औरंगजेब की मृत्यु के समय वे क्रमशः काबुल, गुजरात तथा बीजापुर के सूबेदार थे। औरंगजेब को पूर्णतः ज्ञात था कि उसके तीनों पुत्रों में भी उत्तराधिकार के लिए युद्ध होना अवश्यम्भावी है। अतः इस विरोध से बचने के लिए उसने सम्पूर्ण साम्राज्य को तीन भागों में विभाजित कर दिया था, जिसके अनुसार दिल्ली एवं ग्यारह उत्तरी सूबे मुअज्जम को; आगरा, मालवा, गुजरात आजम को तथा बीजापुर, हैदराबाद कामबख्श को मिलने चाहिए थे। पर सदियों से उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करने की परम्परा कैसे मिटाई जा सकती थी। परिणामस्वरूप मुअज्जम ने अपने दोनों भाइयों आजम तथा कामबख्श की हत्या कर दी। स्वयं बहादुरशाह के नाम से सिंहासनारूढ़ हो गया।

बहादुरशाह के चार पुत्र थे। उसकी मृत्यु के बाद चारों भाइयों में साम्राज्य के लिए संघर्ष हुआ। जहाँदारशाह अपने तीनों भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठा। यह अयोग्य शासक था अतएव सरदार उससे सदैव अप्रसन्न रहते थे। मौके का लाभ उठाकर जहाँदारशाह के भतीजे फर्रुखसियर ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। फर्रुखसियर के दो सैयद भाई अब्दुल्ला खाँ और सैयद हुसैन से उसको सहायता मिल रही थी। अन्त में जहाँदारशाह पकड़ा गया तथा दिल्ली के किले में गला दबाकर मार डाला गया। इस प्रकार एक वर्ष राज्य करने के बाद १७१३ ई० में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

अब फर्रुखसियर बादशाह हुआ। पर, इसका शासन भी असन्तोषजनक था, क्योंकि सैयद उस पर अपना अंकुश रखना चाहते थे और वह बार-बार उनके प्रभाव से मुक्त होने तथा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को उभारना चाहता। इस कशमकश से उसका पीछा नहीं छूटा और अन्त में उसे पदच्युत होकर हत्या का शिकार होना पड़ा।[२]

अतः उत्तर मध्ययुगीन मुगल शासन काल में राजनीतिक विशृंखलता एवं अस्थिरता का तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि राजनीति और समाज अन्योन्याश्रित हैं। अतः सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि

२. गोरखनाथ चौबे—'मुगल भारत', पृ० १९९

निर्धारित करने के लिए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की समीक्षा भी अपेक्षित है ।

सामाजिक परिस्थिति

मुगल काल में समाज सामन्तवादी आधार पर संगठित था, जिसमें बादशाह सर्वप्रधान था । बादशाह के नीचे शासकीय सामन्त थे, जिनके विशिष्ट अधिकार, सुविधाएँ एवं सम्माननीय पद होते थे । यह सामन्त वर्ग इच्छानुकूल शासन चलाता था । इन सामन्तों में विभिन्न श्रेणियाँ व स्तर थे । यद्यपि सामन्तवाद में विदेशी तत्त्व भी सम्मिलित थे, परन्तु किसी को भी धन-द्रव्य बाहर ले जाने की आज्ञा नहीं थी । सामन्तों के नीचे छोटा और मितव्ययी मध्यम वर्ग था और उसके नीचे निम्न वर्ग था ।

सामन्त लोग धन, द्रव्य और सुख-सुविधाओं में डूबे रहते थे और धनाढ्य लोग अपने पास साधनों की प्रचुरता के कारण भोग-विलास, ऐश्वर्य और मद्यपान में संलग्न रहते थे । मुगल पदाधिकारी भी आमोद-प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते थे । भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राजदरबार और मुगल युग के सम्मान के लिए एक आवश्यक वस्तु थी । उच्च वर्गों के वस्त्र, भोजन और जीवन-निर्वाह एवं रहन-सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी । जिससे तीनों वर्गों—धनवानों, सामन्तों तथा साधारण—के जीवन-स्तर में अत्यधिक अन्तर होना स्वाभाविक था । प्रथम दो वर्गों में भोग-विलास की अधिकता थी । अतः बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियंत्रित और विलासपूर्ण होता था और अमीर-उमरा लोग इस क्षेत्र में अपने-अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे । न केवल मुगल बादशाह, अपितु अमीर, उमराओं के भी बड़े-बड़े हरम (अन्तःपुर) होते थे जिनमें सैकड़ों-हजारों स्त्रियाँ निवास करती थीं ।[3] अतः उच्च वर्ग अत्यधिक विलासपूर्ण हो चला था तथा विचार-संकीर्णता उस वर्ग की प्रवृत्ति बन गई थी जो साहित्य तथा कलाओं में उन्हीं की प्रतिच्छाया के रूप में कला-कोविदों द्वारा प्रकाशित की जा रही थी । इस प्रकार विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है । मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-मोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गई ।[4] इस युग के समस्त भौतिक साधन शृंगार तथा विलास के

---

३. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास', भाग २, पृ० ६८३

४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य', पृ० २८७

उपकरण जुटाने में लगे हुए थे जिससे सर्वसाधारण का जीवन अत्यधिक विक्षुब्ध हो चला, क्योंकि राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग दरबारी वैभव की विलास-प्रियता की भेंट चढ़ जाता था। जिससे दरबारी वैभव की इस विलासितापूर्ण आनन्दयोजना का मूल्य सर्वसाधारण अपने जीवन के टुकड़ों से चुकाते चले जाते थे। इनको तन ढँकने के लिए कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त होता था।[५] अतः निर्विवाद रूप से सत्य है कि इस समय के समाज का सम्पन्न वर्ग अपर वर्ग का शोषण अवश्य ही करता था।[६] अनियन्त्रित सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए विशाल मुगल सेना भी सफल न हो सकी। फलतः राष्ट्र की आर्थिक शक्ति नष्ट हो गई और मुगल सम्राट् दिवालिये हो गए। अब राष्ट्र की पूंजी को हड़प जाने की होड़ मुगल शासकों में लगी। यह उपकरण उस समय तक चलता है जब तक कि देश अंग्रेजों के अधीन दासता की शृंखलाओं में मजबूती से न जकड़ा गया। अतः मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया में विलासिता धीरे-धीरे नग्न रूप धारण करती चली गई।

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य—भक्तिकालीन समाज में हिन्दू-मुस्लिम दो वर्ग प्रमुख थे। जिसमें प्रधानता मुसलमानों की थी, जिससे सामाजिक वातावरण का रूप क्रमशः अधिकाधिक मुसलमानी ही बनता जा रहा था। हिन्दू-मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था अथवा दुर्व्यवहार से असन्तुष्ट रहने पर कभी-कभी बहुत से हिन्दुओं को आपसे आप धर्मान्तरित होने का अवसर मिल जाता था। ऐसे लोग जब कभी मुस्लिम शासकों की कृपा दृष्टि के भागी बन जाते थे तो ये अपने पूर्व धर्म वालों पर प्रायः अत्याचार करने लग जाते थे। इन दिनों दास-प्रथा भी प्रचलित थी। मुहम्मद बिन तुगलक के लिए कहा जाता है कि उसने चीन सम्राट् के यहाँ भारत के काफिरों में से एक सौ पुरुष दास तथा इसी प्रकार एक सौ स्त्री दासियों को जो कदाचित् गायिकाएँ भी थीं अपनी ओर से भेंट के रूप में भेजा था। इतना होने पर भी हिन्दू परिवार में पतिव्रता और सुशीला स्त्रियों का अभाव नहीं था। पति का देहान्त हो जाने पर सती हो जाने की प्रथा का उल्लेख उस काल के अनेक विदेशी पर्यटकों ने किया है। इब्नबतूता से कुछ पहले आने वाले पादरियों ने दक्षिण भारत में उन दिनों प्रचलित इस प्रथा का आँखों देखा वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त गोण्डवाना की रानी दुर्गावती, कर्मवती, साराबाई आदि हिन्दू स्त्रियों का तत्कालीन समाज में उल्लेख हुआ। फिर भी इस वर्ग में

५. सत्यकेतु विद्यालंकार—'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास', भाग २, पृ० ४६८

६. राम अवध द्विवेदी—हिन्दी लिट्रेचर, पृ० ८४

सुधारवादी दृष्टिकोण की अत्यधिक आवश्यकता थी। इस कार्य की सम्पन्नता सन्तों की स्पष्ट वाणी द्वारा ही सम्भव थी।

मुस्लिम समाज – मुगल दरबार में प्रायः अरब, फारस तथा अन्य देशों से आए हुए विदेशी मुसलमानों को प्राथमिकता दी जाती थी तथा ये ही अधिक सम्माननीय समझे जाते थे।[७] विजेता का समाज होने के कारण मुगल सम्राट् राजाश्रयी सामन्त और रईस वर्ग का जीवन पूर्णरूप से सम्पन्न और विलासमय था। प्रत्येक मुसलमान का सामाजिक जीवन व्यक्तिगत रूप से भी कुरान के आदेशों तथा धार्मिक सिद्धान्तों द्वारा नियंत्रित बन गया था। व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक कार्य में कुरान के आदेश का समर्थन आवश्यक हो गया। मुस्लिम धार्मिक सचेतकों द्वारा तो व्यक्तिगत जीवन के साधारण से साधारण कार्य में भी धर्मानुमोदित कर्त्तव्यों का निरूपण कर दिया गया। वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह पूर्णरूप से 'कुरान' अथवा 'मुस्लिम धर्मशास्त्र' द्वारा अनुशासित थे। अपने धार्मिक विश्वासों के आधार पर शिया-सुन्नी आदि वर्गों में विभक्त थे। इनमें प्रायः संघर्ष भी हो जाया करता था।[८] हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाता था या उन्हें समूल नष्ट करने की चेष्टा की जाती थी जिसका परिणाम यह हुआ कि सन्तों ने काजी, मौलाना तथा शेख को खूब खरी-खोटी सुनाई।[९]

सामाजिक जीवन की सामासिकता—हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना के लिए अकबर का शासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। धार्मिक समन्वय अकबर के 'दीन इलाही' में आभासित हुआ था। यह धर्म जाति-पाँति की संकीर्णता, पुरोहितों के प्रभुत्व तथा बाह्याडम्बर से वंचित था। इसमें एकेश्वरवाद और सदाचार पर बल दिया गया था। औरंगजेब के समय में सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही भावना में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

---

७. डॉ० आशीर्वादी लाल—'मुगल एम्पायर' (द्वितीय संस्करण), पृ० ५२८

८. वही

९. कनफटा, सिरजटा, नखी ठाढ़े सुरी, सैयद, सेख दुरवैस हाजी
मौनी, जलसैनी, पंचअगिन, जे तापते करै उपवास, फिर खायै भाजी
जोगी औ जती, पौहारी, ऊरधमुखी, माया के कारन सब दगबाजी
दास पलटू कहै झूठ सो दूर है, एक ही सांच में राम राजी।
—पलटू साहब की बानी, भाग २, पृ० ४५-४६

सामाजिक जीवन के क्षेत्र में भी हिन्दू संस्कृति का प्रभाव मुस्लिम संस्कृति पर पड़ा। उसके भावों-विचारों पर तथा उसकी वेश-भूषा आदि पर हिन्दू प्रभाव भी देखने को मिलता है। मुस्लिम सूफी तथा सन्त कवियों ने हिन्दू चरित्रों को लेकर ही अपनी रचानायें प्रस्तुत की थीं। परन्तु यह भी सत्य है कि उस कविता में हिन्दू धर्म तत्त्व नहीं था।[१०] आचार्य चतुरसेन के अनुसार तो मुस्लिम सन्त मुसलमान रहते हुए भी हिन्दू जनता को पीर बनाना चाहते थे।[११] अतः स्पष्ट है कि मुस्लिम धर्म ने हिन्दू धर्म तत्त्व को भी अपनाने का प्रयत्न किया था। प्रतिकूल वातावरण के कारण ऐसा न हो सका। मुस्लिम हृदय न बदल सका, क्योंकि जाति-व्यवस्था तथा धार्मिक कट्टरता के कारण ऐसा होना असम्भव था। कबीर तथा अन्य सन्तों के द्वारा और बाद में बादशाह अकबर के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न भी किए गए। अकबर ने 'रामायण', 'महाभारत', 'गीता' तथा 'योग वसिष्ठ' जैसे ग्रंथों का अनुवाद फारसी में करवाया। परिणामस्वरूप फारसी के विद्वान् संस्कृत-भाषा और साहित्य के निकट आए और उनके विचार अधिक उदार हुए। अकबर की धार्मिक उदार दृष्टि के परिणामस्वरूप सीकरी में इबादतखाना की स्थापना हुई। बादशाह ने जोधाबाई से विवाह कर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य द्वारा एक सम्मिलित भारतीय समाज तथा सामासिक संस्कृति स्थापित करने का प्रयतन किया।

वास्तुकला में भी भारतीय तथा ईरानी शैलियों का सुन्दर समन्वय हुआ था, जिसका चरमोत्कर्ष अकबर तथा शाहजहाँ के समय में निर्मित इमारतों में दृष्टि-गोचर होता है। चित्रकला के क्षेत्र में भी भारतीय तथा विदेशी चित्रकलाओं की शैलियों का समन्वय हुआ। रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और शिष्टाचार में भी हिन्दू-मुस्लिम एक दूसरे से प्रभावित हुए। स्त्रियों के आभूषण भी प्रायः दोनों ओर समान थे। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के त्योहारों तथा पर्वों को मनाने लगे थे। सिराजुद्दौला तथा मीरजाफर अपने इष्ट-मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ होली खेलते थे और दिल्ली के दरबार में तो सन् १८२५ तक दुर्गा-पूजा का उत्सव मनाया जाता था। 'दौलत राव' सिंधिया अपने अधिकारियों सहित मुसलमानों के समान हरे वस्त्र पहन कर मुहर्रम के समारोह में भाग लेते थे।[१२]

१०. आचार्य चतुरसेन—'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास', पृ० २१७

११. वही

१२. बी० एन० लूनिया—'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास', पृ० ३८०

स्पष्टतः समन्वय की बलवती लहर दोनों धर्मों की सामासिक संस्कृति के स्थापन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी ।

आर्थिक परिस्थिति

मानव प्रकृति से ही अर्थप्रिय और धन में लिप्त रहने वाला प्राणी है । मध्य युग का उत्तरार्ध दरबारी सभ्यता, सामन्ती सभ्यता से अभिशप्त था । उस युग में धन के आधार पर मानव ने मानव का भली-भाँति शोषण किया । शासन द्वारा नित्य नये-नये करों की व्यवस्था की जाती थी । कबीर के समकालीन शासक सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं पर अनेक कर लगाये थे । सिकन्दर लोदी से लेकर बहादुरशाह तक दरबारी शान-शौकत, प्रदर्शन और प्रसादों के निर्माण में जो शाही व्यय हुआ उसका स्रोत किसान, मजदूर तथा जन-सामान्य था । निम्न मजदूर वर्ग का जीवन सदैव संकटमय बना रहता था । युद्धों, करों, अकालों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि के कारण जनता का सामान्य वर्ग सदैव संकटमय जीवनयापन करता था । मानव की अर्थप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गई । धन की तृष्णा हेतु मानव अपने सहज गुणों को भूलता गया और विषमताओं को अपनाता गया । कबीर के युग में समाज असमान वितरण तथा आर्थिक विषमता से अभिशप्त था ।[१३] मलूक-दास के युग में विषम आर्थिक परिस्थितियों के कारण जहाँ जनता का एक वर्ग निर्धन था तो दूसरा वर्ग अपार धन, वैभव और सुख का आगार । किन्तु गरीब निर्धनता के अभिशाप से पीड़ित था और अमीर के पारस्परिक कलह का आधार धन था । ऐश्वर्य और वैभव की तृष्णा के लिए पुत्र पिता की हत्या करता, भाई सहोदर का वध करता था । अतः धन अविश्वास, अनास्था, अनाचार, असंगति का आधार बन गया । लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरों की भाँति इन दीनों को नोंचते-खसोटते थे । कितने ही अन्यायपूर्ण कर लगाये जाते थे । जिन्हें देते-देते वे परेशान हो जाते थे ।[१४]

धार्मिक परिस्थिति

१६वीं सदी में व्यापक धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रभाव से राजपूतों का हृदय परिवर्तन करने तथा अफगानों का धार्मिक विद्वेष शान्त करने के लिए अकबर

---

१३. कुभरा एक कमाई माटी, बहु विधि जुगत बणाई ।
एकनि मैं मुकताहल मोती, एकनि व्याधि लगाई ।।
एकनि दीना पाट पटंबर, एकनि सेज निवारा ।
एकनि दीनी गरे गूदर, एकनि सेज पयारा ।।
—'कबीर ग्रन्थावली'—डॉ० पारसनाथ तिवारी, पद ६५, पृ० ३७

१४. डॉ० ओमप्रकाश शर्मा—'सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि', पृ० ७४

ने सहिष्णुता की नीति अपनायी। इन्होंने बिना धार्मिक भेद-भाव व संकीर्णता के हिन्दू-मुसलमानों व अन्य धर्मावलम्बियों के साथ समानता का व्यवहार किया। उसने जजिया तथा तीर्थयात्रा कर हटा दिए तथा हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक और नागरिक स्वतन्त्रता देकर उनको ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त भी किया। उसने 'दीन इलाही' को प्रसारित कर विभिन्न धर्मों का समन्वय कर हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को समाप्त करने का प्रयास किया। परन्तु वह अपने इस अनूठे प्रयास में सफल नहीं हो सका। अकबर के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर ने भी अकबर की उदार नीति का ही अनुकरण किया एवं इसके शासन काल में धार्मिक अत्याचार, पक्षपात, विध्वंसात्मक कार्य नहीं हुए। जहाँगीर के उत्तराधिकारी शाहजहाँ ने धार्मिक उदारता की नीति त्याग कर असहिष्णुता और धर्मान्धता की नीति अपनानी प्रारम्भ कर दी। शाहजहाँ के शासन काल में मुल्ला महमूद जौनपुरी आदि के प्रभाव से फिर कट्टरता ने जोर पकड़ा। उन्होंने १६३२ ई० में आदेश दिया कि साम्राज्य भर में अधबने हिन्दू मन्दिरों का निर्माण रोक दिया जाये, फलतः बनारस में ही ७६ अपूर्ण मन्दिर गिरा दिए गए। किन्तु इसी युग में मियाँ मीर (जन्म १५५० ई०) ने सार्वभौम मानववाद का सन्देश दिया। शेख महिबुल्लाह अलाहबादी (१५८७-१६४८ ई०) ने अद्वैतवाद का सहारा लेकर यह घोषणा की कि धर्म हिन्दू और मुसलमानों में भेद करने की अनुमति नहीं देता और शेख सरमद ने मन्दिर और मस्जिद, काबा और गिरजा सबको बेकार बताते हुए, भगवान् के सर्वव्यापी प्रेम-रूप का निरूपण किया। स्वयं शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह (१६१५-१६५९ ई०) ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटने के लिए आध्यात्मिक एकता और दार्शनिक समन्वय का सेतु बनाने का प्रयास किया। उन्होंने सब धर्मों के ग्रन्थ पढ़े और उनके आचार्यों से सम्बन्ध स्थापित किया। उन्हें सब धर्मों में जिस मौलिक एकता का साक्षात्कार हुआ उसका निरूपण उन्होंने अनेक ग्रन्थों में किया है।[१५]

सन्तों की परम्परा, भक्ति-आन्दोलन और समन्वय व सहिष्णुता की भावना—मध्यकाल में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। भौतिक जीवन की इस विक्षुब्धता के कारण सारे समाज में धार्मिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई थी। पार्थिवता और ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण में मध्य युग के समय की धार्मिकता को रीति युग में विवर्ण कर दिया था। वास्तव में धर्म इस युग में आकर धर्माभास मात्र रह गया था।[१६] ऐसे

१५. बुद्ध प्रकाश—'भारतीय धर्म एवं संस्कृति', पृ० १७०
१६. डॉ० नगेन्द्र—'रीति काव्य की भूमिका', पृ० १६५ तथा 'देव और उनकी कविता', पृ० ८०

ही समय सुल्तानों के शासन काल में विभिन्न सन्त रामानन्द, रामानुज, कबीर, चैतन्य; एकनाथ आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इन संतों ने समाज में ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेद-भाव का तथा बाह्याडम्बर का विरोध किया। मुस्लिम शासन से त्रस्त हिन्दू जनता को भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग प्रदर्शित किया।

इन संतों ने केवल बाह्याडम्बर का विरोध किया, अन्य किसी मत, सम्प्रदाय, धर्म या जाति का नहीं। साथ ही निष्काम कर्मण्य जीवन के माध्यम से ज्ञानाधृत अनन्य एवं अनवरत भक्ति की स्थापना भी की। धर्म के वास्तविक रूप की प्रतिष्ठा सत्य, अहिंसा तथा मानव-मानव की एकता के सिद्धान्त के प्रतिपादन एवं बाह्याडम्बर के विरोध के लिए जो संघर्ष कबीर को करना पड़ा वह असाध्य है। स्पष्टवादिता ही उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग थी। इन्होंने ब्राह्मण तथा तुर्क दोनों को ही ललकारा है।[१७] संत जगजीवन ने भी तत्कालीन समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, कुरीतियों और ढोंगी साधु, सन्तों, शाक्तों, कथा-कीर्तन के व्यापारियों, मठाधीशों आदि के कुकृत्यों का खुला चिट्ठा सबके सम्मुख रखा।[१८] बाह्याडम्बर के विरोध के साथ-साथ पलटू ने आन्तरिक शुचिता पर बहुत बल दिया है।[१९] दोनों वर्गों की सीमा धार्मिक बाह्याचारों तक ही सीमित हो गयी और धर्म के नाम पर दोनों में संकुचित दृष्टिकोण की प्रधानता हो चली। एक वर्ग सन्तों और महात्माओं को सम्मान की दृष्टि से देखता था तो दूसरा पीर-पैगम्बरों की पूजा करता था। एक मूर्तिपूजक था तो दूसरा समाधि-मूलक। अन्धविश्वासों की जड़ें दोनों में इतनी गहरी थीं[२०] कि कट्टर औरंगजेब

---

१७. जे तूँ बांभन बभनीं जाया, तौ आंन बाट होइ काहे न आया।
जे तूँ तुरुक तुरुकिनी जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूँ न कराया॥
—'कबीर ग्रन्थावली'—डॉ० पारसनाथ तिवारी, पृ० १०६

१८. माला मुद्रा भेष किये बहु, जग मरमोधि पुजावहिं,
जहँ तहँ आये सो सुधि नाँहि, झगरे जनम गँवावहि।
—सन्त सुधा सार (जगजीवन साहब), खण्ड २, पृ० ५८

१९. पलटू तन करु देवहरा, मन करु सालिगराम।
मन करु सालिगराम, पूजते हाथ पिराने॥
—पलटू साहब की बानी, भाग १, दोहा २१२, पृ० ९५

२०. वै पूजैं पत्थर को कबर वे पूजते, भटक कै मुए दै सीस मारैं॥
दास पलटू कहे साहिब है आप में, आपनी समझ बिनु दोऊ हारैं॥
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, दो० ९९, पृ० ४६

भी पैगम्बर मुहम्मद के चरण चिन्हों और बालों की परिक्रमा 'जिन्दा पीर' होने के नाते अत्यन्त श्रद्धापूर्वक करता था। अतः धार्मिक दृष्टि से पूरा समाज रूढ़िवादिता की जंजीरों से बँधा हुआ था।

सांस्कृतिक परिस्थिति

मुगलों का राज्य काल निश्चिय ही, स्थापत्य कला का स्वर्णयुग था, क्योंकि इस युग में कलाओं की प्रभूत प्रगति हुई। कला प्रेमी मुगल बादशाहों ने ईरानी और हिन्दू शैली के समन्वय से विकासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन चित्रकला, स्थापत्य तथा ललित कलाओं में देखी जा सकती है।

(क) स्थापत्य कला

अकबरकालीन स्थापत्य— मुगल शैली के स्थापत्य की शुरुआत अकबर के शासन-काल से हुई। उसे भवन-निर्माण की बड़ी लालसा रहती थी। अबुलफजल ने ठीक ही लिखा है—"शाहंशाह भव्य भवनों की योजनाएँ बनाते हैं और अपने मस्तिष्क तथा हृदय की रचना को पाषाण तथा मिट्टी के वस्त्र पहनाते हैं।" फर्ग्युसन का कथन है कि फतहपुर सीकरी बड़े आदमी (अकबर) के मस्तिष्क का दर्पण है।

अकबर ने अनेक दुर्ग, राज-प्रासाद, आमोद-प्रमोद के भवन, स्तम्भ, सराय और शालाएँ, तालाब तथा कुएँ आदि बनवाये। फतहपुर सीकरी स्थापत्य कला का एक अच्छा नमूना है। जोधाबाई का महल तथा दो अन्य भवन जो संभवतः उसकी रानियों के निवास-स्थान थे, हिन्दू रचना-पद्धति पर बने हुए हैं। फतहपुर सीकरी की शान दीवानेखास, जामा मसजिद, बुलन्द दरवाजा, पंचमहल, बीरबल का महल, आमेर की राजकुमारी का निवास-स्थान, सुनहला महल आदि स्थापत्य के अनोखे नमूने हैं।

जहाँगीरकालीन स्थापत्य— अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर को स्थापत्य कला से उतना प्रेम नहीं था जितना कि चित्रकला से। इसके शासनकाल में अकबर का मकबरा तथा इमारत, नूरजहाँ के पिता एत्मादुद्दौला का मकबरा, जहाँगीर का मकबरा आदि बने। जहाँगीर का मकबरा नूरजहाँ ने बनवाया था।

शाहजहाँकालीन स्थापत्य—शाहजहाँ मुगल शासकों में स्थापत्य कला का सबसे बड़ा उपासक और पोषक था। उसे भवन-निर्माण का बहुत अधिक शौक था। उसने संगमरमर तथा विविध प्रकार के रंगीन पाषाणों का उपयोग कर स्थापत्य कला के सौंदर्य को चार चाँद लगा दिया। सोने के रंग का मुक्त प्रयोग, नक्काशी की सूक्ष्मता तथा रत्नों व मणियों का कलापूर्ण जड़ाव शाहजहाँ की इमारतों में विलक्षण है। सन् १६३८ ई० में शाहजहाँ ने दिल्ली में एक नवीन दुर्ग बनवाया जो आज वहाँ लाल किले के नाम से प्रख्यात है। वहाँ एक नगर

भी बसाया गया जिसे शाहजहाँनाबाद कहा गया। इस दुर्ग में शाहजहाँ ने दीवान-ए-आम और दीवान-ए-खास, रंगमहल आदि का निर्माण करवाया। लाल किला के सामने कुछ दूर पर जामा मसजिद है जो शाहजहाँ के काल की अन्य कृति है।

आगरा के दुर्ग में शाहजहाँ ने मोती मसजिद और मुसम्मन बुर्ज का निर्माण करवाया। यहीं एक प्रसिद्ध इमारत जामा मसजिद है जिसे मसजिदें जहाँ-नामा भी कहा जाता है। परन्तु शाहजहाँ तथा मुगलकाल की सर्वोत्कृष्ट कृति आगरा का ताजमहल है जिसे बादशाह ने अपनी बेगम मुमताज महल की स्मृति में बनवाया था। यह सौन्दर्य, अलंकरण और कला की दृष्टि से अद्वितीय इमारत है। आज भी विश्व की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में इसकी गणना होती है।

औरंगजेबकालीन स्थापत्य—औरंगजेब कट्टर सुधारवादी संकीर्ण हृदयी बादशाह था। इसने स्थापत्यकला को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा भवन-निर्माण कार्य बंद कर दिया था। फिर भी दक्षिण भारत में दौलताबाद के समीप औरंगाबाद में अपनी प्रिय बेगम औरंगाबादी का मकबरा बनवाया। इसके शासन-काल में दो प्रसिद्ध मसजिदें निर्मित हुईं—प्रथम मसजिद बादशाही मसजिद है जो लाहौर में स्थित है, द्वितीय काशी विश्वनाथ मन्दिर के भग्नावशेषों पर बनी हुई है। कला की दृष्टि से इन इमारतों का स्थान निम्नकोटि का है। इसके पश्चात् स्थापत्य कला को फिर पनपने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि मुगल राज्याश्रय के अभाव में यह कला धीरे-धीरे लुप्त होती चली गई।

(ख) चित्रकला

अकबरकालीन चित्रकला—अकबर ने ईरान के मीर सैयद अली तबरेजी तथा ख्वाजा अब्दुस्समद चित्रकारों से चित्रकला सीखी थी। अतः इन्होंने चित्र-कला को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, इसके संरक्षण में सौ से अधिक चित्रकारों ने ख्याति प्राप्त कर ली थी तथा अल्पप्रतिभा वाले कलाकारों की संख्या सैकड़ों से भी आगे बढ़ गयी थी। अकबर ने चित्रकला को धार्मिक रूप देने का प्रयास किया था, क्योंकि चित्रकार के पास ईश्वरीय सत्ता से साक्षात्कार करने के विचित्र साधन हैं। परन्तु अकबरकालीन चित्रकला जनता की कला बनने की अपेक्षा दर-बार की कला बनकर रह गयी। बादशाह, राजसभा तथा राजाज्ञाओं का चित्रण ही इस समय की चित्रकला का प्रधान विषय था।

जहाँगीरकालीन चित्रकला—जहाँगीर के शासन काल को चित्रकला का स्वर्णयुग माना जाता है। बादशाह स्वयं कुशल चित्रकार था और उसे चित्रकला के प्रति विशिष्ट अनुराग था। वह प्रसिद्ध चित्रकारों के चित्र तथा ऐतिहासिक चित्रों का श्रेष्ठ संग्रहकर्ता, पुरस्कर्ता, श्रेष्ठ समीक्षक और पारखी भी था।

इसके शासन-काल में धार्मिक चित्रों का अभाव रहा एवं मनुष्यों के जो चित्र बनाए गए वे वास्तविक थे, काल्पनिक नहीं। कलाकार जो अपनी आँखों से

देखते थे, उसे ही अपनी तूलिका द्वारा व्यक्त कर देते थे। प्राकृतिक चित्र सूक्ष्म भावपूर्ण एवं उच्चकोटि के थे। साथ-साथ व्यक्ति, युद्धों और आखेट के चित्र भी सजीव और सुन्दर हैं।

जहाँगीर के दरबार में हिन्दू तथा मुस्लिम, देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के चित्रकार थे। इसके शासन काल में मुगल-चित्रकला अपने स्वर्णिम शिखर अर्थात् चरमोत्कर्ष पर थी, परन्तु इसके उत्तराधिकारियों के काल में मुगल चित्र-कला को उतना उदार और व्यापक राज्याश्रम प्राप्त नहीं हुआ, फलस्वरूप उसका पतनोन्मुखी होना स्वाभाविक था। इस प्रकार मुगलकालीन चित्रकला की आत्मा सम्राट् जहाँगीर के साथ- ही-साथ लुप्त हो गई थी।

शाहजहाँकालीन चित्रकला—इसे चित्रकला से अधिक प्रेम नहीं था जिससे इसके शासन काल में चित्रकला की प्रगति रुक-सी गई। मुगल राजवंश में केवल शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह चित्रकला का पोषक बना रहा। उसने चित्र-कारों को शाही संरक्षण देने का प्रयास किया, परन्तु उत्तराधिकार के युद्ध में दारा के करुण और दुःखद अन्त ने उसकी साम्राज्य और राजनीति विषयक आकांक्षाओं को ही नहीं, अपितु चित्रकला के संरक्षण को भी समाप्त कर दिया। परिणामस्वरूप चित्रकारों को सामन्तों और अन्य छोटे राजघरानों में जाकर नौकरी करनी पड़ी।

औरंगजेबकालीन चित्रकला—औरंगजेब इस्लाम का कट्टर अनुयायी था, इसलिए चित्रकला को प्रोत्साहन व राज्याश्रय देना, वह इस्लाम धर्म के विरुद्ध मानता था। उसने अपने दरबार के सभी चित्रकारों को निकाल दिया। उसे चित्रकला से इतनी अधिक घृणा थी कि उसने दक्षिण भारत के बीजापुर में असार महल के चित्रों को मिटवा दिया। मनूची के अनुसार सिकन्दरा में अकबर के मकबरे के चित्रों को भी चूने से पुतवाकर नष्ट करा दिया। उसका पुत्र शाह-जादा मुअज्जम उच्च श्रेणी का चित्रकार था। राजमहल में उसके द्वारा बनाए गए अनेक चित्र टँगे हुए थे। औरंगजेब ने एक दिन इन सब चित्रों को अग्नि में डलवाकर नष्ट करवा दिया। इतना करने पर भी चित्रकला सर्वथा लुप्त नहीं हुई थी। कुछ चित्रकारों ने शाही संरक्षण के अभाव में भी चित्रकला को जीवित रखा तथा कई ऐसे चित्र भी प्राप्त होते हैं जिनमें औरंगजेब को कुछ युद्धों में भाग लेते, युद्ध करते दिखलाया गया है। बड़े-बड़े प्रसिद्ध चित्रकार राजपूत नरेशों के दरबारों में चले गये थे जहाँ उन्होंने सुन्दर चित्र बनाए।

इस प्रकार मुगलकालीन चित्रकला अकबर की राजसभा में फली-फूली, जहाँ-गीर के समय में चरम विकास के स्तर पर पहुँची। शाहजहाँ के वैभवकाल में भी

उसका उच्चतम उत्कर्ष हुआ तथा औरंगजेब के शासन काल में वह अधोगति को उन्मुख हुई और धीरे-धीरे समाप्त हो गई।

(ग) संगीत-कला

अकबरकालीन संगीत-कला—अकबर को तो संगीत से अत्यधिक प्रेम था। उसे स्वयं संगीत की विशेषताओं का ज्ञान था और वह स्वयं नक्कारा बहुत अच्छा बजा लेता था। उसके संगीत प्रेम ने उसकी राजसभा में हिन्दू, ईरानी, तूरानी तथा काश्मीरी संगीतज्ञों को आकर्षित कर लिया था। इन कलाकारों में नर और नारी दोनों ही सम्मिलित थे। इनके दरबार में छत्तीस उच्चकोटि के गायक रहते थे। प्रसिद्ध गायकों द्वारा रागों के नवीन रूप प्रचलित किए गए। संस्कृत भाषा में लिखित संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों का, इस युग में, फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। हिन्दू मुसलमानों के संपर्क तथा विचारों के आदान-प्रदान से संगीत-कला की अपूर्व प्रगति हुई जिससे तराना, ठुमरी, गजल तथा कव्वाली आदि नवीन रागों का समारंभ हुआ।

जहाँगीरकालीन संगीत-कला— जहाँगीर स्वयं एक अच्छा गायक था। उसने अनेक हिन्दी गीतों की रचना भी की थी। 'इकबाल-नामा-ए-जहाँगीर' में उन संगीतज्ञों का उल्लेख है जिनको जहाँगीर ने राज्याश्रय दिया था। इनमें जहाँगीरदार, छत्र खाँ, परवेजदाद, खुर्रमदाद, मक्खू और हजमा प्रसिद्ध थे। सैकड़ों गायक और नर्तकियाँ रात-दिन दरबार में उपस्थित रहती थीं तथा अपनी-अपनी बारी के अनुसार नाचा-गाया करती थीं। ये लोग बादशाह तथा उसकी बेगमों को गाना सुनाने के लिए हर समय तैयार रहते थे, चाहे उन्हें किसी समय भी गाने के लिए राजमहल में बुला लिया जाए। बादशाह उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार वृत्ति भी देता था। ऐसे राज्याश्रय में संगीत की अद्वितीय प्रगति तथा अनूठा विकास हुआ। इसी समय गजल, ठुमरी; कव्वाली आदि का अधिक प्रचलन हुआ।

शाहजहाँकालीन संगीत-कला—शाहजहाँ भी अत्यंत रसिक तथा संगीत प्रेमी था। वह स्वयं कतिपय मधुर एवं सुखद गीतों का रचयिता तथा वाद्य और गेय दोनों प्रकार के संगीत का अच्छा ज्ञाता था। उसका स्वर ऐसा चित्ताकर्षक था कि अनेक शुद्धात्मा सूफी फकीर तथा संसार से संन्यास लेने वाले साधु-संत भी उसका गाना सुनकर सुध-बुध बिसार देते थे और परमानन्द में लीन हो जाते थे। इसके राज्यकाल में लाल खाँ, पंडित जगन्नाथ, सुखसेन, सूरसेन, बीकानेर का जनार्दन भट्ट, रामदास और महापात्र विशेष प्रसिद्ध थे। लाल खाँ तानसेन का दामाद था। वह ध्रुपद गाने में बड़ा निपुण था। शाहजहाँ को भी ध्रुपद राग विशेष प्रिय था। इसलिए उसने लाल खाँ को 'गुण-

समुद्र' की उपाधि से विभूषित किया था। हिन्दू गायकों में पंडित जगन्नाथ विशेष प्रसिद्ध थे। शाहजहाँ ने उसे 'पंडितराज' की उपाधि से विभूषित किया, साथ ही पुरस्कार रूपेण उसके भार के बराबर स्वर्ण उसको दान किया। तत्कालीन सुखसेन और सूरसेन दोनों ही वाद्य-कला में विशेष निपुण थे। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् संगीत-कला अवनति की ओर उन्मुख हो गई।

औरंगजेबकालीन संगीत-कला—औरंगजेब को स्वयं तो संगीतशास्त्र का ज्ञान था, किन्तु गाने-बजाने का वह सदा विरोध करता था, क्योंकि वह नृत्य तथा संगीत को अधार्मिक कृत्य समझता था। उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगाकर उसका दरबार से सर्वथा बहिष्कार कर दिया। संगीत-कला शाही-संरक्षण से विहीन हो गई। इससे सभी संगीतज्ञ निराश हो गए और मुगल दरबार से निकलकर नवाबों और हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गए। राजमहलों की बेगमों ने नाच-गाने को नहीं छोड़ा। वजीर, सामंत, सरदार, अमीर तथा धनसम्पन्न लोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से संगीत को प्रोत्साहन देते रहे। साधारण व्यक्ति भी संगीत से अपना मनोरंजन करता रहा। इससे धीरे-धीरे संगीत और नृत्य नवाबों, राजाओं और सामन्तों के आश्रय में पलने वाले उस्तादों और नर्तकियों तक ही सीमित हो, केवल विलास की सामग्री रह गया।

मुहम्मदशाह रंगीला एवं तत्कालीन संगीत-कला—औरंगजेब के पश्चात् मुहम्मदशाह रंगीला ने संगीत को प्रश्रय प्रदान कर पुनरुज्जीवित किया। हिन्दू तथा ईरानी शैलियों का सम्मिलित रूप प्रायः शृंगारिक है। मध्ययुगीन संगीत के अंतिम रचयिता श्रीनिवास ने 'रागत्व नवबोध' नामक ग्रन्थ लिखा।

दक्षिण के सुलतान भी संगीतज्ञों की एक सेना-सी रखते थे। समस्त हिन्दू राजसभाओं में संगीत जीवन का एक आवश्यक अंग माना जाता था। हिन्दू संगीत को मुख्यतः एक धार्मिक कला तथा कृत्य समझते थे। दक्षिण भारत में आज भी अनेक निपुण तथा सफल संगीतज्ञ प्रायः ब्राह्मण हैं। दक्षिण में संगीत राजा से लेकर रंक तक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। यद्यपि मुगल दरबार में संगीत को बहुत प्रोत्साहन मिला था परन्तु नृत्य तथा संगीत वहाँ एक ही स्तर की कलाएँ समझी जाती थीं, क्योंकि संगीतज्ञों में कुख्यात नर्तकियाँ भी होती थीं। अतः मुगल दरबार में संगीत मुख्य मनोरंजन का साधन था, किन्तु उसे उचित सम्मान प्राप्त न था। इनका दृष्टिकोण भावनामूलक न होकर बौद्धिक जड़वाद पर अवलम्बित था।

साहित्यिक परिस्थिति

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः समाज के धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक अवमूल्यन का सीधा प्रभाव तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी पड़ा। समाज में प्रवाहित होने वाली विलास एवं शृंगार-भावना समसामयिक साहित्य

के रग-रग में समा गई। १७वीं-१८वीं शताब्दी के मध्ययुगीन सन्त साहित्य में निम्नलिखित साहित्यिक परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं :

(अ) हिन्दी-साहित्य की रीति या शृंगार-परम्परा,

(ब) रामोपासना की रसिक परम्परा,

(स) कृष्णोपासना की रसिक परम्परा।

(अ) हिन्दी-साहित्य की रीति या शृंगार-परम्परा

शृंगार निरूपण इस युग का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। आचार्य कवियों ने भी अधिकांश स्थलों में शृंगार प्रधान पदों के ही उदाहरण दिये हैं। अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस का विवेचन अधिक मनोयोग के साथ हुआ है तथा नायिका भेद के ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप एवं चेष्टाओं आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। यह घोर विलासिता का युग था, और विलास की केन्द्र-बिन्दु थी—नारी, जिसके चारों ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे।[२१] कला का आलम्बन तथा वासनापूर्ति का माध्यम नारी का सांगोपांग चित्रण इस काल के कवियों का आदर्श बन गया। इस युग के कवियों ने भक्ति और नीतिपरक उक्तियाँ भी कही हैं, पर वे संख्या में इतनी कम हैं कि उनका महत्त्व स्वतः कम हो गया है। अधिकांश कवियों ने अपनी सारी काव्य-प्रतिभा नारी के कटि, कुच और कटाक्षों के उन्मादक चित्रण में ही लगा दी। उनकी गिद्ध दृष्टि ने वस्त्रों में लिपटे तरुणी के गदराये तन की मसृणता, कोमलता एवं सुडौलता तक झाँक ली तथा शरीर के अंग-प्रत्यग का मापन किया।

इस युग में बहुत से ऐसे कवियों की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य नारी-सौन्दर्य, उसके प्रमुख, संयोग-वियोग आदि शृंगार के विविध पक्षों का चित्रण करना था। विलास-प्रधान वातावरण ने तो अनुप्रेरक तत्त्व का काम किया। शृंगार-भावना की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर तो कवियों ने नायिका के सौन्दर्य, उसके हाव-भाव, चेष्टाओं, मुद्राओं एवं उसके वस्त्राभरणों का उल्लेख किया है तो दूसरी ओर संयोग-वियोग की दशाओं के भी मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं उद्दीपन के रूप में ऋतुओं एवं प्राकृतिक दृश्यों का आयोजन किया गया है।

संयोग शृंगार—प्रेम के दो पक्ष हैं : सुखात्मक और दुःखात्मक। प्रथम का सम्बन्ध संयोग शृंगार से तथा द्वितीय का वियोग शृंगार से है। संयोग में नायक-नायिका का रूप-सौन्दर्य, नख-शिख वर्णन, हास-परिहास आदि के चित्र सुन्दर मात्रा में वर्णित हैं जिसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

---

२१. डॉ० नगेन्द्र—'रीति काव्य की भूमिका', पृ० १६७

रूप सौन्दर्य—इस मोहक तत्त्व की शक्ति और प्रभाव की व्यञ्जना अनेक कवियों ने की है, जो नायक अथवा नायिका के वास्तविक सौन्दर्य के माध्यम से हो सकी है। इस काल के कवि केवल अंगों की स्थूलता मात्र में ही बँधकर नहीं रहे, अपितु उसके प्रभाव को अनेक रूपों में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

रूप की सार्थकता दर्शक को प्रभावित कर लेने में है। रूप वही सुन्दर होगा जो अपने आकर्षण से लोगों के नेत्र और मन दोनों को ही अपनी ओर खींच ले। स्नेहोत्पत्ति के रूप का तत्काल और सद्यः प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव दोनों ओर से अभिव्यक्त होता है।[२२] राधा और कृष्ण दोनों के हृदय में स्नेह का संचार होने लग जाता है। अन्य स्थल पर रूप-दर्शन से सदा निहारते रहने की भावना का उदय होता है। गोपी अभिलाषा करती है कि समाज, कार्य और लज्जा को छोड़कर पल-पल और घड़ी-घड़ी श्रीकृष्ण के मुख को ही निहारा करें। वह उनकी आरती उतारते रहने की अभिलाषा व्यक्त करती है।[२३]

रूप-दर्शन में उत्पन्न शारीरिक प्रभाव की व्यञ्जना की गई है। नायक अथवा नायिका के सौंदर्य को देखकर मन इतना आसक्त हो जाता है कि उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। सौंदर्य और आकर्षण के अभाव में शारीरिक परिवर्तन में स्तब्धता, विस्मय, विमुग्धता, माध्यम से देखने की भावना और अन्य अनेक शारीरिक प्रतिक्रियाओं का वर्णन लक्षित होता है।[२४]

---

२२. धोखे कढ़ी हुती पौरि लौं राधिका नन्द किशोर तहाँ दरसाने।
"बेनी प्रवीन" देखा देखी ही में, सनेह समूह दोउ सरसाने।।
—नवरस तरङ्ग (सं० कृष्णबिहारी मिश्र), छंद ४४७, पृ० ६२

२३. ऐसी मति हौंतो अब ऐसी करौं आली,
वनमाली के सिंगार में सिंगार बौई करिये।
कहै 'पद्माकर' समाज तजि काज तजि,
लाज को जहाज तजि डारि बौई करिये।।
घरी-घरी पल-पल, छिन-छिन रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारि बौई करिये।
इन्दु ते अधिक अरविन्द ते अधिक ऐसौ,
आनन गुबिन्द को निहार बौई करिये।।
—पद्माकर, 'जगद्विनोद', पृ० १४१-१४२

२४. जुरी दृष्टि सों दृष्टि दुहुन की इत उत टरत न टारी।
खैंची फिरत लोह चंबुक लौं नेकु न होत नियारी।।
सुन्दर बदन बिलोकी परसपर पलक न पलकन फेरैं।
ठाढ़े खरिक खोरि में दोऊ रसबस इकटक हेरैं।।
—बकसी हंसराज कृत 'सनेह सागर', द्वितीय तरङ्ग, छंद ४, पृ० १७

नख-शिख—नख-शिख वर्णन आंगिक सौन्दर्य का खण्ड-चित्र है। इन्हीं खण्ड-चित्रों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का एक सामूहिक चित्र प्रस्तुत होता है। इन खण्ड-चित्रों में विभिन्न अवयवों का अपना सौन्दर्य होता है। इसी से निजत्व के अस्तित्व में स्थित नख-शिख रूप इन अवयवों के खण्ड रूप चित्रों में वर्तमान सौन्दर्य एवं आकर्षण, सम्पूर्ण शरीर की अनुभूति कराते हैं। सौन्दर्य की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्येक युग के कवियों ने नख-शिख वर्णन-प्रसङ्ग में की है।

नख-शिख नाम से प्रसिद्ध अंग-प्रत्यंग वर्णन की यह परिपाटी दो रूप में दीख पड़ती है :

(अ) शिख-नख वर्णन,

(ब) नख-शिख वर्णन।

शिख-नख में शिख से पद के नखों तक का वर्णन किया जाता है। इस वर्णन में मानव को आधार बनाकर उसके अंग-प्रत्यंग का वणन होता है।

नख-शिख में पैर के नख से आरम्भ कर सिर की चोटी तक का वर्णन किया जाता है। इस शैली में ईश्वरीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने की बात कही गई है; परन्तु प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर कहा जाता है कि 'नख-शिख' में मानव के अंग-प्रत्यंग का वर्णन मिलता है, कुछ ही ग्रन्थों को शिख-नख नाम दिया है।[२५] सामान्य रूप में 'नख-शिख' द्वारा ईश्वरीय अंग-प्रत्यंग का वर्णन होना चाहिए। इस प्रकार के ग्रन्थ भी रीतिकाल में मिल जाते हैं। नख-शिख विषयक दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं :

(क) नख-शिख पर स्वतन्त्र रचनाएँ,

(ख) शृंगार वर्णन के सन्दर्भ में कतिपय विशिष्ट अंगों से सम्बन्धित रचनाएँ।[२६]

---

२५. (क) 'शिख नख'—केशवदास, नागरीदास, रस आनन्द, रसिक मनोहर, और सुजान कविकृत

(ख) 'हनुमान शिख-नख'—खुमान 'शिख-नख-दर्पण'—गोपाल कृत

—डॉ० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल—मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण-काव्य में रूप सौंदर्य, पृ० २०६

२६. (क) बलभद्र कृत नख-शिख, रसलीन कृत अंग दर्पण, शम्भु कृत नख-शिख, चन्द्रशेखर कृत नख-शिख, ग्वाल कृत नख-शिख और रंगपाल कृत अंगादर्श आदि।

(ख) मुबारक कवि कृत तिलक शतक और अलक शतक, विश्वेश्वर कवि कृत रोमावली शतक।

—डॉ० किशोरीलाल—रीति कवियों की मौलिक देन, पृ० २५४-२५५

नख-शिख के अन्तर्गत प्रत्येक कवि ने षोडशशृंगार, ग्रीवा-वर्णन, कर्ण-बर्णन, कुच-वर्णन, रोमावलि-वर्णन, कटि-वर्णन, नाभि-वर्णन, मुख, नेत्र और कटाक्ष वर्णन आदि का समावेश किया है।

हास-परिहास—हास-परिहास के अनेक चित्रों को रीतिकाल के कवियों ने जन्म दिया। इसके द्वारा वाणी में जो वक्रता आती है, उससे जो अर्थ माधुरी व्यंजित होती है, वह परिहासकर्ता के किसी अव्यक्त अभिप्राय को भी प्रकट करती है। पद्माकर के 'जगद्विनोद' में कृष्णचन्द्र किसी गोपी का वेश बनाकर उस स्थल पर गए, जहाँ कृष्ण का रूप बनाकर कोई गोपिका बैठी है। जब कृष्ण रूप गोपी, गोपी रूप कृष्ण के हाथ को मींजती है तो गोपी रूप कृष्ण कृत्रिम रूप से अपनी पीड़ा का भाव व्यक्त करते हैं। किन्तु यौन प्रवृत्तियों के विपर्यय के कारण सारा नाटकीय व्यापार एक अपूर्व सरसता में पर्यवसित हो जाता है।[२७] नायिका लज्जा के कारण अपने मुख को घूँघट से ढँककर पीठ की ओर हो गई और अपने हाथों को मींजती हुई पश्चात्ताप करने लगी तथा कहने लगी, "क्या कहूँ, ब्रह्मा ने पीठ में दृष्टि नहीं दी? उक्ति कितनो सरस और हृदयग्राही है।[२८] इसी प्रकार एक दिन राधिका अपनी सखियों के साथ संकीर्ण गली में चली जा रही थीं। राधिका के आगमन की सूचना पाकर कृष्ण दौड़ते-भागते आए और दूर से ही पुकार कर कहा—'जरा सुनिए तो आप कहाँ से आ रहीं हैं?' राधिका

---

२७. रूप रचि गोपी को गोबिन्द गो तिहाँई जहाँ,
कान्ह बनि बैठि कोउ गोप की कुमारी है।
कहै "पद्माकर" यों उलट कहै को कहा,
कसकै कन्हैया कर मसकै सु प्यारी है।
नारी तें न होत नर, नर तें न होत नारी,
बिधि के करेहूँ कहूँ काहू ना निहारी है।
काम-करता की करतूत या निहारी जहाँ,
नारी नर होत नर होत लख्यौ नारी है॥
—पद्माकर ग्रन्थावली, छंद ४३०, पृष्ठ १७२; पद्माकर पंचामृत (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), छंद ४२८, पृ० १६८

२८. खेलन को बन कुंजन में सुनि पुंज सखीन के संग गई री।
सामुहें भेंट भई ऋधिनाथ लख्यो मनमोहन मैन मई री।
छाँड़ि न लाज छपाय कै अंचल घूँघट ओट पिछारी भई री।
मींजति हाथ हिये पछितातो सुपीठि में दीठि दई न दई री॥
—सुन्दरी तिलक, छन्द ३८, पृ० ८

मुँह फेर कर उत्तर देती हैं-'आप चुपचाप चले जाइए, आप मुझे पहचानते हैं और मैं आपको पहचानती हूँ।' कितना मीठा तथा गहरा मजाक है।[२९] अतः मिलन प्रसंग में रीति कवियों ने ऐसी कलात्मक और अनुभूतियों की गहनता का समावेश किया है। उनकी यह कला उनकी अटूट साधना का सहज परिणाम थी।

उपर्युक्त प्रसंगों में संयोग के कुछ ही अंशों को देखा गया है, क्योंकि अन्य प्रसंगों का वर्णन अनावश्यक विस्तार होगा।

विप्रलम्भ शृंगार—भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगार रस की पुष्टि विप्रलम्भ द्वारा ही मानी गई है। संयोगावस्था में आलम्बन के मध्य परस्पर विचार, भावना तथा बाह्य आचारों से परिचय बढ़ता है, और विरहावस्था में उनके प्रेम की गम्भीरता और सूक्ष्मता की अनुभूति होती है। आचार्यों ने वियोग के चार भेद माने हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण। हिन्दी रीति काव्य में प्रथम तीन की अधिक चर्चा की गई है।

(१) पूर्वराग मिलन अथवा समागम से पूर्व दर्शन, श्रवणादि से नायक-नायिक के हृदय में जो अनुराग का उदय होता है उसे पूर्वराग कहते हैं। रूप-सौन्दर्य आदि का श्रवण दूत, बन्दी, सखी आदि में से किसी के मुख से सम्भव हो सकता है। दर्शन का जहाँ तक सम्बन्ध है वह इन्द्रजाल, स्वप्न, चित्र में अथवा साक्षात् किसी प्रकार हो सकता है।[३०] आचार्यों ने पूर्वराग में पाई जाने

---

२९. लागि प्रेम डोरि खोरि साँकरी ह्वै कढ़ी आई।
नेह सों निहोरि जोरि आली मन भावती॥
उतते उताल देव आए नंदलाल इत।
सौं हैं भई बाल नव लाल सुख सानती॥
कान्ह कह्यो टेरि कै, कहाँ ते आई, को हो तुम।
लागती हमारे जान कोई पहिचानती॥
प्यारी कह्यो फेरि मुख, हरि जु चलेई जाहु।
हमें तुम जानत, तुम्हें हूँ हम जानती॥
—डॉ० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल—मध्यकालीन हिन्दी कृष्णकाव्य में रूप सौन्दर्य, पृ० ३४०

३०. श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तो पूर्वरागः स उच्यते॥
श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दीसखीमुखात्।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम्॥
—विश्वनाथ कविराज—साहित्य-दर्पण (३/१८८, १८९), पृ० १०६-१०७

वाली दस काम दशाओं का उल्लेख किया है—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और तृप्ति।[३१] यहाँ पर श्रवण-दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन का विस्तृत वर्णन किया जाएगा, जो पूर्वराग के प्रमुख लक्षण हैं।[३२]

श्रवण-दर्शन—नायक के रूप-सौन्दर्य का श्रवण कर उससे साक्षात्कार करने की प्रबल उत्कंठा का अत्यंत सजीव वर्णन पद्माकर ने किया है। मतिराम की सखी ने कृष्ण के सौन्दर्य का सांगोपांग वर्णन किया, राधा को लगा जैसे वह प्रत्यक्ष ही देख रही हों। वह सखी से कहती है, हे सखी ! कृष्ण का मुख पूर्ण चन्द्र की भाँति कान्तिमान, नेत्र कमल की भाँति शोभायुक्त तथा उनका पीताम्बर विद्युत लता की तरह सुशोभित है, उनके अंग-प्रत्यंग से श्याम नीरदमाला-सी आभा निकलती है। वे कामदेव से भी अधिक मनमोहक हैं, ऐसा हृदय में निश्चित कर मानो, इस प्रकार तुमने जो कृष्ण का वर्णन अपनी वाणी के द्वारा किया मुझे लगा मानो मैं अपनी आँखों से उन्हें देख रही हूँ।[३३] उपर्युक्त सखी का वचन श्रवण कर राधा ने कल्पना में कृष्ण के रूप का साक्षात् दर्शन कर लिया, अतएव यहाँ श्रवण-दर्शन माना गया है।

चित्र-दर्शन—नायक के गुण श्रवण-दर्शन के पश्चात् नायिका उसके रूप दर्शन के लिए लालायित रहती है। सखियों द्वारा प्राप्त नायक के चित्र से

---

३१. अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥ (१९०)
—विश्वनाथ कविराज-साहित्यदर्पण (३/१९०), पृ० १०७

३२. दरसन अलंबनहि मैं कवि "मतिराम" सुजान।
श्रवन, स्वप्न अरु चित्र त्यों, पुनि प्रत्यच्छ बखान ॥ (२७५)
—मतिराम—'रसराज' (सं० रामजी मिश्र), पृ० १५४

३३. (क) राधिका सों कहि आई जु तूं सखि साँमरे की मृदु मूरति जैसे।
ता छिन तें पद्माकर ताहि सुहात कछू न बिसरति बैसी ॥
मानहु नीर भरी घन की घटा आँखिन में रही आनि उनैसी।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु विलोकहिगी तब होइगी कैसी ॥
—पद्माकर ग्रन्थावली (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) छंद ३२७, पृ० १५०-१५१

(ख) आनन पूरनचन्द लसै अरविन्द बिलास विलोचन पेखे।
अम्बर पीत हँसै चपला छवि अंबुद मेचक अंक उरेखे ॥
कामहुँ ते अभिराम महा "मतिराम" हिये निहचै करि लेखे।
तैंवर बैठे निज बैननि सौं, सखि 'मौं' निज नैननि सो मनो देखे ॥
—मतिराम—'रसराज', छन्द २७६, पृ० १५५

प्रेम की तन्मयता अधिक सान्द्र एवं उत्कट हो जाती है। हिन्दी रीति कवियों ने इस सन्दर्भ में नूतन एवं मौलिक उक्तियों की उद्‌भावना की है। 'सुन्दरी-सर्वस्व' में चित्र दर्शन का भाव स्वाभाविक और हृदय को छू लेने वाला है। राधा ललिता के यहाँ निमन्त्रण में गईं किन्तु वहाँ दीवाल पर प्रियतम की चित्रित मूर्ति देखकर उन्हें अतिशय अनुराग उत्पन्न हुआ; किन्तु समीपस्थ सखियों को देखकर उनका हृदय लज्जा में पूर्ण निमज्जित हो गया।[३४] अनुभावों के ऐसे स्वाभाविक विधान के कारण छन्द में पूरी सजीवता आ गई है।

स्वप्न-दर्शन—स्वप्न-दर्शन विषयक नाना प्रकार के उत्तम छन्द हिन्दी रीति-काव्य में मिलते हैं। द्विज मन्नालाल ने स्वप्न विषयक भावात्मक चित्र के विभिन्न अवयवों के संघटन में अपने अतिरिक्त कौशल का प्रमाण दिया है। वियोगिनी नायिका प्रियतम का स्मरण करती हुई सो गई। सुप्तावस्था में वह स्वप्न देखती है कि आकाश में गरजने वाली घटाएँ छायी हुई हैं। पानी की झीनी बूंदों की झड़ी लगी हुई है, इसी मध्य घनश्याम ने उसे झूलने के लिए कहा। इस बात को सुनकर नायिका अत्यन्त प्रसन्न हुई और वह उठने ही वाली थी कि उसकी निगोड़ी नींद उठ गई। अतः स्वप्नावस्था में उसके भाग्य जागकर भी जाग्रतवस्था में सुप्त हो गए। आँख खोलने पर वह देखती है कि वहाँ पर न स्वप्नगत घन ही हैं और न घनश्याम ही, बल्कि स्वप्न में दृष्टिगत होने वाली बूंदें उसकी आँखों के आँसुओं में परिणत हो गईं।[३५] स्वप्नावस्था

---

३४. न्यौते गई वृषभान लली ललिता के जहाँ पत्रि प्रीति पढ़ी है।
भीतमै पीतमै देखि लिखे नवला के हिये नव लाज बढ़ी है॥
आँखिन भीजी सी अंग पसीजीं सी छोभन छीजी सी मोह मढ़ी है।
चौंकी चकी ससकी न सकी चितैं मित्र की मूरति चित चढ़ी है॥
—सुन्दरी सर्वस्व (सं० द्विज मन्नालाल), छन्द ४, पृ० १८६

३५. छहरि-छहरि झीनी बूंदन गिरत मानो,
घहरि-घहरि घटा घेरी है गगन में।
आय कही कान्ह मो सों चलो आप झूलिबे कों,
फूली न समात भई ऐसी हौं मगन मै॥
चाहती उठ्यो सो उठी गई सो निगोड़ी नींद,
सोच गये भाग जागि मेरी वा जगन मै।
आँखि खोलि देखौं तौ न घन हैं न घनश्याम,
वेई छाई बूंदै मेरे आँसू ह्वै दृगन में॥
—शृंगार सुधाकर (सं० द्विज मन्नालाल) छन्द ६८, पृ० २६७

में ही सखियों द्वारा पत्र मिलने पर जैसे ही उसे पढ़ने बैठती है, वैसे ही उसकी निद्रा खुल जाती है। इसमें कवि के स्वतन्त्र प्रतिमा के उन्मेष की पूर्ण झलक मिलती है।[३६]

प्रत्यक्ष-दर्शन—प्रत्यक्ष-दर्शन के वर्णन में दो दृष्टियाँ अधिक स्पष्ट हैं :

(अ) चित्रमयता, (ब) भावात्मकता।

प्रथम का विधान ऐसे स्थलों पर अधिक हुआ है, जहाँ प्रिय के दर्शन में पारिवारिक मर्यादा और लोक-लज्जा अधिक बाधक हुई है। ऐसी स्थिति में प्रिय-दर्शन की पिपासा से व्यग्र नायिकाएँ कभी छिपकर प्रिय का दर्शन कर लें तो कर लें, अन्यथा ज्येष्ठा नायिकाओं के मध्य बैठी हुई नायिका शीशे की अँगूठी में ही प्रिय का दर्शन कर लेती हैं।[३७] इसी प्रकार के भाव बिहारी में भी प्राप्त होते हैं।[३८] यहाँ तक कि नायिका अपनी सास की पुतली में प्रतिबिम्बित नायक के स्वरूप का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझती है।[३९]

द्वितीय भाव विधान के स्थलों में कलात्मक उत्कर्ष को उभारने का उतना प्रयास नहीं किया गया, जितना मानव-हृदय के सहज उद्‌गारों को अधिकाधिक

---

३६. बूझे समाचार न मुखागत संदेसो कछू,
कागद लै कोरौ हाथ दयौ लैकें सखियाँ।
छतियाँ सों पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिबे कों,
जौलौं खोलों खाम तौलों खुलि गई अँखियाँ ॥
—भिखारीदास कृत 'काव्य निर्णय', (सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी)

३७. जेठी बड़ीन में बैठी बहू उत पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसी की मुदरी दृग दै पिय को प्रतिबिम्ब लखै दुखमोचन ॥
—देव—'भवानी बिलास', सवैया ४१, पृ० ३५

३८. कर-मुँदरी की आरसी, प्रतिबिम्बित प्यौ पाय।
पीठि दिये निधरक लखै, इकटक डीठि लगाय ॥
—'बिहारी बोधिनी' (टी० लाला भगवानदीन), दोहा ३५३
पृ० १५३।

३९. बैठी हुती गुरुमण्डली मैं मनमोहन को न बिसारत।
त्यों नन्दराम जू आइ गये बन ते तहाँ मोरपखा सिरधारत ॥
लाज ते पीठि दै बैठि बहू पति मातु की आँखि ते आँखि न टारत।
सासु की नैनन की पुतरीन में पोतम के प्रतिबिम्ब निहारत ॥
—शृंगार दर्पण, छन्द ३०

प्रभावित करने का। सखियों के साथ चलने पर गोविन्द के रूप की झाँकी प्राप्त की। आज की सुन्दर छवि को देखकर वह इतनी तृप्त हुई कि अब देखने को कुछ भी शेष नहीं रह गया।[४०] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस छन्द को सन्तोष भाव का एक उत्कृष्ट निदर्शन माना है।[४१]

(२) मान—पूर्वराग के उपरांत नायक और नायिका के संयोग की अवस्था आती है। मान में नायक और नायिका की संयोगावस्था प्रायः बनी रहती है, पर मनःस्थिति के वैषम्य के कारण वे एक दूसरे से मिल नहीं पाते। अतः इसी कारण काव्यशास्त्र के आचार्यों ने 'मान' को भी वियोग शृंगार के अन्तर्गत रखा है। संस्कृत की शृंगारिक काव्यधारा में मान के तीन भेद बताये गए हैं :

(अ) लघुमान, (ब) मध्यममान, (स) गुरुमान।

हिन्दी रीति-काव्य में भी इन्हीं तीन मानों को मान्यता दी गई है।[४२]

लघुमान—लघुमान ही उत्तम मान है, क्योंकि उससे प्रियतम की रसिकता को परितोष मिलता है, और प्रणय में नित्य नूतनता आती है।[४३] प्रिया प्रियतम के कहने पर कोई कार्य नहीं करती तब लघुमान दर्शित होता है।[४४] जब नायिका ने नायक को किसी अन्य नायिका की ओर निहारते हुए देख लिया जिससे सहज ईर्ष्यावश उसके नेत्रों में मान छा गया। कृष्ण को अपने अपराध

---

४०. आई भले हौं चली सखियान में पाई गुबिंद के रूप के आंकी।
हौ पद्माकर हारि दियो गृहकाज कहा अरु लाज कहाँ की॥
है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी बाँकियै भौहें बिलोकनि बाँकी।
आज की या छवि देखि भटू अब देखिबे को न रह्यौ कछु बाकी॥
—'पद्माकर ग्रन्थावली' (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), छन्द ३३३, पृ० १५२

४१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—'रस-मीमांसा', पृ० २२७

४२. मान कहत हैं तीनि विधि, लघु, मध्यम, गुरुनाम।
तिनके भेद बनाइ कैं, बरने कवि "मतिराम"॥
—मतिराम—रसराज, दोहा ३८५, पृ० २११

४३. डॉ० सुधीन्द्र कुमार—'रीतिकालीन शृंगार-भावना के स्रोत', पृ० २१५

४४. प्रिय को कह्यो करै नहीं प्रिया कौन हूँ काज।
उपजत है लघुमान तहँ बरनत हैं कविराज॥
—केशवदास—रसिकप्रिया, पृ० १७८

पर राधा के मान का भान हुआ तो उन्होंने उसके अपनयन के लिए बड़े कौशल से परिहास किया। उन्होंने प्रेमपूर्वक पूर्वकृत विपरीत रति क्रीड़ा पर एक ललित कवित्त की रचना करके राधा को सुनाया जिसे सुनकर वह कोप करना भूलकर लज्जा से मुस्कराती हुई नतमस्तक हो गई।[४५] पद्माकर ने भी इसी प्रकार अपने नायक 'गुपाल' द्वारा ख्याल खिलवाए हैं। राधा के मान-मोचन और खिझाने के लिए आँख चलाना और खीज जाने पर बाँसुरी बजाकर रिझाना प्रणय-क्रीड़ा का ही एक रूप है।[४६]

मध्यममान—जहाँ नायक के अत्यधिक प्रयत्न करने पर नायिका को मनाने की चेष्टा लक्षित होती है; उसे मध्यम मान कहते हैं।[४७] यह अधिकांशतः नायक का स्वप्न में या असावधानी से अन्य नायिका का नाम लेने पर होती है।[४८] परकीया के नाम का इतना विशद प्रभाव होता है कि दूती की सारी साधना इसके प्रयोग से व्यर्थ हो जाती है। इसलिए वह पुनः-पुनः कृष्ण को ललिता का नाम न लेने को कहती है।[४९] बेनी प्रवीन ने भी मध्यममान का

४५, रीति रची बिपरीति जु प्रीति सौं, ताको कबित्त बनाय सुनायौ।
भूलि गई जिस लाजन तैं, मुसकाय पिया मुख नीचे को नायौ॥
—मतिराम—रसराज (सं० रामजी मिश्र) छन्द ३८७, पृ० २१३

४६. ताहू पै गुपाल कछु ऐसे ख्यात खेलत हैं,
मान मोरिबे की देखिबे की करि साधा हो।
काहू पै चलाइ चख प्रथम रिझावे फेरि,
बाँसुरी बजाय के रिझाय लेत राधा हो॥
—पद्माकर'—जगद्विनोद' (सं० प्रेम ब्रजवासी), पृ० १३८

४७. जहाँ न मानै मानिनी, हारै पिय जु मनाइ।
उपजत मध्यम मान तहँ, प्रियतम के उर आई॥
—आचार्य केशवदास—रसिकप्रिया, दोहा १८, पृ० १८१

४८. निज पिया सों केहु नारि को, सुनै सरहनो कान।
छुटत सौंह कोटि न किये, सोई मध्यम मान॥
—बेनी प्रवीन—'नवरस तरंग' (सं०—कृष्ण बिहारी मिश्र), दोहा ४५६, पृ० ६३

४९. जैसे अब तैसे साधि सौंहनि मनाइ ल्याई।
तुम इक मोरी बात एती बिसरैयौ जिन॥
आजु की घरी तें जैसे भूलिहू भले ही स्याम।
ललिता को लैकें नाम बाँसुरी बजैयो जिन॥
—'पद्माकर ग्रन्थावली' (सं०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) छन्द ६३७, पृ० २१२-२१३

अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है। कृष्ण जब भूल से ललिता का नाम ले लेते हैं तो उनकी यह वाणी बाण सदृश्य राधा के हृदय को बेध देती है, और वह कमान के समान अपनी भौंह को तान लेती हैं।[५०]

गुरुमान—नायिका जब नायक को किसी अन्य रमणी से प्रणय आलाप करते सुनती है तो उसके इस अपराध पर वह गुरुमान करती है। यह मान बड़ी मुश्किल से पैर पड़ने, भूषणादि देने पर भंग होता है।[५१] सखी मानिनी राधिका को समझाती हुई मान का दुष्परिणाम बतलाती है कि कृष्ण से बात-बात में दीर्घमान करना अच्छा नहीं, इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं, क्योंकि सारा समय मान में ही व्यतीत हो जाएगा तथा जब वे रूठ कर चले जाएगें तब तुम्हें पश्चाताप के कारण इसी निष्ठुर मान को गले में बाँधकर दु:ख के अपार समुद्र में डूबना पड़ेगा।[५२] ऐ मानिनी रसिक गोपाल से रूठ कर दीर्घमान करना अच्छा नहीं। अत: अपनी कुञ्चित भौंहों को सरल करो। गोल-गोल गुलाबी गालों को मुस्कान से मंडित करो, नेत्रों को रसीले कृष्णचन्द्र के सामने तो करो।[५३] दूती द्वारा नायिका के गुरुमान को स्वाभाविक रूप से वर्णित किया गया है।

---

५०. बैठे निकुञ्ज घने सुख पुञ्ज सने, रस राधिका औ दधिदानी।
हान लगी चरचा के चले सखियान की प्रीति प्रतीति कहानी॥
बेनी प्रवीन सुसीलता वानि कछू, ललिता का विसेख बखानी।
बान से बैन लगे पिय के कहें, त्यौं तिय भौंह कमान सी तानी॥
—बेनी प्रवीण—'नवरस तरंग' (सं० कृष्णबिहारी मिश्र), छन्द ४५७, पृ० ६३

५१. बोलत काहू बाल सों निज पीतम को देखि।
पाय परे बिन ना मिटे, सो गुरु मान विसेखि॥
—वही, दोहा ४५८, पृ० ६३

५२. बहुनायक सों बात मैं, मान भलो न समानु।
दुखसागरमें बूड़िहै, बाँधि गरे गुरुमानु॥
—मतिराम—'रसराज' (सं० रामजी मिश्र), पृ० २१८

५३. कबि "मतिराम" मेरो कह्यौ उर आनि आली।
ठान जिन मान ऐसे मदन गुपाल सौं।
भौहें करि सूधी विदसौहैं के कपोल नैंक,
सौहैं करि लोचन रसौहैं नन्दलाल सौं॥
—वही, पृ० २१६-२१७

(३) प्रवास—नायक-नायिका की भिन्न देश स्थिति प्रवास कही जाती है।[५४] उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में विरह-भावना उतनी तीव्र नहीं होती जितनी कि प्रिय-प्रवास के समय, क्योंकि इन अवस्थाओं में निरन्तर प्रिय-मिलन की आशा निहित रहती है, पर नायक के प्रवास-काल में नायिका के लिए दोनों स्थितियाँ अलभ्य हो जाती हैं। संयोग-काल की समस्त स्मृतियाँ प्रवास काल के वियोग में पीड़ावर्धक बनकर हृदय की भावधारा को विविध रूपों में प्रकट करती हैं। प्रवासजन्य विरह को लेकर रीतिबद्ध काव्य में नायिका के चार वर्ग बने हैं—(क) प्रवत्स्यत्पतिका, (ख) प्रोषितपतिका, (ग) आगच्छत्पतिका,(घ) आगत-पतिका।

(क) प्रवत्स्यत्पतिका—प्रिय-गमन की कल्पना के कारण दुःखी रहती है, किन्तु उसे आशा रहती है कि वह किसी-न-किसी विधि से प्रिय को रोक लेगी। नायक परदेश जाने के निमित्त ज्योतिषी महाराज से शकुन पूछ रहा है। ज्योतिषी द्वारा प्रिय के जाने का शुभ शकुन जानकर नायिका का शरीर कामाग्नि से संतप्त हो गया तथा उसका प्राण कच्चे काँच की भाँति पिघल गया। इसी बीच नायिका की सास ने उसे रोचन लाने को कहा, उसी समय उसकी विरहाग्नि से थाल तो चटक गया, नारियल पटपटा गया और मुद्रा पिघल कर चाँदी हो गई।[५५]

(ख) प्रोषितपतिका—नायिका को सर्वाधिक विरह होता है, क्योंकि वह प्रिय से पार्थक्य तथा उसके अनिष्ट की संभावना की कल्पना से प्रतिक्षण खिन्न रहती है। पुनर्मिलन के प्रति हताश रहती है। 'प्रयाग नारायण विलास' में ऐसी ही मार्मिक व्यंजना हुई है। जिस दिन से प्रिय परदेश गए उसी दिन से

---

५४. "प्रवासो भिन्नदेशित्वम्"—साहित्य दर्पण ३/२०४

५५. प्यारे परदेस को गनावै दिन जोतिषी सों,
व्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खाँच तें।
सुनत सगुन तन तरुनी को मैंन तयो,
प्रान गयो पिघलि सरस काँचे काँच तें॥
सास कह्यो इतै आउ रोचन रुचिर लाउ,
अति ही दुखित कर गह्यो लाज पाँच तें।
थार गयो चटकि पटक नारियल गयो
मुद्रा औटि चाँदी भई विरह की आँच तें॥
—शृंगार सुधाकर (सं० द्विज मन्नालाल), छंद २३०, पृ० २३४

वियोगिनी का शरीरक्षीण होने लगा है। उसे घर अच्छा नहीं लगता। प्रिय का स्मरण आते ही लम्बी-लम्बी साँसें भरने लगती है। ऐसे में वह प्रियतम की अनुहार वाली ननद का मुख देखकर ही किसी तरह जीती है।[५६]

(ग) आगच्छत्पतिका—नायिका प्रिय प्रत्यागमन के समाचार से प्रसन्नवदन, उल्लसित, पल्लवित और भावी सुखद मिलन की मनोहारी कल्पना में डूबी रहती है। ऐसी नायिका मिलन न होने पर भी मिलन-कल्पना से विलास सामग्री का संचयन करती है।[५७]

(घ) आगतपतिका—अपने प्रियतम के आगमन पर प्रसन्न होने वाली नायिका को आगतपतिका कहते हैं।[५८] प्रिय सान्निध्य-सुख प्राप्त करने का अवसर उपस्थित हो जाने के कारण, वह अपने आह्लाद को छिपा नहीं पाती और और लुक-छिप कर प्रियदर्शन करती है।[५९] सायंकाल आने पर विविध बाधाओं को दूर कर वह अपनी चिर-संचित अभिलाषाओं को साकार अथवा सार्थक करती है।

वियोग की कटु पीड़ा तो 'प्रोषितपतिका' ही सहती है। अन्य नायिकाएँ या तो प्रिय के सम्पर्क में ही रहती हैं या उनका प्रिय-मिलन होने ही वाला होता है।

नायक-नायिका छह ऋतु-बारहमासा में भी विरह के कारण दग्ध रहते हैं। प्रिय-संयोग में जो ऋतु सुखदायक थी वही अब शरीर मन को दुःख देने वाली हो गई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ पर विस्तार से वर्णन करना कठिन है।

---

५६. जा दिन ते परदेश गये पिय ता दिन ते तन छीजतु है।
निशिवासर भौन सुहात नहीं सुधि आये उसासन लीजतु है॥
अब और उपाव बनें न कछू अनुभौ इतनौ सुख कीजतु है।
उन प्यारे पिया की उन्हारी सखी ननँदी मुख देखिकै जीजतु है॥
—प्रयाग नारायण विलास (बंदीदीन दीक्षित), पृ० ४०

५७. मतिराम—रसराज

५८. या तिय को परदेस ते आयौ पिय 'मतिराम'।
ताहि कहत कवि लोग हैं आगतपतिका नाम॥
—मतिराम—रसराज (सं० रामजी मिश्र), छंद २१६, पृ० १२१

५९. भीतर भौन के द्वार खरी, सुकुमार तिया तन कंप बिसेखै।
घूंघट को पट ओट दिएँ, पट-ओट किए पिय को मुख देखै॥
—वही, छंद २१७, पृ० १२२

(ब) रामोपासना की रसिक परम्परा

भगवान् राम की मधुर भाव से उपासना करने वाले भक्तों को 'रसिक' कहते हैं। सांप्रदायिक साहित्य में यह धारा पांच नामों से अभिहित है—जानकी संप्रदाय, रहस्य संप्रदाय, रसिक संप्रदाय, जानकी बल्लभी संप्रदाय और सिया संप्रदाय। इनमें रसिक संप्रदाय नाम ही सर्वप्रचलित और विख्यात हुआ। सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के दो सौ वर्षों के काल खण्ड में ऐन्द्रिकतापरक रीति किंवा शृंगार साहित्य के समानान्तर भक्त कवियों ने रामावत शृंगारोपासना की रसिक परम्परा के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। अग्रदास की दो रचनाएँ—'ध्यान मंजरी' और 'कुण्डलिया' बालकृष्ण 'बाल अली' की आठ रचनाओं का पता चलता है—ध्यान मंजरी, नेह प्रकाश, सिद्धान्त तत्त्वदीपिका, दयाल मंजरी, ग्वाल पहेली, प्रेम पहेली, प्रेम परीक्षा, प्रतीत परीक्षा। बालानन्दजी के फुटकर पद प्राप्त होते हैं। रामप्रिया शरण 'प्रेमकली' का 'सीतायन' प्रेमसखी के तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—होली, कवितादि प्रबन्ध और श्री सीताराम नख-सिख। रामचरणदास द्वारा रचित अभी तक २५ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनमें अमृतखंड, सियाराम-रसमंजरी, छप्पय-कवितावली, विरहशतक, वैराग्यशतक, नामशतक, काव्य-शृंगार, झूलन, उपासनाशतक प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त सियासखी, रामसखे, जनकराज किशोरीशरण 'रसिक अली', प्रताप कुँवरि बाई, रामशरण, युगलानन्यशरण 'हेमलता', हनुमानशरण 'मधुरअली' रघुनाथदास; राम सनेही; बनादास, रूपसरस, सीताशरण, जानकीवरशरण, रूपकला, रामवल्लभाशरण आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवि हुए हैं। जिन्होंने रामसाहित्य कोष को रसिक रचनाओं से भरा है।

रूप-चित्रण—रामोपासक भक्तों ने सखी भाव की उपासना की है जिसमें पुरुष के रूप सौन्दर्य की प्रायः उपेक्षा की है। कुछेक भक्त कवियों ने राम का स्वतंत्र रूप-चित्रण न कर राम-सीता के युग्म रूप का एक साथ वर्णन किया है।[६०] सीता राम की स्वकीया के रूप में अंकित हैं।[६१] राम सीता के नित्य

---

६०. एक चित्त कोउ एक बय नेह इक प्राण।
एक रूप इक वेश ह्वै कीड़त कुँवर सुजान।।
—महात्मा बाल अली—नेह प्रकाश (रा० भ० म० उपा०), पृ० २०६।

६१ दुलहिया दूलह बने दिलदार।
श्री जनकलली ये फली भाग बस भली देवतरु डार।।
—महात्मा बाल अली—नेह प्रकाश (रा० भ० म० उपा०), पृ० ३८७

दर्शनाभिलाषी हैं। प्रिया के समीप रहते उन्हें पलक झपकना तक अच्छा नहीं लगता। युगल देव नित्य विहार-निरत रहते हैं।[६२] सीता अनुपम सुंदरी हैं, उनके अगम व्यक्तित्व को वेदों ने नेति-नेति कहा है।[६३] उनका आकर्षक रूप कामदेव और रति को भी हरा देता है।[६४] अतः जुगल प्रियाजी कह उठते हैं, दंपती का सौंदर्य अमित अद्वितीय है अतः रसिकगण उनकी रूप माधुरी के सेवन में अनवरत प्रयत्नशील रहते हैं।[६५] सीताजी के पाँव की अँगुलियों को कल्पद्रुम के फूलों की पंखुरियों की पंचवाणों की 'गासी' है।[६६] जाँघों को कंचन स्तम्भों से एवं रोमावली को कंचन स्तम्भों सुधासार में फैली सेवार से उपमित कर कल्पना की प्रौढ़ता का परिचय दिया है। सीताजी की त्रिबली को रामजी के मन की विश्राम-स्थली बताना उनकी सर्वथा मौलिक उद्भावना है।[६७]

---

६२ रंग रंगीले लाल रंग रंगीली लाड़िली।
बिहरत नैन बिशाल रंग रंगीली अलिन मै॥
—रा० भ० म० उपा० (नेह प्रकाश), पृ० २०४

६३. वेद न पावत पार नेति कहि-कहि रहि गये।
—वही, पृ० ३३६

६४. राम रस रंग सों संग सिया प्यारी रास मंडल मधि सोहै।
बनि ठनि रूप सिरोमनि सोहनि कोटि मदन रति मोहै॥
—वही (रास पद्धति), पृ० २२२

६५. रूप सुधा पीवत न अघाये, अघटित प्रीति बरनि नहि जाये।
युगल प्रिया यह दंपति की छवि निरखत नैन रह्यौ मँडराये॥
—वही (पदावली), पृ० २५७

६६. पति को अतन जानि रति कंज ढिग आनि पंच बान बानन की गासी धरि दीन्हीं है।
—प्रेम सखी—सीताराम—नखशिख-वर्णन (रा० भ० म० उपा०), पृ० ४००

६७. जंघा जानु युगुल विलोकि रघुवीर जू की उपमा को विरंचि-विरंचि पछितात है।
कदली के खम्भ जे बनाए बहुतेरे ते तौ मानि लघु आपको कम्पत पात-पात है॥
त्रिबली निसेनी सी अधिक सुख देनी श्रेनी हंसन की आवत विचित्र मनीमाल है।
प्रेम सखी मेरी जान सुदृढ़ बनायो यह पादप को ललित आल बाल है॥
—वही, पृ० ४०१

सीताजी के पैरों में नूपुर की ध्वनि प्रियतम राम के हृदय को हरते हैं।[६८] इनके उरोज रामजी के स्नेह को उत्कंठित करते हैं।[६९] यह रूप समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता है। सीताजी का रूप अपार है जिसका पान करते हुए प्रियतम के नेत्र थकते नहीं।[७०]

संयोग वर्णन—रामोपासक भी आह्लादिनी सीताजी के साथ राम को नित्य क्रीड़ा में रत रंगमहल में देखता है।[७१] कृपानिवासजी युगल आराध्य प्रभु के गुण को गा उठते हैं। प्रिय-प्रिया के मादन भाव का उन्होंने अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन किया है। युगल प्रभु के चिन्तन में रत रसिक ही उनके दिव्य रूप का दर्शन करते हैं।[७२] प्यारे राम के नेत्र आह्लादिनी सीता के रूप

---

६८. गति गायनि पायनि परस करि नूपुर झनकार।
पिय हिय हरने मन्त्र को करत सुचारु उचार॥
—महात्मा बाल अली-नेह-प्रकाश (रा० भ० म० उ०), पृ० २०८

६९. है अलि सुन्दरि उरज युग रहे तव उरजु प्रकाश।
नवल नेह के फन्द ह्वै अति पिय सुख की रासि॥
—वही, पृ० २०

७०. सिय तव रूप अपार पिय पियत न नैन अघाय।
भये चहत सुर राज से सियरै अति अकुलाय॥
—वही, पृ० २०८

७१. रंग महल दोउ राजत रंग रसीले।
लावन लंक अंकन की सानिधि भुज अंसनि गुन सीले॥
नैन की बतरावनि भावनि लावनि बोलनि बदन हँसीले।
उरहित भाव मिले रुचि बरणित करि नित केलि कवीले॥
सखि जन मन की प्रीति चातुरी मिली जुहरत रति सो रतीले।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ रहसि उपासिक हीले॥
—श्री कृपानिवास-पदावली (रा० भ० म० उ०), पृ० २३२

७२. पिय के नैंन प्रिया छवि उरसे सिया दृग पिय छवि लागे।
मनु ह्वै रूप सरोवर मीनन सदन पलटि सुख रागे॥
प्रीतम प्राण बसै प्यारी वश प्यारी पिया के आगे।
कहि लालन मैं सर्वसु तुम्हरो मैं तुम्हरी बड़ भागे॥
तुम्हरी मया बड़भागि विलासनि विलसहु सुख मन माँगे।
लाल रावरो हित सु अमोलक मन सब है तन त्यागे॥
तुमसों लाल निहाल चरण लगि मानो भाग-सुभागे।
राज रावरी वस्तु प्राण तन पगे रहो जिमी पागे॥
यह सुख सुधा सदा कोउ पीवै कोउ भूले विष दागे।
कृपानिवास प्रसाद खाद सों प्यायो जन निशि जागे॥
—वही, पृ० २२८-२२९

सौन्दर्य में उलझ जाते हैं तथा आनन्दातिरेक में राम सीता के वश में और सीता राम के वश में होकर तन्मय हो जाते हैं। रसिक भक्त की आँखें तब और भी चमत्कृत हो उठती हैं, जब निकुंज के मध्य पुष्प-शैय्या पर सीताराम को प्रातः उठते हुए देखता है। युगल राधा के अलसाये नेत्र, बिखरी अलकें और स्नेह से शिथिल अंग उसके नेत्रों के समक्ष छविमान होते हैं।[७३] इतना ही नहीं राम प्यारी का नीवी बन्ध, उनमें एकाकार हो जाने के लिए खोलने का प्रयास करते हैं। सीताजी मना करती हैं, पर वे नहीं मानते।[७४] अपनी प्यारी को प्रसन्न करने तथा रस का आस्वादन करने के हेतु स्वयं नवयौवना किशोरी बन जाते हैं।[७५] तब प्रेम से विवश हो प्यारी जानकी प्यारे राम को अपना मधुर आलिंगन देकर उनके चित्त को चुरा लेती हैं।[७६] प्रणयरत सीता और राम

---

७३. रंग रंगीले दोउ सोय जगेरी।
बिथुरी अलकैं अलसी पलकैं रंग सनेह सुरंग पगेरी॥
मद रस छके बिराजत लालन ललना के रसरंग ठगेरी।
कृपा निवास श्री जानकी वल्लभ सखियन के दृग निरखि परोरी॥
—वही, पृ० २२७

७४. नीवी करषत बरजत प्यारी।
रस लंपट संपुट कर जोरत पद परसत पुनि लै बलिहारी॥
बदन घुमाय सिहाय महाजट तड़ित ज्यौं चमकत बंक निहारी।
तलपट राम मचाय धूम रस हँसि-हँसि कृपनिवास सियहारी॥
—वही, पृ० २३२

७५. रघुवर आये नवल बनि नारी।
करि सिंगार सुधर बनिता की शिर पर गागरि भारी॥
बीते रात कहत घर-घर में त्यौं जल पिय निहारी।
श्याम सखे सैयाँ रसिक बहादुर करत बिहार बिहारी॥
—श्यामसखे की पदावली (रा० भ० म० उ०), पृ० ३६९

७६. प्रेम विवस हियरे लगत जिया लेतु चुराय।
हँसि-हँसि रसवति आकरत भर्‌यौ सिंगार सुराय॥
कल कपोल कुण्डल हलक अलक झलक छवि देत।
ललकि-ललकि हिय सों लगत पलक चित्त हरि लेत॥
झूमि-झूमि झूकि-झूकि परत दिये अंस भुजमाल।
हँसि हेरन चित्त चोरहीं कब देखिहैं सिय लाल॥
अलकैं उरझीं चंद मुख दृग कपोल लसि पीक।
अंजन अंजित रदसुपट सिय पिय अलिथ बदीक॥
—श्री युगलमञ्जरी—भावनामृत-कादम्बिनी (रा० भ० म० उ०), पृ० ३६४

जल एवं तरंग की तरह एकाकार हो जाते हैं।[७७]

वियोग-वर्णन—परम माधुर्य रस के स्रोत श्री राम की नित्य आह्लादिनी सीताजी का वियोग लीला विशेष के कारण होता है। दोनों का संयोग नित्य है अस्तु वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। सांसारिक लीला विशेष में वियोग होने पर जानकीजी विह्वल हो जाती हैं, जिससे एक पल भी राम का वियोग असम्भव है। वियोग में चैन नहीं मिलता, उनकी स्मृति से वह छटपटाती हैं तथा दर्शन देने के लिए उनसे बार-बार प्रार्थना करती हैं। विरह ज्वाला से अधीर होकर सखी से उपचार का तरीका पूछती हैं जिससे प्रियतम के दर्शन हो जाएँ। विरह के कारण पागल व दीवानी हो जाती हैं।[७८] प्रेमपगी को कहीं कुछ नही सुहाता। वह प्यारे के संयोग की रसमयी वार्ता का स्मरण करके वियोगावस्था में भी मधुर आलिंगन की कामना करती हुई प्रफुल्लित हो जाती हैं।[७९] जिसका मन उस परम सौन्दर्यमय रूप का पुजारी हो गया उसके लिए विश्व की किसी भी वस्तु में कोई आकर्षण नहीं रह जाता, मन सर्वदा उसके मधुर मिलन के लिए आकुल रहता है। अतः हे राजीव नैन आप मेरी सुधि लें

---

७७ तू सिय पिय के रंग रंगी रंगे पीय तव रंग।
रहे अली इक रूप ह्वै ज्यों जल मिले तरंग॥
—महात्मा बाल अली—नेह-प्रकाश (रा० भ० म० उ०), पृ० २०९

७८ केहि विधि विरह बुझावों सखी री केहि विधि प्रीतम दर्शन पावों।
शिथिल रहत अंग-अंग विरह बस दरद भरी अकुलावों॥
औचक उठि बेहोश देवानी पिय-पिय कहि बिलखावों।
कबहूँ सुधि पाय झरोखन झाँकति पथिकन से बतरावों॥
ना जानो कौनी बिरमायो यह गुनि हिय पछितावों।
युगल अनन्य धारि धीरज कहुँ ललन ललित गुन गावों॥
—स्वामी युगलानन्यशरण—संत सुख प्रकाशित पदावली, (रा० भ० म० उ०), पृ० २७१

७९. रघुवर कैसे बिसरिहों बतियाँ।
कब तो होय सांझ घरवाती मेरी तो लागि सुरतियाँ॥
नदिया तीर भई जो बातें रस बस भीजी मतियाँ।
श्याम सखे सैयाँ श्याम सलोने तोकों लगैंहों छतियाँ॥
—श्यामसखे की पदावली (रा० भ० म० उ०), पृ० ३६९

क्योंकि मुझे रात्रि-दिन भी अच्छे नहीं लगते।[८०] सीताजी की इस पीर ने उन्हें प्यारे के विरह में पागल-सा बना दिया। वे प्रमोद वन के वृक्ष-वृक्ष से अपने प्रियतम को पूछती हैं, तरु से विहीन लता की भाँति मुरझा-सी जाती हैं। शरीर शिथिल हो जाता है जिससे पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ती हैं। अन्तरंग सखियों द्वारा सँभाले जाने पर भी मनहरण की याद में किसी की बात तक नहीं सुन पातीं।[८१] संयोगावस्था में, रोष में आकर, प्रियतम से मान कर लेती हैं, इससे प्रिया की व्याकुलता और भी बढ़ जाती है तथा सखियों को श्रीराम से कभी न रूठने की सलाह देती हैं, क्योंकि जिस प्रियतम ने अपनी प्रिया को मधुर रस का आस्वाद करने के हेतु भाँति-भाँति का विहार सुख सँजोया हो, उनसे रूठना अभाग नहीं तो और क्या है।[८२] प्रिया क्षण मात्र के मान पर भी पश्चात्ताप करती है, अतः मान का परित्याग कर संयोग सुख बनाये रखने को ही उचित समझती हैं और यही राय सबको देती भी हैं।

---

८०. हमारी सुधि लीजैं राजीव नैन।
दृग भरि हेरि फेरि अंसन भुज लावो हिये सुख दैन ॥
ललकत मन छिन-छिन मिलिबे को बिनु देखे नहिं चैन।
आरत हरण वेद यश गावत क्यों न सुनौ मम बैन ॥
रूप सुधा छवि दृगन पिआवो करि कटाक्ष मृदु सैन।
ज्ञाना अली पिय बिरह बावरी नहिं सोहात दिन रैन ॥
—श्री ज्ञानाअली सहचरि—सियबर केलि पदावली (रा० भ० म० उ०), पृ० ३११

८१. द्रुम-द्रुम बूझ थकी बन हेरत प्यारी बैठी आय पुलनि पर।
तरु बिन कल्पलता मानो मुरझी झुकि-झुकि परति सिथल धर ॥
सख जन धारि संभारि पवन ठर श्रम कण हर कोई गहि पट कटि कर।
कृपा निवास कहति कहा दुरिया राम रसिक मेरो मनहर ॥
—महाराज कृपानिवास—रास पद्धति (रा० भ० म० उ०), पृ० २२३

८२. आली मेरो रघुवर करत सोहाग।
लै कुसुमन बनमाल बनावत बिहरत मो संग लाग ॥
मो प्रतिबिम्ब विलोकि मुकुर महँ तजत तासु अनुराग।
अस रघुराज प्राण प्यारे सों रुसब परम अभागा ॥
—श्री रघुराज सिंह—रघुराज-विलास (रा० भ० म० उ०), पृ० ३५४

(स) कृष्णोपासना की रसिक परम्परा

कृष्ण भक्ति-साहित्य में बल्लभाचार्यजी का पुष्टि मार्ग, चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, हित हरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास का हरिदासी या सखी सम्प्रदाय आदि उपर्युक्त प्रमुख पाँचों सम्प्रदायों ने हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य को मधुर रस से आप्लावित किया। इन सम्प्रदायों के प्रमुख हिन्दी कवि इस प्रकार हैं—प्रियादासजी, गुणमंजरीदास, ललित किशोरी, ललित मोहिनी, राधावल्लभ सम्प्रदाय के हित हरिवंश, व्यासजी, ध्रुवदासजी, अनन्य अली और चाचा हित वृन्दावन दास, निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीभट्ट, हरिव्यास देवाचार्य, वृजदासी, रसिकदेव, गोविन्द देव, हरिदासी सम्प्रदाय के विट्ठल त्रिपुल देव, विहारिन देव, भगवत रसिक, सहचरि शरण आदि भक्तों ने रसभक्ति का प्राणवंत साहित्य लिखा है।

रूप-सौन्दर्य—हिन्दी कृष्ण-भक्त रसिकों की दृष्टि भी रूप-सौन्दर्य पर आधारित है, केलिचित्रण के स्थान पर कृष्ण की रूप छवि के बड़े सुन्दर चित्र चित्रित किए हैं। इनकी दृष्टि कृष्ण के सौन्दर्य पर आसक्त है। भगवान् की त्रिभंगी मुद्रा, वंक चितवन, मधु स्मृति आदि के मोहक वर्णन कृष्ण रूप-सौन्दर्य को अंकित करते हैं।[८३] नारी के रूप की सार्थकता दर्शक को प्रभावित कर लेने में है। रूप वही सुन्दर होगा जो अपने आकर्षण से लोगों के नेत्र और मन दोनों को ही अपनी ओर खींच ले। राधा कनकलता के समान गौरवर्णा हैं। उनके अंग-अंग की सुन्दरता अवर्णनीय है।[८४] राधा-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के

---

८३. कटि किंकनि सिरमोर मुकुट वर, उर बनमाल परी है।
करि मुसकान चकाचौंधी, चित चितवनि रंग भरी है।।
"सहचरिसरन" सुविस्व विमोहिनि, मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभंगी सजल मेध तनु, मूरति मंजु खरी है।।
—डॉ० पूर्णमासी राय—'हिन्दी कृष्ण भक्ति-साहित्य में मधुर भावा की उपासना', पृ० ४१७

८४. देखु प्रिया सखि आजु बनी,
स्याम तमाल जु अंसभुजा मानो कनकलता फूली मृदु कमनी।
केस कुसुम अलकें झलकैं छवि भृकुटी नयन राजे विधुबदनी।।
अधर दसन छवि मुदित रवि जुग ताटंक नासा जलज-मनी।
मृदु इषद् हास अनंग प्रकाश सौरभ सरस प्रमान घनी।।
रोम-रोम लसें सारी सुमन कृश कटि नाभि सुपद रमनी।
अंग-अंग निपुन नव कोककला गुन बरसै माधुरी सहज धनी।।
वलि नागरीदास ए रूप की रासि विपुल विहारिन दास मनी।
कल केलि करै अनुराग ढरै प्यारी प्रीतम हेत समै रमनी।।
—वही, पृ० ४०३

प्रभाव से दोनों के हृदय में स्नेह का संचार होने लग जाता है। गोपी अभिलाषा करती हैं समाज, कार्य और लज्जा का परित्याग कर पल-पल, घड़ी-घड़ी श्रीकृष्ण के स्वरूप को ही निहारें एवं प्रिय की आरती उतरें।[८५] नायक अथवा नायिका के सौन्दर्य को देखकर मन इतना आसक्त हो जाता है कि उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है।[८६] सौन्दर्य तथा आकर्षण के आभाव में शारीरिक परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता है। इस परिवर्तन में स्तब्धता, विस्मय, विमुग्धता के माध्यम से देखने की भावना और अन्य अनेक शरीरिक प्रतिक्रियाओं का वर्णन है।

संयोग-वर्णन—संयोग वर्णन में हिन्दी कृष्ण-भक्तों में भगवद्रसिक ने नित्य-बिहार के वर्णन में विशेष अभिरुचि दिखलाई है। इस नित्य बिहार में प्रिय नित्य है, प्रिया नित्य है, वृन्दावन नित्य है, नित्य प्रति नये-नये कौतुक होते रहते हैं, नित्य नवीन प्रेम है, नया यौवन है, नित्य नये श्याम होते हैं और नित्य उनमें बनाबनी है।[८७] युगल सदैव एक दूसरे के समीप रहते हैं, पर इस पिपासा

---

८५. ऐसी मति होती अब ऐसी करौं आली,
बनमाली के सिंगार में सिंगार बोई करिये।
कहै "पद्माकर" समाज तजि काज तजि,
लाज के जहाज तजि डारबाई करिये॥
घरी-घरी, पल-पल, छिन-छिन रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारबाई करिये।
इन्दु ते अधिक अरविन्द ते अधिक ऐसौ,
आनन गोविन्द को निहार बोई करिये॥
—पद्माकर—जगद्विनोद (सं० 'प्रेम ब्रजवासी') पृ० १४१-१४२

८६. जुरी दृष्टि सों दृष्टि दुहुन की इत उत टरत न टारी;
खैंची फिरत लोह चुंबक लौं नेकु न होत नियारी।
सुंदर बदन बिलोकि परसपर पलक न पलकन फेरैं,
ठाढ़े खरिक खोरि में दोऊ रसबस इकटक हेरैं।
—बकशी हंसराज-सनेह सागर (स०-लाला भगवानदीन),
द्वितीय तरंग, छन्द ४, पृ० १७

८७. हैं हम रसिक अनन्य प्रिया-प्रिय कुंज महल के बासी।
नई नई केलि विलोकैं क्षण-क्षण रति विपरीत उपासी॥
बीरी वसन सुगंध आरसी, रुख लै करत खवासी।
देत प्रसाद प्रेम सौं हँसि-हँसि कहि कहि भगवतदासी॥
—डॉ० पूर्णमासी राय—'हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना', पृ० ४१२

के आधिक्य के कारण ऐसा लगता है मानों कभी मिले ही नहीं, रात्रि-दिवस मिलन के लिए आतुर रहते हैं।[८८] जितना अधिक गर्व राधा को अपने कृष्ण के प्रेम पर है उतना ही अधिक कृष्ण को राधा के प्रेम पर। दोनों अत्यंत उमंग के साथ परस्पर आलिंगन, चुम्बन और बिहार का एक-दूसरे को दान करते हैं।[८९] ऐसी रसमय स्थिति में सुन्दर लताओं के मध्य कोमल पुष्पों की सैय्या पर विराजमान श्याम-श्यामा के नेत्र से नेत्र, अधर से अधर, भुजाओं से भुजायें और वक्ष से वक्ष मिलकर एकाकार हो जाते हैं।[९०] इस अनुपम सुख को लूटते हुए राधा जैसे ही प्रियतम कृष्ण के मुख को निहारती हैं, वैसे ही प्रेमावेश के आधिक्य से उन्हें अपने उर से लपटा लेती हैं तथा चुम्बन प्रदान कर अपने स्नेह की कला को प्रकाशमान कर देती हैं।[९१] इस प्रकार प्रिया प्रिय के अधीन हो जाती है और प्रिय प्रिया

---

८८. तुव मुख चंद चकोर ये नैना।
अति आरति अनुरागी लम्पट भूल गई गति पलहूँ लगैना॥
अरबरात मिलबे को निसि दिन मिलेइ रहत मन कबहुँ मिलेना।
भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोई समुझि सकै ना॥
—वही, पृ० ४१२

८९. कुंज महल में बैठक राखे कुंज महल में केलि,
गौर स्याम लपटे रहैं मानो कनक की बेलि।
नैन विहारी रूप निरखि रसन बिहारी नाम,
श्रवन विहारी सुयस सुनि निसदिन आठो जाम।
ना काहू सो रूसनो ना काहू सो रंग,
ललति मोहनी दास को अद्‌भुत केलि अभंग॥
—डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय-'हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना', पृ० १४५

९०. पौढे ललित लतान तरें।
सुमन सेज सुखराशि सनेही अधरनि अधर धरै॥
उरजनि उरज जोरी कटि सों कटि लपटि भुजानि भरै।
यह रस मत्त मगन मन सोये भगवत व्यंजन करै॥
—डॉ० पूर्णमासी राय-'हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना', पृ० ४१४

९१. आजु सुख लूटत लाल बिहारी, बैठे चित्र विचित्र अटारी,
ज्यौं-ज्यौं पिय निरखत मुख त्यौं-त्यौं हँसि हँसि उर लपटाति पियारी।
चुम्बन दै पुनि लै लज्जित ह्वै छिन ह्वै जाति पियारी नियारी,
वृन्दावन प्रभु तव अंकन भरि रीझि प्रकाशत काम कलारी॥
—डॉ० श्याम नारायण पाण्डेय—'हिन्दी कृष्ण-काव्य में माधुर्योपासना' पृ० २३४

के । दोनों परस्पर वशीभूत होकर रसलीन हो जाते है ।[९२]

वियोग-वर्णन—कृष्णोपासक रसिक भक्ति वियोग-वर्णन में अधिक उत्साही नहीं प्रतीत होते, पर नित्य विहाररत दम्पत्ति के लिए पूर्वराग, प्रवास और करुण विरह को अजर-अमर; आजन्म माना है। 'मान' विरह का चित्रण रसिक भक्तों की रचनाओं में कहीं-कहीं विरल रूप से विद्यमान है । विरह में माधव प्रियाजी की याद में बेहाल हो जाते हैं, तथा निरंतर वंशी की मधुर ध्वनि के माध्यम से राधा-राधा नाम की रट लगा देते हैं,[९३] गायों को बुलाते समय राधे का नाम अनायास मुख से प्रस्फुटित होता है । शरीर के समस्त अंग अस्त-व्यस्त हो जाते हैं ।[९४] यह वियोग केवल एकपक्षीय नहीं है, नंद नंदन के वियोग में राधा को एक-एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है,[९५] और वह किसी भी उपाय से अपने प्रिय का संयोग पाने के लिए अपनी सखी से कह रही हैं। प्रिया पश्चात्ताप करती है कि संयोग के क्षणों में उसने अपने प्रिय से मान क्यों किया ? राधा-कृष्ण दोनों ही एक दूसरे की पीर का अनुभव करते हैं, परस्पर मान छुड़ाते हैं ।[९६] राधा के मान को भंग करने के लिए कृष्ण अनेक प्रयत्न करते हैं,

---

९२. श्री राधा माधव रँगे सुरति रंग रसलीन ।
प्यारी प्रिय के प्रेमवश, प्रिय प्यारी आधीन ।।

—वही, पृ० १५१

९३. चाह चटपटी मिलन की लाल भये बेहाल ।
बंशी में रटिबो करैं राधा राधा बाल ।।

—वही, पृ० २४०

९४. ···गंगा-जमुना नाम कहि बोलति गायन टेरि ।
राधे-राधे वदन तें निकस जात तिहिं बेरि ।।
मोहन मोहे मोहिनी, भई नेह बढ़वारि ।
हा राधे ! हा हा प्रिया कहत पुकारि-पुकारि ।।

—वही, पृ० २४०

९५. करौ किनि कैसेहुँ कोउ उपाई ।
ब्रज मोहन के रंग रँगी री और न कछू सुहाई ।।

—वही, पृ० २४५

९६. प्यारी हम तुम दोउ, एक कुंज के सखा रूठें क्यों बने ।
इहाँ न कोऊ मेरो न तेरो हितू जो यह पीर जने ।।
हौं तेरौ वसीठ तू मेरो तो मेरे बीच और न सने ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कहत प्रीति पने ।।

—वही, पृ० ११८

तथा समझाते हैं, प्रिया को आनंदित करने के लिए नृत्य करते हैं, उनके नृत्य पर कोयल अलाप देती है, पपीहा स्वर देता है, मेघ मानो गर्जन कर मृदंग बजाता है। इन सबका प्रिया पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह मान का परित्याग कर प्रिय को अपने वक्षस्थल पर खींच लेती है।[९७] अतः विरह की समस्त अवस्थाओं का परित्याग कर प्रिया प्रियतम से संयोग करती है।

निष्कर्ष—देश की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक परिस्थितियों को किसी भी साहित्य के संदर्भ में जानना आवश्यक है। अतः इसी कारण इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से वर्णित किया गया है। तत्कालीन परिस्थितियों ने उदार, ओजस्वी, मधुर एवं अन्तर्मुखी निर्गुण भक्ति का शिल्प रचने में भरपूर योग दिया। शासक वर्ग की धार्मिक अनुदारता एवं दया नीति के कारण सकारोपासना असम्भव थी। इसीलिए सन्तों ने सन्तमतानुमोदित निराकारोपासना पर विशेष बल दिया। अद्वैतवादी सिद्धान्त को अपनाकर सन्तों ने धार्मिक विद्वेष एवं आर्थिक विद्वेष मिटाने का प्रयास किया। आर्थिक विपन्नता के उस युग में अर्थ की ओर से उपेक्षामूलक दृष्टिकोण का सूत्रपात सन्तों ने ही किया। अर्थ प्रधानता को भौतिकता की कोटि में रखकर उसे मिथ्या माया कहने के मूल में सन्तों का यही दृष्टिकोण प्रधान था जिसे उनकी एक बड़ी देन माना जा सकता है। आर्थिक अस्थिरता के वातावरण में अर्थ की अप्रधानता घोषित कर सन्तों ने तत्कालीन सर्वसाधारण का मनोबल ऊँचा किया। समसामयिक तीनों साहित्यिक परम्पराओं ने सन्त साहित्य को प्रभावित किया। रीति साहित्य की शृंगारिकता ने बौद्धिकता प्रधान नीरस संतकाव्य में भी रसिकता का संचार कर उसकी परम्परागत गुह्य साधन को मधुर से मधुर बना दिया। कृष्णोपासना तथा रामोपासना में प्रियतम एवं जीवात्मा-रूपी सुन्दरी के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर सन्तों ने प्रणय-विलास के जो नयनाभिराम चित्र अंकित किए चुनरी, चोली, नैहर, ससुराल, सखियाँ, वधू, आदि लौकिक प्रतीकों के माध्यम से जो अतीन्द्रिय प्रेमानुभूति व्यक्त की उसमें सन्तों की भक्ति-भावना में निहित मधुर भावना का ही समावेश है, जिसका विवेचन आगे के अध्याय में किया जाएगा।

---

९७. नाचत मोरनि संग स्यामा मुदित स्यामहि रिझावत।
तैसी ये कोकिला अलापत पपीहा देति सुर,
तैसोई मेघ गरज मृदंग बजावत .... ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी रीझि राधे हँस कंठ लगावत ॥
—वही, पृ० ११८

२

भक्ति : व्युत्पत्ति, तत्त्व एवं रूप

'भक्ति' : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

भक्ति शब्द संस्कृत के 'भज सेवायाम्' धातु में ('स्त्रियां क्तिन्' पा० सू० ३/३/९४, इस सूत्र के अनुसार) 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने पर बनता है। वस्तुतः 'क्तिन्' प्रत्यय भाव अर्थ में होता है—'भजनं भक्तिः' परन्तु वैयाकरणों के अनुसार कृदन्तीय प्रत्ययों में अर्थान्तर अर्थ-परिवर्तन-प्रक्रिया का एक अङ्ग है। अतः वही 'क्तिन्' प्रत्यय अर्थान्तर में भी हो सकता है।

'भजनं भक्तिः', 'भज्यते अनया इति भक्तिः', भजन्ति अनया इति भक्तिः', इत्यादि 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं।

'भक्ति' शब्द का वास्तविक अर्थ भगवान् की सेवा करना है। वह सेवा अनेक प्रकार से सम्पन्न होती है, जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति है, उसे भक्त कहते हैं। भक्ति तथा भक्त के अनेक भेदोपभेद शास्त्रों में कहे गए हैं।

भक्ति के बिना किसी भी मनोरथ की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सर्वानुभव सिद्ध है। भगवत्प्राप्ति जैसा परम कल्याणकारक विषय भी भक्ति के बिना सम्भव नहीं। विशेषता यह है कि भगवान् भी अपने भक्त का भजन करते हैं और भक्त भगवान् का।[1] भगवान् स्वयं अपने भक्त का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं ?[2] भगवान् में चित्त की स्थिरता को ही भक्ति कहते हैं। गोपाल पूर्वतापनी उपनिषद् का कथन है–मन को भगवान् में पूर्णरूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किए बिना उनका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।[3] श्रीमद्भागवत में भी भक्ति का लक्षण इस प्रकार से वर्णित किया है—"मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति ऐसी हो जिसमें

---

१. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४/११/७९

२. कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

श्रीमद्भगवद्गीता, ९/३१/१५६

३. भक्तिरस्य भजनं, एतादिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनः कल्पनम् ॥

—गोपाल पूर्वतापनी उपनिषद् २/१

किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे ।[४] शांडिल्य भक्ति सूत्र में कहा गया है कि ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है ।[५] नारद भक्ति सूत्र में यह बतलाया गया है कि ईश्वर के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है । यह भक्ति ही अमृत स्वरूपा है । जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है तथा किसी अन्य वस्तु के प्रति इच्छा नहीं रहती । न वह शोक करता है और न द्वेष करता है न किसी संसारी वस्तु में आसक्त होता है और न ही उस वस्तु से उत्साहित होता है ।[६] भक्ति की संज्ञा के विषय में 'नारद-पाञ्चरात्र' में कहा गया है कि 'अन्य कामनाओं का परिहार कर निर्मल चित्त से समग्र इन्द्रियों के द्वारा श्री भगवान् की सेवा का नाम भक्ति है ।[७] 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में रूप गोस्वामी ने भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'आध्यात्म ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा न करते हुए कर्म अथवा वैराग्य का भी मोह न रखते हुए और अपनी किसी स्वार्थ-भावना को स्थान न देते हुए केवल कृष्ण की संतुष्टि के लिए उनका प्रेमभाव से चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है ।[८] देवी भागवत में ''पूज्य जनों में अनुराग ही 'भक्ति' है ।[९] भक्ति रसायन में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार है— 'मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो आध्यात्मिक साधनों से द्रवीभूत होकर

---

४. स वै पुंसां परोधर्मो य तो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रीतदि ॥
—श्रीमद्भागवत् १/२/६.

५. सा परानुरक्तिरीश्वरे ।
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १/१/२.

६. या त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । अमृतस्वरूपा च ।
यल्लब्धवा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति ।
यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति, न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥
—नारद भक्ति दर्शन, सूत्र २, ३, ४, ५, पृ० २० से ४०

७. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥
—भक्तिविशेषांक, पृ० २६१

८. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूलेन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
—रूप गोस्वामी—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, (पूर्वविभाग) १/११

९. पूज्येष्वनुरागो भक्तिः—देवी भागवत् ७/३१

ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है।[१०] यदि हम सम्पूर्ण परिभाषाओं का सार डॉ० रामस्वार्थ चौधरी के इन शब्दों द्वारा व्यक्त करें तो वह इस प्रकार है —भक्ति, श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेमपूरित भक्त हृदय का वह मधुर मनोराग है जिसके द्वारा भक्त और भगवान्, उपास्य और उपासक से पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण होता है। वह भक्त के विमल मानस से निःसृत दिव्य प्रेम की वह उज्जवल भावधारा है जिसके प्रवाह में पड़कर लौकिक प्रेम का विषयानन्द अपने समस्त कलुषों का परिहार कर अलौकिक प्रेम के ब्रह्मानन्द में परिणत हो जाता है।[११] भगवद् विषयक प्रेम ही भक्ति है। अनुकूल भाव से भगवान् के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है। भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम भक्ति है।[१२] अतः हम कह सकते हैं कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है, जो अहैतुकी है और मोक्ष प्राप्ति का सहज मार्ग है।

भक्ति की महत्ता

भक्ति हमारे जीवन का प्राण है जिस प्रकार पौधे का पोषण जल तथा वायु के द्वारा होता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भक्ति से ही सशक्त और सुखी होता है। भक्ति वह प्यास है जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका विनाश ही होता है, अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

समस्त धर्म ग्रन्थों का सार भक्ति ही है। भक्ति के ही बीजारोपण हेतु भगवान् आदि की विभिन्न कथाओं का प्रचार एवं गंगा-यमुना-त्रिवेणी-सरयू का नित्य स्नान किया जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार "प्रत्येक लघु से लघु कार्य को जिसे हम करते हैं मानस पटल पर उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। जैसे गंगा-स्नान तथा भगवान् शंकर के अद्वितीय लिंग पर गंगाजल, बेलपत्र, पुष्पादि अर्पित करने से भक्ति की ही भावना निहित रहती है। अतः भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ कहा गया है।[१३] भागवत में भी कहा गया है कि विश्व के कल्याण का भार भक्ति-मार्ग पर ही निर्भर करता है।[१४] नारद के

---

१०. द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतांगता।
सर्वेश मनसो वृत्तिः भक्तिरित्याभिधीयते॥
—भक्तिरसायन १/३

११. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी : 'मधुर रस स्वरूप और विकास', भाग १, पृ० ४३

१२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी — कबीर, प्रथम संस्करण, पृ० १४३

१३. सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा—नारदभक्ति दर्शन, सूत्र पृ० १३१

१४. श्रीमद्भागवत ७/६/६

समान कबीर ने भी भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए जप, तप, संयम, व्रत सब बाह्याडम्बर है अतः भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ कहा है। वे उसे मुक्ति का एक मात्र उपाय मानते हैं।[१५] भक्त शिरोमणि तुलसीदासजी ने भी भक्ति को सभी साधनों का सुन्दर फल कहा है[१६] तथा समस्त सुखों का सार भक्ति ही है।[१७] जिसके हृदय में रामभक्ति है उसे दुःख छूता भी नहीं है।[१८] जो प्राणी भक्ति भाव से ईश्वर को खोजता है वह समस्त सुखों की खान भक्ति रूपी मणि को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान, कर्म, योग में ईश्वर को वश में करने की क्षमता नहीं है, कृष्ण को वश में करने का एक मात्र साधन प्रेम है[१९] जैसा कि पीछे शाण्डिल्य भक्ति सूत्र तथा श्रीमद्भागवत की भक्ति विषयक परिभाषा में भी कहा गया है कि भक्ति ही एक ऐसा सहज साधन है जिससे मानव सांसारिक माया-मोह से छूट सकता है। मानसिक शान्ति की प्राप्ति भी भक्ति द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार भक्ति भक्त के विमल मन से निकली हुई उज्ज्वल रसधारा है। लौकिक स्नेह ही अलौकिक स्नेह में परिणत हो जाता है। मन और वाणी से अगोचर परमात्मा को मधुर भाव बन्धन में बाँधकर अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन करता है। ऐसी ही स्थिति में आत्मा-परमात्मा एकमेव हो जाता है।

---

१५. भाव भगति विसवास, बिन कटे न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी—कबीर ग्रन्थावली, रमैनी, पद १, पृ० ११८

१६. जप तप नियम योग व्रत धर्मा, श्रुति सम्भव नाना कर्मा।
ग्यान, दया, दम तीरथ मज्जन, जहँ लगि धर्म कहैं श्रुति सज्जन॥
आगम, निगम, पुराण अनेका, पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर, सब साधन कर यह फल सुन्दर॥
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ४८, चौ० १-२

१७. श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं, रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं।
—रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, दोहा १२१ चौ० ७ की अर्द्धाली

१८. राम-भगति-मनि उर बस जाके, दुख-लव-लेख न सपनेहुँ ताके।
—रामचरितमानस : उत्तरकाण्ड, दोहा ११८, चौपाई ५ की अर्द्धाली

१९. ज्ञाने कर्म्मे योगे धर्म्मे न ते कृष्ण बस।
कृष्ण वश हेतु एक कृष्ण प्रेम रस॥
—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, परिशिष्ट १७, पृ० ८२

भक्ति के तत्त्व

अर्थ और महत्ता के प्रसंग में भक्ति के तत्त्वों का निर्धारण किया जा चुका है। इन्हीं तत्त्वों पर कुछ विस्तार से प्रेमचर्चा की जाएगी। पीछे नारद भक्ति सूत्र की परिभाषा में भक्ति के अन्तर्गत प्रेम को भी स्वीकृत किया गया है।

प्रेम—प्रभु प्रेममय है तभी तो वह जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है। प्रेम-मय प्रभु सर्वत्र रम रहा है, अतः प्रेम भी सर्वत्र रम रहा है, तभी तो परमाणु-परमाणु परस्पर चिपटा हुआ है। सूर्य की रश्मियाँ सर्वत्र सबको चूमती हैं, वायु सबके साथ अठखेलियाँ करती हैं, जल सबको सस्नेह निखारता है। प्रेममय प्रभु सब प्राणियों के हृदय में विराजता है, हृदय में ही आत्मा का निवास है। आत्मा में प्रेममय हरि रम रहा है। तभी तो आत्मा आत्मा को प्यार करता है, और आत्मा-परमात्मा के प्रति अनुरक्त रहती है। संसार में यह प्रेम कई रूपों में अभिव्यक्त होता है। इसी के परिणामस्वरूप ही गौएँ वत्सों को चाट रही हैं, माताएँ शिशुओं को चूम रही हैं। पति-पत्नी परस्पर स्नेहसिक्त हो रहे हैं। मित्र मित्र का आलिंगन कर रहा है। सर्वत्र सुसंयोग प्रेम ही की महिमा है।[२०] प्रेम असंख्यधार होकर बह रहा है।

जब भक्त इस असंख्यधार प्रेम को अपने प्रियतम के प्रति अभिव्यक्त करता है तो प्रेम-प्रसंग की सम्पूर्ण धाराएँ धारणाओं का, और वाणियाँ प्रार्थनाओं का रूप धारण कर लेती हैं। धारणाएँ और प्रार्थनाएँ ही भक्त को तीव्रगति से अपने प्रियतम की ओर ले जाती हैं। भक्त और भगवान् दोनों ही में प्रेम की उष्णता होती है। इसी हेतु उसमें प्रेमी प्रिय हो सकता है तथा प्रिय प्रेमी का रूप धारण कर सकता है। प्रेमी में प्रिय का रूप और प्रिय में प्रेमी का रूप छिपा रहता है। अतः भक्त और भगवान् दोनों ही प्रेमी और प्रिय कहे जा सकते हैं। अतः भक्ति क्षेत्र में भक्त के लिए प्रेमलक्षणा भक्ति महत्त्व-पूर्ण है।

सेवा—भक्त का अपने प्रियतम परमात्मा के आनन्दांश को प्राप्त करने का एक मात्र साधन भगवान् की 'सेवा' है। इन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण उपाधियों से रहित विशुद्ध भगवत्सेवा को ही गत पृष्ठों में भक्ति कहा गया है, सर्व-समर्पण कर भगवान् की सेवा तीन प्रकार से की जाती है—तनुजा, वित्तजा,

---

२०. उत न ई मतयोऽश्वयोगाः शिशुं न गावस्तरुणांरिहन्ति।
तमीं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्त॥
—ऋग्वेद १/१८६/७

मानसी। 'तनुजा' सेवा में भक्त अपने शरीर, पुत्र, स्त्री आदि को भगवान् की सेवा में लगाता है। वित्तजा सेवा में वह अपना धन, यश आदि भगवान् को समर्पित करता है। मानसी सेवा जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और एक प्रकार से सबके लिए अनिवार्य भी है, जो मन के निरोध के लिए की जाती है। तात्पर्य यह यह है कि भक्त भगवान् को छोड़ और किसी का चिंतन न करे।

निम्बार्क ने कृष्ण के चरण कमलों की सेवा ही प्रधान मानी है।[२१] पुष्टिमार्ग को तो सेवामार्ग भी कहते हैं। पुष्टिमार्ग प्रमुख रूप से प्रभु-सेवा को ही महत्ता देता है। भक्त किसी भी वर्ण या जाति का हो और किसी भी अवस्था में हो उसका परमधर्म भगवत्सेवा है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने सेवा विधि की सांगोपांग व्यवस्था की है। इस तत्त्व के अन्तर्गत ही विविध सम्प्रदायों की अष्टयाम सेवा भी आती है। दास्य भाव की भक्ति का प्रमुख आधार ही सेवा तत्त्व है।

माहात्म्यज्ञान—माहात्म्यज्ञानपूर्वक जो भगवान् के प्रति गाढ़ एवं सर्वोपरि स्नेह होता है। उसी को भक्ति कहा गया है और उसी से मुक्ति होती है, अन्य किसी प्रकार नहीं।[२२] जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है तथा इस भक्ति में आत्म निवेदन का विशेष महत्त्व है। अतः भक्ति का मूल तत्त्व-महत्त्व की अनुभूति ही है। इस अनुभूति के साथ ही दैन्य अर्थात् अपने लघुत्व की भावना का उदय होता है। जिसे तुलसीदास-जी ने इस प्रकार व्यक्ति किया है।[२३] अतः प्रभु के महत्त्व के समक्ष भक्त के हृदय में अपने आप लघुत्व का अनुभव होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का

---

२१. नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्।
संदृश्यते ब्रह्माशिवादिवंदिताम्॥
भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्य विग्रहां।
दचिन्त्यशक्ते रविचिन्त्य साशयात्॥
—निम्बार्क, दशश्लोकी, श्लोक ८

२२. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहोभक्तिरति प्रोक्तस्या मुक्तिर्नचान्यथा॥
—बल्लभाचार्य—तत्त्वदीपनिर्णय शास्त्रार्थ, प्रकरण ४६

२३. राम से बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो॥
—श्री गोस्वामी तुलसीदास—विनयपत्रिका, दोहा ७२:२

महत्व वर्णन करने में में आनन्द आता है । उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करने में भी आनन्द का अनुभव करता है । माहात्म्यज्ञान का जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा एवं जब तक अहंता का विनाश नहीं होता तब तक प्रभु प्राप्ति असम्भव है । माहात्म्य-ज्ञान होने पर ही प्रेम 'तत्सुखी' बनता है । इसी लिए बल्लभाचार्य के शब्दों में 'भगवान् में माहात्म्यपूर्वक, सुदृढ़ और सतत् स्नेह ही भक्ति है ।'[२४] मुक्ति के लिए इससे सहज उपाय और क्या हो सकता है । भक्ति क्षेत्र में माहात्म्य-ज्ञान इतने गहरे रूप से अवचेतन मन में है कि वह साधक के प्रत्येक कार्य में लक्षित होता है ।

नैरन्तर्य या अविच्छिन्नता—भक्ति में नैरन्तर्य या अविच्छिन्नता का होना अति आवश्यक है, क्योंकि प्रेम-भावना, सेवा, माहात्म्यज्ञान द्वारा भक्त और भगवान के निज सम्बन्धों की तीव्रता नैरन्तर्य द्वारा ही सम्भव है । देवी भागवत में भी तैलधारा के समान नैरन्तर्य को स्वीकृत किया गया है ।[२५] पीछे गीता, भागवत एवं मधुसूदन की परिभाषाओं में इसी की ही अनिवार्यता व्यक्त की गई है; अतः जिस प्रकार शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार भक्ति में तीव्रता तथा भगवान् से सामीप्य प्राप्त करने के लिए नैरन्तर्य की आवश्यकता है ।

अनन्यता—तन्मयता में अनन्यता रहती है । भक्त प्रभु में अपने आपको इतना लीन कर देता है कि उसे छोड़ कर अन्यत्र जाने की रुचि ही नहीं होती । उठते-बैठते, सोते-जागते सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है । ऋग्वेद में एक संवाद है 'हे प्यारे पुरुहूत ! अब तुम्हें छोड़कर मेरे मन की समस्त कामनाएँ तुम्हारे ही अन्दर आश्रित हो गई हैं । हे परम दर्शनीय ! अब तुम राजा की भाँति मेरे हृदयासन पर बैठो और यहीं सोमपान करते रहो ।'[२६] आगे इसी में अन्य किसी भी वस्तु की कामना न करते हुए प्रभु से प्रार्थना की गई है--'हे पाप निवारक प्रभु ! अब मैं अन्य किसी को भी प्राप्त करना नहीं चाहता । केवल तुमको प्राप्त कर मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया । अब मैं प्रत्येक अभिनव कर्म के प्रारम्भ में केवल तुम्हारी

---

२४. डॉ० हरवंशलाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य, पृ० २२६

२५. कल्याणगुण स्तमानामकराणां मयिस्थिरम् ।
पेतसो वर्त्तनं चैव तैलु धारा सम सदा ।।
—देवी भागवत ७/३७/११-१२

२६. न धात्वद्रिक अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरूहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्मनिषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तुते ।।
—ऋग्वेद १०/४३/२

ही स्तुति करना जानता हूँ।[२७]" एक प्रभु ही सारतत्व है और संसार की समस्त वस्तुएँ सारहीन हैं। इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया है--हे सर्ववशी ! हे शक्तिशाली ! हे परम अमूल्य प्रभु ! अब चाहे कोई व्यक्ति मुझे कितना ही लुभाए, कितना ही दे, सौ सहस्र लाख पर, मैं कितने भी मूल्य के बदले में अब तुझे देने वाला नहीं हूँ। तुझ अमूल्य का यह विश्व मूल्य ही क्या लगा सकता है।[२८] अतः ईश्वर अतुलनीय तथा अनुपमेय है। तुलसी ने अपने चातक आदर्श के माध्यम से इसी अनन्यता की ओर संकेत किया है।[२९] निम्बार्क की 'दशश्लोकी' का 'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्'[३०] भी इसी बात को पुष्ट करता है। नारद भक्ति दर्शन में दूसरे आश्रय के त्याग का नाम अनन्यता बतलाया गया है।[३१] विष्णु पुराण में प्रह्लाद जब प्रभु से अविचल भक्ति माँगते हैं, तब इसी अनन्यता की ओर ही संकेत है।[३२] प्रेमी भक्त के मन में अपने प्रियतम के अतिरिक्त और किसी की कल्पना ही नहीं होती। समस्त सन्तों ने अपनी भक्ति में अनन्यता को भक्ति का अनिवार्य अंग माना है जिसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

प्रपत्ति—प्रपत्तिमार्ग वस्तुतः शरणागति का मार्ग है। भक्त इसमें प्रभु के समक्ष अपने आपको समर्पित कर देता है, जो पथ प्रभु की शरण में पहुँचा सके उसी पर भक्त चलता है। पथ पर प्रयाण करते हुए यदि भक्त को विघ्न-व्यूह सताते हैं तो वह अपनी दीनता प्रभु से प्रकट करता है। प्रभु की शरण में जाने पर भक्त आत्महित के अनुकूल सत्कार्यों को करने का संकल्प करता है एवं प्रतिकूल पथ का परित्याग करता है। वह प्रभु गोप्तृस्वरूप का वरण और उसकी रक्षा शक्ति में विश्वास करता है। इसके साथ ही अपने दैन्य का निवेदन करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है। अहिबुध्न्य

२७. न घेय अन्यत् अपपन वज्रिने अपसो नविष्टौ तवेदु स्तोमं चिकेत।
—ऋग्वेद

२८. महे चन त्वा मद्रिवः पराशुल्काय देयाघ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ।
—ऋग्वेद ८/१/५

२९. दोहावली, चातक चौंतीसी, दोहा २७७ से ३१२

३०. निम्बार्क, दशश्लोकी, श्लोक ८ पीछे दिया गया है।

३१. अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।
— नारदभक्ति दर्शन, सूत्र १०, पृ० ७७

३२. नाथ योनिसहस्रेषु येषु प्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
—विष्णु पुराण १/२०/२०

संहिता[33] एवं नारद पांचरात्र[34] में छह प्रकार की प्रपत्तियाँ बतलाई गई हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) **अनुकूलता का संकल्प**—सर्वात्मा तथा सर्वव्यापक परमात्मा को जड़-चेतन में व्याप्त जान जीव मात्र के अनुकूल होना ही प्रपत्ति का प्रथम अंग है।

(२) **प्रतिकूलता का परित्याग**—प्राणी मात्र की हिंसा के अनन्य से बचना प्रतिकूलता का त्याग है।

(३) **रक्षणविषयक विश्वास**—सब प्रकार से भगवान् ही रक्षा करेंगे, यह विश्वास प्रपत्ति का तृतीय अंग है।

(४) **गोप्तृत्ववरण**—कृपावन्त, सर्वशक्तिमान्, प्राणीमात्र के स्वामी भगवान् से संसार निवृत्तिपूर्वक अंगीकार करने के लिए प्रार्थना करना प्रपत्ति का चतुर्थ अंग है।

(५) **आत्मनिवेदन**—उपाय और फल की निवृत्ति और भगवान् को ही सर्वस्व तथा सर्वकार्य समझना आत्मनिवेदन अथवा आत्मसमर्पण है।

(६) **कार्पण्य**—अहङ्कार नाश तथा दीनता के भाव को धारण करना कार्पण्य है।

भागवत में भक्त सारे कर्मों का त्याग कर अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर अनन्य भाव से भक्ति करता है। शरणागतिमूलक अनन्य भाव की भक्ति समस्त कवियों में भी लक्षित होती है।

प्रभु-कृपा—भक्त सदैव अपने स्वामी से प्रार्थना करता है कि वह उस पर कृपा करें। पुष्टि भक्ति में भगवत् कृपा ही नियामक होती है। अतएव इसमें कृपा के सिवाय अन्य साधन का उपयोग नहीं हो सकता। पुष्टिभक्ति में सुदृढ़ स्नेह ही प्रधान है। आत्मभाव से जब जिसके ऊपर भगवान् कृपा करते हैं तब वह पुरुष लोक और वेद में निष्ठा वाली बुद्धि का त्याग कर देता है। इस प्रकार भक्त प्रभु-कृपा रूपी नाव में सांसारिक भवसागर को पार करता है। ब्रह्म के

---

३३. आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्वे वरणतया।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विद्या शरणागतिः॥

—अहिबुधन्यसंहिता ३७/१८

३४. तथाप्रपत्तिरानुकूलस्य संकल्पो प्रतिकूलता।
विश्वासोवर्णनन्यासाः कार्पण्यम् इति षड्विद्या॥

—नारद पाञ्चरात्र; पृ० ४१

आनन्द का अनुभव वही भक्त करता है जिसके ऊपर भगवान् अनुग्रह करते हैं। फलस्वरूप भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है। बल्लभ ने स्पष्ट कहा है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु अनुग्रह द्वारा ही साध्य है।[३५] निम्बार्क सम्प्रदाय में ईश्वरीय सत्ता का अनुभव श्रीकृष्ण की कृपा से उनके अनन्य भक्त को ही होता है। स्वामी हरिदास के सम्प्रदायानुयायियों में स्वामी रसिकदासजी सखी भावप्रसंग में प्रिया प्रधानतापरक एक पद लिखा है।[३६] इन्होंने यहाँ तक कहा कि 'साधन और उद्यम सब व्यर्थ है, एक प्रभु की कृपा ही मुख्य है।' अतः कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की भक्ति में भी प्रभु-कृपा का प्रचुर मात्रा में उल्लेख है।

निष्काम वृत्ति—भक्त ईश्वर को सब कुछ अर्पण कर देता है, ईश्वर ही उसके लिए सब कुछ है। संसार की समस्त वस्तुएँ ईश्वर द्वारा ही बनाई गई हैं, अतः निष्काम भाव से ईश्वर की भक्ति करना ही भक्त का परमध्येय है। ध्रुवदासकृत बयालीस लीला में निष्काम भक्ति से ही सुख की प्राप्ति होती है, क्योंकि वहाँ भक्त का ईश्वर से कभी भी विरह नही होता।[३७] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो नहीं सकती।[३८] श्री मद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि विरागी आशा, तृष्णा आदि कामनाओं से परे होता है।[३९] इसी प्रकार के भाव कबीरदास ने भी अपनी भक्ति में व्यक्त किए

३५. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः —अणुभाष्य ४/४/८

३६. प्यारी जू तैं मोहिं मोल लियौ,
तेरी कृपा तै मदन दल जीत्यौ तेरौ जिवायौ जियौ।
उमड़ी सेन महा मनमथ की तैं अधरामृत दियौ,
"रसिक बिहारी" कहत दीन ह्वै धनि श्यामा को हियौ॥
—श्री रसिकदासजी के पद सं० २

३७. दुख के मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग न तहाँ कछु, रस में ध्रुव सुखधाम॥
—ध्रुवदास—अनुराग लता लीला (बयालीस लीला), पृ० २७३

३८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-चिन्तामणि (भाग १) 'तुलसी का भक्ति मार्ग' (निबन्ध), पृ० २०५

३९. कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ५/११/६५

हैं ।[४०] निष्काम अवस्था तक पहुँचने के लिए सभी अभिलाषाओं की पूर्णाहुति आवश्यक है । इस अवस्था में साधक को सुख-दुःख दोनों की चाह नहीं करनी चाहिए ।[४१] जब साधक इस निस्पृहावस्था तक पहुँचता है, तब भगवान् से मिलन हो जाता है । भक्ति ऐसी होनी चाहिए जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे । इस प्रकार की निष्काम भक्ति द्वारा ही परम आनन्द की उपलब्धि होती है ।[४२] अतः निष्काम वृत्ति का प्रमुख लक्ष्य भगवद्-प्राप्ति और ईश्वर-प्राप्ति है ।

सर्वजन सुलभता—इस भावना का विकास निश्चय ही भक्ति क्षेत्र में सन्तों द्वारा होता आया है । गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने इसकी सर्वजनीनता की घोषणा की है ।[४३] गौणीय वैष्णव मत में जीव मात्र का साध्य भगवत्प्रेम ही बतलाया गया है ।[४४] गीता में भगवान् ने कहा है, मैं समस्त भक्तों में एकीभाव से स्थित हुआ, अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक द्वारा नष्ट करता हूँ ।[४५] इस प्रकार भक्ति भावना सृष्टि की व्युत्पत्ति के साथ ही लोक-चेतना से भी सम्पृक्त रही है । इसका प्रमुख कारण परमात्मा का सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होना है । क्या स्थावर-जंगम, क्या कीट-पतंग सब में वह व्याप्त

---

४०. जब लगि भगति सकाम है, तब लगि निरफल सेव ।
कहै कबीर वह क्यों मिलै, निहकांमी निज देव ॥
—कबीर ग्रन्थावली (सं०-डॉ० पारसनाथ तिवारी), उपदेश चितावनी कौ अंग, साखी ४६, पृ० १६२

४१. आशा का ईंधन करौं, मनसा करौं भभूत ।
जोगी फेरी फिल करौं यौं बिन नाऊँ सूत ॥
—वही, "माया कौ अंग", साखी २८, पृ० २३८

४२. डॉ० हरवंशलाल शर्मा : भागवत दर्शन ।

४३. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशुद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ६/३२/१५६

४४. हकीम श्यामलाल—श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्त रत्न-संग्रह, पृ० १६५

४५. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १०/११/१६२

है।[४६] अतः घट-घट, जल-थल, काष्ठ, पाषाण, निगम-आगम, वेद तथा पुराणों में भी सर्वव्यापी ईश्वर का निवास है।[४७] सात पाताल, तीन लोक, चौदह भुवन, बाहर-भीतर सर्वत्र वही विराजमान है। दूध में पानी और फूलों में पराग के समान वह भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है और सबके दिलों में मौजूद है। वह सबका साक्षी है, इसलिए सबको कृष्णमय ही देखना चाहिए।[४८] इसी कारण सर्वजनीनता की भावना सर्वश्रेष्ठ है।

भक्ति के विविध रूप

भक्ति के भेद विभिन्न दृष्टियों से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यदि हम उपासक या भक्ति की भावनाओं के विकास की दृष्टि से देखें तो भक्ति के तीन भेद हो सकते हैं : (क) श्रद्धा भक्ति, (ख) भावना भक्ति, (ग) शुद्धा भक्ति।

(क) **श्रद्धा भक्ति**—यदि हम उपास्य के प्रति श्रद्धा रखें और स्नेह में तल्लीन होकर उसे नमस्कार करें या उसकी प्रशंसा करें तो वह श्रद्धा भक्ति कही जा सकती है।[४९]

(ख) **भावना भक्ति**—जब हम एक में अनेक और अनेक को एक में देखते हैं एवं अनेक की सेवा के द्वारा ही एक की सेवा करने का प्रयत्न करते हैं, तब हमारे कार्य में भी एक गहरी एकान्त भावना की अनुभूति होती है तो हम उसे भावना भक्ति की संज्ञा देते हैं।

(ग) **शुद्धा भक्ति**—जब भक्त ईश्वर या अपने आराध्य देव को निर्गुण-सगुण तथा अवतार रूप में स्वीकार करता है और उसके प्रति अपने अविरल प्रेम का प्रदर्शन करता है, तब वह शुद्धा भक्ति कहलाती है।

रूप गोस्वामी की दृष्टि से भक्ति के भेद

रूप गोस्वामी ने भक्ति के साध्य तथा साधन दो भेद किए हैं। साध्य भक्ति को ही भाव भक्ति, पराभक्ति आदि नामों से अभिहित किया जाता है। साधन मार्ग की भक्ति को गौणी भक्ति कहा जाता है। गौणी भक्ति दो प्रकार की है : वैधी

---

४६. थावर जंगम कीट पतंगा, सत्य राम सबहिन के संगा ॥
—सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली (सं० डॉ० भागीरथ मिश्र तथा डॉ० राजनारायण मौर्य), पद ३०

४७. सखे भूत नानां पेषूं, जत्र जाऊँ तत्र तूं ही देषूं।
जल थल मही थल काष्ट पषानां, आगम निगम सब वेद पुरानां ॥
—वही, पद १२

४८. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, जम्भोजी विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य।

४९. Bhagwat Kumar : The Blakti Cult in Ancient India, p. 3

तथा रागानुगा।[50] इनमें से वैधी भक्ति का अर्थ शास्त्रोक्त विधि निषेध का पालन करते हुए भक्ति करना है। रागानुगा भक्ति का अर्थ प्रेम की महत्ता को ही भक्ति में प्रतिपादित करना है। वैधी भक्ति का स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास का मानस है। इसमें उपास्य मर्यादा पुरुषोतम हैं और उपासक मर्यादापालक इष्ट के ऐश्वर्य, शक्तिशील-सौन्दर्य के ज्ञान और अनुभूति से सम्पन्न। रागानुगा भक्ति में उपास्य हैं प्रेमस्वरूप लीला-पुरुषोत्तम माधुर्य भाव कृष्ण और उपासक हैं—राधा तथा गोपियाँ। उपासक भक्त भगवान् से प्रेमासक्ति रखता है। लोक, वेद, मर्यादा तथा समाज के अपवादों को उसे तनिक भी चिन्ता नहीं। प्रेमासक्ति जब भक्ति का व्यसन बन जाती है, तभी उसे पूर्ण रागानुगा भक्ति कहा जा सकता है। यह भक्ति भगवान् की अनुकम्पा से ही प्राप्त होती है।

रागानुगा भक्ति—इसके दो भेद बन जाते हैं—कामानुगा और सम्बन्धानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति के दो भेद हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा।[51]

भगवान् के पिता, माता, सखा आदि भावनाओं से भावित होकर जो यथोचित रूप से रागमयी सेवा करते हैं, उनकी उस रागमयी भक्ति को सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। रागात्मिका कामरूपा भक्ति वह है जिसमें उपर्युक्त प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि कामरूपा एवं सम्बन्धरूपा दोनों में ही राग तो अवश्य है, किन्तु सम्बन्धरूपा भक्ति में सम्बन्ध-विशेष का अभिमान ही भगवत्सेवा का प्रयोजक है। कामरूपा में ऐसा कोई अभिमानहेतु नहीं है। ब्रजलीला में सम्बन्धरूपा रागात्मिका के पात्र हैं—श्रीनन्द, यशोदादि पितृ-मातृ वर्ग, सुबल, मधुमगलादि सखा वर्ग एवं दासवर्ग तथा कामरूपा रागात्मिका के पात्र हैं—मधुर भावभक्ति श्री ब्रज सुन्दरियाँ।

कामानुगा के भी दो भेद हैं—संभोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। केलि सम्बन्धी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम संभोगेच्छामयी और यूथेश्वरी ब्रज देवियों के भाव। माधुर्य-प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्-भावेच्छामयी है। वैधी तथा रागानुगा दोनों साधन के पक्ष के अन्तर्गत हैं। जब भक्त सब कामनाओं से रहित होकर पूर्णशान्ति की अवस्था को पहुँचाता है—तब ईश्वर के परमप्रेम में निमग्न होता है। भक्त की इस अवस्था को 'पराभक्ति'

---

५०. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधन मिधा।

—हरिभक्तिरसामृत-सिंधु (रूप गोस्वामी), पूर्व विभाग, श्लोक ३

५१. सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा।

—हरिभक्तिरसामृत-सिंधु (रूप गोस्वामी), पूर्व विभाग २, श्लोक ६३

कहते हैं। गौणी भक्ति को साधन भक्ति और पराभक्ति को साध्य भक्ति कहते हैं। साधन भक्ति और साध्य भक्ति क्रमशः मर्यादा भक्ति और स्वरूपभक्ति भी कहलाती है।

साधन रूप भक्ति के उपासक, उपास्य, पूजा द्रव्य, पूजा विधि और मन्त्र-जप पाँच अंग माने गए हैं। तन्त्रों में मन्त्र जप को विशेष महत्त्व दिया गया है और इसके फिर पाँच तत्त्व गुरु-तत्त्व, मन्त्र-तत्त्व, मनः-तत्त्व, देव-तत्त्व, ध्यान-तत्त्व माने हैं।

श्रीमद्भागवत में भक्ति-भेद

श्रीमद्भागवत में भक्ति के कई प्रकार बतलाए गए हैं। पहले पहल मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार सात्विकी, राजसी, तामसी, निर्गुण चार भेद माने गए हैं।

सात्त्विकी भक्ति—यह भक्ति युक्ति की कामना से की जाती है। सत्वगुण तो निर्मल होने के कारण सुख की और ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाँधता है।[५२]

राजसी भक्ति—यह भक्ति धन, कुटुम्ब, घर-बार की इच्छा से की जाती है।[५३]

तामसी भक्ति—इसमें यह कामना रहती है कि दूसरों का अहित हो जाए, दुश्मनों का नाश हो जाय।[५४]

निर्गुण भक्ति—यह 'सुधासार' भक्ति भी कहलाती है, बिना किसी कामना के की जाती है। इसमें मुक्ति की भी इच्छा नहीं करती, यही अनन्य भक्ति है। जो अनन्य भक्ति की साधना करता है, उसका न कोई मित्र है न कोई शत्रु ही। उसे जगत् के दुःखों का संताप नहीं होता और वह भगवान् के दर्शन मात्र से परमानन्द का अनुभव करता है।

नवधा भक्ति

भक्तराज प्रह्लाद ने भक्ति के नौ भेद बतलाए हैं —

---

५२. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥
—श्रीमद्भागवद्गीता १४/६/२२४

५३. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥
- श्रीमद्भगवद्गीता, १४/७/२२५

५४. अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ॥
—श्रीमद्भागवत ३/२९/८

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।[५५]

उपर्युक्त नौ प्रकार की भक्ति का विस्तृत निरूपण नारद पाञ्चरात्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, भक्ति तरंगिनी, श्रीमद्भागवतगीता आदि वैष्णव ग्रन्थों में हैं। देवर्षि नारद ने भक्तिसूत्र ८२ में--गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति--इन ग्यारह प्रकार की आसक्तियों का उल्लेख किया है।[५६]

गुणमाहात्म्यासक्ति में श्रवण और कीर्तन का तत्त्व प्राप्त है। रूपासक्ति और पूजासक्ति में पाद-सेवन, अर्चन और वन्दना निहित है। स्मरणासक्ति एवं आत्म-निवेदनासक्ति में स्मरण, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन ही है। इस नवधा भक्ति को सुन्दरदास ने भी स्वीकृत किया है।[५७] रामचरितमानस में तुलसीदासजी ने भागवत से भिन्न नवधा भक्ति का उल्लेख किया है।[५८] स्वामी चरणदासजी ने साधु-संगति, भक्ति, सेवा, धैर्य, दृढ़ता, क्षमा, शील, संतोष, दया आदि समस्त तत्त्वों को भक्ति के अन्तर्गत माना है।[५९]

गौणीय वैष्णवों की वैधी भक्ति के एकादश लक्षणों में शरणागति तथा गुरु-सेवा के अतिरिक्त अन्तिम नौ भागवत के ही समान हैं। अन्यत्र इसके चौंसठ भेद

---

५५. वही, ७/५/२३

५६. एकाधाप्येका दशधा भवति।
—नारदभक्तिदर्शन, सूत्र ८२; पृ० ४०७

५७. सुनि सिख ! नवधा भक्ति विधानं, श्रवण, कीर्तन, सुमरण जानं।
पाद सेव, अरु चरनन बन्दन, दासभाव सिखत्वसमरख्यनं ।।
—सुन्दरदास : ज्ञानसमुद्र, चौ० ६, पृ० ८

५८. प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरी भक्ति अमान।
चौथी भक्ति ममगुणगण, करै कपट तजि गान ।।
मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा, पंचम भजन से वेद प्रकासा।
षट दम शील विरति बहुकर्मा, निरत निरन्तर सज्जन धर्मा।
संतई सब मोहिं मय जग देखे, मोते सन्त अधिक कर लेखे ।।
अंठई यथा लाभ सन्तोषा, सपनेहुँ नहि देखे परदोषा ।।
नवम सरल सब सो छलहीना, मम भरोस हिय हर्षदीना ।।
—रामायण, अरण्यकाण्ड, पृ० ६०५-६०६

५९. स्वामी चरणदास—'भक्तिसागर ग्रन्थ' पृ० २०६

बतलाए गए हैं।[६०] वैधी भक्ति वैष्णव शास्त्रों में निर्धारित उपासना विधि से अनुशासित है, जैसा कि पीछे भी बतलाया जा चुका है। इसीलिए कृष्णराज कविराज ने वैधी भक्ति को हीन कोटि की भक्ति मानते हुए कहा है कि इसमें निष्ठा उपजती है और प्रेम की उत्पत्ति होती है।

रति के अनुसार भक्ति के भेद

रति के अनुसार भक्ति के पाँच भेद माने गए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरा।[६१] कुछ भक्त वैराग्य भाव से, कुछ दास्य भाव से, कुछ श्रृंगार भाव से, कुछ सखा भाव से और कुछ पुत्र भाव से भगवान् की उपासना करते हैं। शान्त भक्ति में विरक्ति, सेव्य-सेवक भाव में अनुवृत्ति, सख्य भाव में प्रीति और वात्सल्य में स्नेह की प्रधानता है। मधुर भाव में इन सबका समावेश हो जाता है। अब हम इन समस्त भक्ति का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

शान्त भक्ति—साहित्य-दर्पण में शान्त रस की निम्नलिखित व्याख्या मिलती है—"दुःख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष और इच्छा से रहित भाव को 'शान्त' कहते हैं। शान्त रस में शम की प्रधानता होती है।[६२] तुलसीदासजी के काव्यों में शान्त रस एक केन्द्रीय रस है। संसार के अनेक झकोरों में पड़कर भी तुलसीदास ने शान्ति की डोर हाथ से नहीं छोड़ी थी। शान्ति की सीमा में किसी तरह पहुँचना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। जीवन के अन्तिम भाग में जहाँ वे अनेक प्रबल मनोविकारों से लड़-झगड़ कर बचे हुए पहुँचे थे, शान्ति

---

६०. एस० के० डे०—वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट, पृ० २८०-२८२

६१. शांत दास्य सख्य वात्सल्य और सिंगार चारु।
पाँचो रस सार विस्तार नीके गाये हैं॥
टीका को चमत्कार जानेंगे विचारि मन।
इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं॥४॥
—नाभादास—भक्तमाल, पृ० १२

तथा

भक्त भेदे रति भेद पंच परकार। शान्त रति दास्य रति सख्य रति आर॥
वात्सल्य रति मधुर रति पंच विभेद। रति भेदे कृष्ण भक्ति रस पंचभेद॥
शान्त दास्य सख्य वात्सल्य मधुर रस नाम॥
—चैतन्यचरितामृत, परि० १९, पृ० २५२

६२. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १७७

की चौड़ी सड़क पाकर वे उस पर दौड़ने से लगे थे। विनयपत्रिका उनके शान्ति-साम्राज्य तक पहुँचने के लिए एक राजमार्ग ही तो है।[६३] मानस और विनय-पत्रिका को हम आत्मशान्ति के लिए तुलसीदास के अन्तर्नादों का संग्रह कहें, तो अत्युक्ति न होगी।

दास्य-भक्ति—दास्य-भक्ति में भक्त प्रभु को अपना स्वामी और इष्टदेव समझता है तथा अपने को उसका दास्य, सेवक और अनुचर। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता जो उसके स्वामी को रुचिकर न हो। प्रभु की रुचि उसकी अपनी रुचि बन जाती है, इसी हेतु भक्ति की भूमिका में दास्य भक्ति का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। ऋग्वेद में दास्य-भक्ति का वर्णन इस प्रकार है—हे परमैश्वर्य-सम्पन्न स्वामी! मेरा जो कुछ है, आपके लिए ही है। मैं आप जैसे रक्षक के दान में हूँ। आप जहाँ कहीं भी मेरा उपयोग करेंगे, उससे मेरा भला ही होगा। नाथ मुझे अब अपने समीप रहने का स्थान दो जिससे मैं तुम्हारी सेवा में निरत रहूँ। अतः भक्त भगवान् को स्वामी और स्वयं को सेवक कहता है। भगवान् संरक्षक तथा भक्त-पाल्य है।[६४] रूप गोस्वामी ने दास्य भक्ति के दो भेद माने हैं—सम्भ्रम और गौरव। प्रथम भाव में भक्त में प्रभु के प्रति आश्रित आज्ञा-कारी एवं विश्वास का भाव होता है तथा ज्ञान से उसमें बुद्धि आती है। द्वितीय भाव में भगवान् द्वारा रक्षित और पालित होने की इच्छा निहित है।

दास्य भक्ति में प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान के साथ ही शरणागति का भाव सन्निहित है। सेवक और सेव्य का भाव इस भक्ति का मूल तत्त्व है जो रामचरितमानस में वर्णित है।[६५] दास्य भक्ति में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हनुमान

---

६३. कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा, काहूसों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर, मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भगति लहौंगो॥
—विनय-पत्रिका, पद १७२, पृ० २८०

६४. त्वावते हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवि तुः शुररातौ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृष्णुष्व हरिवो नमर्धीः॥
—ऋग्वेद ७/२५/४

६५. सेवक सेव्य प्रभाव बिन, भव न तरिय उरगारि।
——रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ० १०५३

हैं, शिव-पार्वती से उनके सम्बन्ध में कहते हैं।[६६] सूरदासजी ने सेवक और सेव्य के मध्य दैन्य भाव को महत्त्व दिया जो दास्य-भक्ति की पुष्टि करते हैं। सेवक अपने स्वामी से सदैव रक्षा की प्रार्थना करते हैं।[६७] रामानुज एवं रामानन्द सम्प्रदायों में दैन्य एवं दास्य भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

सख्य भक्ति—जो हृदय विकारों से विहीन, प्रपंच से पृथक् और राग से रहित हो चुका है, वही प्रभु के सखा भाव को प्राप्त करता है। भक्ति-साधना में यह सर्वोच्च कोटि की भाव-स्थिति मानी गई है।

ऋग्वेद में कहा गया है—"वह सतत् समर्थ परमेश्वर जिनका सखा है, वे ही सच्चे शूरवीर हैं। वे युद्ध नहीं करते, पर अपने सात्विक बल से अनेक योद्धाओं के बल को पराजित कर सकते हैं।[६८] प्रभु! तुम्हीं हमारे बंधु और सम्बन्धी हो। तुम्हीं हमारे प्रिय मित्र हो और तुम्हीं सखाओं के लिए स्तुति के योग्य सखा हो तथा प्रभु देवों के भी देव हैं, अद्भुत मित्र हैं, वसुओं के वसु हैं। ······प्रभु की सख्य मित्रता में रहने वाले का कभी विनाश नहीं होता।[६९] कृष्ण-भक्ति तथा राम-भक्ति में भी सख्य भाव का प्रमुख स्थान है। कृष्ण-काव्य में केवल कृष्ण की गोप-लीलाओं तथा राम-काव्य में दास्य और सेवक भाव से सम्बन्धित लीलाओं की ही चर्चा नहीं की है, वरन् पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र और मित्रता की समस्त छायाओं को भी अत्यधिक यथार्थ एवं मनो-वैज्ञानिक भूमि पर रखा है।

निर्गुण मतावलम्बी सगुण लीला में विश्वास नहीं करते, इसलिए सख्य भाव वहाँ अछूता है।

वात्सल्य भक्ति—वात्सल्य रस का साधारण अर्थ वत्स-सम्बन्धी प्यार होता है। वात्सल्य भावना का क्षेत्र व्यापक है। मानव क्षेत्र को अतिक्रान्त कर यह

---

६६. हनुमान सम को बड़ भागी, नहिं कोउ रामचरण अनुरागी।
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई, बार-बार प्रभु निजमुख गाई॥
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ४९, चौपाई ४, पृ० ८८४

६७. अब कैं राखि लेहु भगवान्।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया, पारधि साधें बान।
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?
—सूरसागर-सार (सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), दोहा १८, पृ० २१

६८. अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥
—ऋग्वेद, ८/४५/३

६९. अथर्ववेद १/९४/१३

पशु एवं पक्षियों तक में भी पायी जाती है। वेद में वात्सल्य भाव की दृष्टि से प्रभु को माँ और भक्त को बच्चा कहा गया है।[७०] मध्यकालीन भक्त कवियों ने बाल-रूप वर्णन में ईश्वर को बालक और स्वयं को माँ का रूप दिया है। जिस प्रकार बच्चे के प्रति माँ में ममत्व की भावना होती है, उसी भाँति भक्त में भगवान् के प्रति ममत्व होता है। सूरदास, परमानन्ददास, तुलसीदास आदि कवियों ने शृंगार रस के साथ वात्सल्य रस को भी अपने काव्य में यथोचित स्थान दिया है। कृष्ण की बाल-लीला, यशोदा एवं कौशल्या का मातृ-प्रेम, कृष्ण की अभिलाषा, उत्सुकता, गर्व तथा उत्साह आदि स्थलों में वात्सल्य का अनूठा वर्णन है।

बाल लीला वर्णन करने में सूर अद्वितीय हैं। सूरसागर में बाल-कृष्ण के अनुपम दर्शन होते हैं। कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं में स्पर्धा, प्रतियोगिता, उद्वेग आदि बालक का स्वाभाविक चित्रण है। सूर का बाल-स्वभाव हृदय को मोहने वाला है।[७१] तुलसीदास के काव्य में भी बालक की स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन है।[७२] परमानन्द दासजी ने भी कृष्ण की बाल-लीला का वात्सल्य रस में सुन्दर वर्णन किया है।[७३] गोविन्द स्वामी ने भी प्रतिदिन की दिनचर्या का वर्णन करते हुए वात्सल्य रस का का अनूठा वर्णन किया है।[७४] छीतस्वामी भी बालक के मुखारविंद पर बलि-बलि जाते हैं।[७५] इस प्रकार प्रायः समस्त सगुणो-

---

७०. त्वं हि नो पिता वसो त्वं माता।—ऋग्वेद ८/६/७२

७१, सोभित कर नवनीति लिए।
घुटुरुनि चलय रेनु तन-मंडित मुख दधि लेप किये।
—सूरसागर-सार (सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा) गोकुललीला, पद १८, पृ० ३५

७२. आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील जलद तनु स्याम राम सिसु जनमि निरखि मुख निकट बोलाए॥
—गीतावली, पद सं० २६, पृ० ६४

७३. बाल विनोद खरे जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे को हरि हुलसि घुटुरुवन धावति॥
—परमानंद सागर, पद १०४, पृ० ४८

७४. प्रात समै उठि जननि जसोदा, गिरधर सुत को उबटि न्हवावे।
करति सिंगार बसन-भूषन लै, फूलनि रुचि-रुचि फाग बनावे॥
—गोविंद स्वामी, कांकरौली, पद २६६, पृ० १२०

७५. लाडिले श्री वल्लभ राजकुमार।
बलि बलि जाऊँ मुखारविंद की, सुंदर अति सुकुमार॥
—छीत स्वामी, कांकरौली, पद ३४, पृ० १३

पासक भक्ति कवियों की रचनाओं में इसका समावेश मिलता है। निर्गुणोपासकों में इसका अभाव है। कहीं-कहीं प्रतीक रूप में ईश्वर की पिता के रूप में चर्चा हुई है।

मधुरा भक्ति—मधुरा-भक्ति को प्रेम या कान्ता भक्ति भी कहते हैं। भक्त-भामिनी एवं भगवान् प्रियतम का शाश्वत केलि-विलास ही मधुरा भक्ति का विषय है। लोक में पति-पत्नी प्रेम में अद्भुत आकर्षण रहता है। यहाँ पति प्रिय है और पत्नी प्रेमिका। पति भी पत्नी से प्रेम करता है; पर वह पत्नी के प्रेम की समता नहीं कर सकता। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम पर जो एक पति और कई पत्नियों की सम्भावना का विधान हमारे यहाँ कार्य कर रहा है, वह भी अध्यात्म क्षेत्र की भक्ति-भावना से प्रभावित है। अध्यात्म क्षेत्र में प्रभु एक और भक्त अनेक हैं, इसी प्रकार गृहस्थ धर्म में पति एक है, पर पत्नियाँ कई हो सकती हैं। अतः शृंगार प्रेम की भक्ति को ही मधुर भाव की भक्ति कहा जाता है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने शृंगार और उज्ज्वल के सम्बन्ध में यह टिप्पणी दी है—"यह शृंगार रस इसी जगत् को कला माध्यम से ग्रहण करने के कारण परलौकिक चर्वणा करता है जहाँ स्वयं प्रभु (न कि पात्र या नट) ही विभाव हो जाते हैं। ऐसे पार-लौकिक मधुर रस का वर्णन करने वाला व्यक्ति सहृदय सामाजिक सुमनस रसिक आदि की अपेक्षा 'प्रभु-भक्त' है।[७६] इस प्रगार शृंगार रस का भक्तिपरक प्रतिपादन ही मधुराभक्ति है। डॉ० राघवन् के अनुसार 'मधुर', 'शृंगार' अथवा 'उज्ज्वल भक्ति रस के ही रूप हैं।[७७] अतः जड़ जगत् में जो शृंगार का स्थान है, वही चिद्-जगत् या भाव-जगत् में मधुर रस का।[७८] अतः भक्त के भाव मन को ऐन्द्रिय विषयों से हटाने के लिए एक उत्तम साधन बनाया गया है। इसी लिए मधुरा भक्ति के सम्बन्धों में अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता, सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते है। मधुर रस में शृंगार रस का अभिग्रहण भक्ति भाव में बाधक नहीं होता।

दाम्पत्य भाव—दाम्पत्य-भाव अत्यन्त व्यापक एवं उदात्त भाव है। दाम्पत्य भाव सूत्र को प्रत्येक काल के भक्त एवं सन्त कवियों ने स्वीकृत किया है। परमात्मा को प्रियतम के रूप में तथा अपने आपको उसकी प्रियतमा के रूप में मानकर ईश्वर-प्रेम की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना की है। आत्मा और परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय, मिलन-प्रसंग आदि मधुर भाव दशाओं को लेकर कबीर

७६. डॉ० रमेश कुन्तल मेघ—मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्य, पृ० १

७७. Dr. V. Raghavan—The Number of Rasas, p. 130

७८. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—सहजसाधना, पृ० ८६

आदि सन्त कवियों ने राजा राम को अपना 'पिउ' और अपने को उनकी 'बहुरिया' के रूप में परिकल्पित कर संयोग एवं विप्रलम्भ मधुर भक्ति रस की अवतारणा की, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूफ़ी फकीरों ने उसी परमात्मा को माशूक तथा साधक को आशिक के रूप में परिकल्पित कर आध्यात्मिक प्रेम-पीर का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। सोलोमन के श्रेष्ठ गीत दाम्पत्य प्रेम-भाव से ओतप्रोत हैं। अतः दाम्पत्य प्रेम अत्यन्त व्यापक एवं आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य का प्रतीक है। नर-नारी के रूप में दो हृदयों की अभिन्नता अखिल विश्व जीवन की एकता के अनुभव पथ का द्वार है। दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप ही मधुर भक्ति रस का उत्स है।

संतों द्वारा गृहीत भक्ति के विभिन्न रूप—ऊपर भक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन किया जा चुका है। अब संतों में गृहीत भक्ति-भावना के विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाएगा, जो इस प्रकार है—शान्त, दास्य एवं मधुराभक्ति। संतों ने इन्हीं तीन भक्तियों को वर्णित किया है।

शान्त भक्ति— शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। वह निर्वेद जो तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न होता है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि भावों से प्रेरित होकर भक्तों ने जो पद लिखे हैं वे शान्ति भक्ति के ही पद हैं, क्योंकि संसार से तो भक्त पूर्ण रूप से विरक्त हो जाते हैं। इन भक्तों में दो विशेषताएँ पाई जाती हैं—प्रथम कवि संसार के नाना रूपों और व्यवहारों का तिरस्कार करता दीख पड़ता है और द्वितीय भगवान् की अनुकम्पा और भक्ति वत्सलता का वर्णन करता तथा अपनी हीनता का परिचय देता हुआ दिखलाई देता है।

कबीरदास, मलूकदास, सहजोबाई, दूलनदास, चरणदास, जगजीवन साहब, सुन्दरदास, भीखा साहब, गुलाल साहब, दयाबाई, गरीबदास तथा पलटू साहब प्रभृति सन्तों की बानियों में वैराग्य भाव लक्षित होता है। मलूकदास संसार की नश्वरता तथा कबीर की क्षणभंगुरता का उपदेश देकर वैराग्य की स्पष्ट व्यंजना करते हैं।[७९] सहजोबाई भी ईश्वर को याद करना ही मानव का परम ध्येय मानती हैं, क्योंकि जिस देह का हम ध्यान रखते हैं. वह भी अपनी नहीं है।[८०]

७९. इस जीने का गर्व क्या, कहाँ देह की प्रीत।
बात कहत ढहजात है, बारू की सी भीत॥
देंही होय न आपनी, समुझि परी है मोहिं।
अबहीं ते तजि राख तूं, आखिर तजि है तोहिं॥
—सन्त-बाणी संग्रह (सं० वियोगी हरि), मलूकदास, भाग १, पृ० १०१

८०. सहजो भज हरि नाम कूं, तजो जगत सूं नेह।
अपना तो कोइ है नहीं, अपनो सगो न देह॥
—वही, सहजोबाई, पृ० १५६

दयाबाई समस्त संसार को स्वार्थी तथा क्षणभंगुर बतलाती हैं।[८१] सन्त दूलन-दास प्रेमी की चादर ओढ़ने तथा नाम की धुन से समस्त दुष्कर्मों को धोने को कहते हैं।[८२] गुलाल साहब ने भी मन को फटकारते हुए कहा है कि तू हरि का गुण क्यों नहीं गाता, व्यर्थ ही जीवन गँवाता है।[८३] इसी प्रकार सन्त चरणदासजी ने जीवन के अंतिम क्षणों में आने वाली विपदा के प्रति मनुष्य को सचेत रहने को कहा है। अंत समय में सगे-सम्बन्धियों में कोई भी अपना नहीं रहता। सांसारिक दल-दल में फँसे हुए मानव को अंत समय के दुष्परिणाम को स्वयं ही भुगतना पड़ता है, क्योंकि अंत समय में हितैषी परिवार इतना ही करता है।[८४] अतः सन्त जगजीवन साहब अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि भगवान् का नाम स्मरण करो तथा समस्त झूठी आशाओं का परित्याग करो।[८५] सन्त सुन्दरदासजी की अवधारणा है कि भाग्य में जितना धन लिखा है उतना ही

---

८१. (१) 'दया कुँवर' या जक्त में, नहीं आपनो कोय।
स्वारथ-बंधी जीव है, राम नाम चित जोय।।
(२) जैसो मोती ओस को, तैसो यह संसार।
बिनसि जाय दिन एक में, दया प्रभू उरधार।।
—वही, दयाबाई, पृ० १७०

८२. वही, भाग २, दूलनदास, पृ० १६१

८३. वही, गुलाल साहिब, पृ० २०६

८४. कछु मन सुधि राखो वा दिन की।
जा दिन तेरी देह छुटैगी, ठौर बसौगे बन की।।
जिनके संग बहुत सुख कीन्हे, मुख ढकि ह्वैहैं न्यारे।
जम का त्रास होय भाँति, कौन छुटावन हारे।।
देव पितर तेरे काम न आवैं, जिनकी सेवा लावै।
चरनदास सुकदेव कहत है, हरि बिन मुक्ति न पावै।।
—वही, चरणदास, पृ० १८१-१८२

८५. तजु आसा सब झूठ ही संग साथी नहि कोय।
कोउ केहू न उबारही, जेहि पर होय सो होय।।
—संतबानी संग्रह (सं०—वियोगी हरि), भाग १, पृ० ११७

सत्तनाम जपु जीयरा, और बृथा करि जान।
माया तकि नहि भूल सी, समुझि पाछिला ज्ञान।।
वही, पृ० ११९

मानव को प्राप्त होगा, हाय-हाय करने से कुछ भी नहीं होगा,[८६] अतः शान्ति-पूर्वक ईश्वर की आराधना करनी चाहिए। यह मानुष देह चौरासी योनियों के पश्चात् अति ही कठिन रूप में उपलब्ध होती है,[८७] अतः पलटू साहब जमपुर जाने की चेतावनी देते हुए राम का नाम लेने का उपदेश मानव को देते हैं।[८८] गरीबदासजी ने मानव देह को माटी कहकर पुकारा है।[८९] अतः समस्त सन्तों ने उपदेश और चेतावनी के माध्यम से शान्त भक्ति को वर्णित किया है। हम कह सकते हैं कि संसार की अस्थिरता के ज्ञान से, नाना प्रकार की वासनाओं के त्याग से और ज्ञान द्वारा प्राप्त की गई चित्त की स्थिर अवस्था से, भक्त के हृदय में जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसे 'शान्त भक्ति' कहते हैं।

दास्य भक्ति—दास्य भक्ति में सेवा या ममता का गुण अधिक रहता है जिससे विश्वासपूर्ण मैत्री भाव का आविर्भाव हो जाता है। तुलसीदास के काव्य में दास्य भक्ति की अधिकता है जैसा 'रामचरितमानस' में महाकाव्य होने के कारण प्रधान रस के अतिरिक्त सभी रसों का वर्णन हुआ है। रामकाव्य के अन्य ग्रन्थों में भी विविध रसों का निरूपण है जिसमें प्रधानता दास्य भक्ति की है।

निर्गुण सन्तों ने अपने को सेवक और प्रभु को स्वामी मानकर दास्य भक्ति का निरूपण किया है, आत्मनिवेदन के माध्यम से अपने भगवान् को रिझाने

---

८६. तू कछु और विचारत है नर, तेरो विचार धर्योहि रहैगो।
कोटि उपाय करै धन के हित, भाग लिख्यो तितनोहि लहैगो॥
—वही, भाग २, पृ० १२३

८७. मन मानि ले तू कहल हमार, फिरि-फिरि मानुष जनम न पैहौ, चौरासी औतार
पागा माया बिषै मिठाई काम क्रोध रत सोई।
सुर नर मुनि गन गंधर्व कछु-कछु, चाखत है सब कोई॥
—वही, भाग २, भीखा साहब, पृ० २०८

८८. पलटू नर तन पाइकै, भजै नहीं करतार।
जमपुर बाँधे जाहुगे, कहौं पुकार-पुकार॥
पलटू हरि जस गाइ ले, यही तुम्हारे साथ।
बहता पानी जातु है धोउ सिताबी हाथ॥
—वही (भाग १), पलटू साहिब, पृ० २१५

८९. यह माटी का महल है, तासे कैसा नेह।
जो साईं मिलि जात है, तौ पारायन देह॥
—वही, गरीबदास, पृ० १८९

का सन्तों ने प्रयास किया है, इसके विनती-सम्बन्धी समस्त पद दास्य भक्ति के ही हैं।

सन्त दरिया साहब (बिहार वाले) अपने साहब से त्रुटियों की क्षमा-याचना करते हैं तथा सेवक भाव से अपने स्वामी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि मैं तो गरीब निवाज हूँ, अतः आप मेरी लाज रखो। मेरी आपसे केवल यही प्रार्थना है कि मुझे युग-युगान्तर अमर पद की प्राप्ति हो।[९०] गुलाल साहब भगवान् के समक्ष अपने को अनाथ घोषित करते हैं, अतः अनाथों के स्वामी आप मुझे पार लगाइए।[९१] भीखा साहब स्वामी प्रभु से सेवक पर सदैव दया करने के लिए प्रार्थना करते हैं।[९२] सेवक का ध्यान तो एक स्वामी ही रख सकता है, क्योंकि सेवक की हँसी होने पर स्वामी की भी हँसी होती है।[९३] इस प्रकार सन्तों ने आत्म-निवेदन तथा विनती के माध्यम से दास्य-भक्ति का वर्णन किया है।

मधुरा भक्ति—सन्तों की वाणियों में मधुरा भक्ति भी विवृत है। कान्ता-भावपरक मधुरा भक्ति का वर्णन अधिकांशतः है। समस्त सन्तों ने आत्मा को नारी और परमात्मा को पति मानकर मधुरा भक्ति की अभिव्यक्ति की है। सगुण काव्य के सन्तों में तो पति-पत्नी का निर्मम भाव वर्णित है। निर्गुण काव्य के सन्तों में भी पत्नी-रूपी आत्मा पति-रूपी परमात्मा से मिलने के लिए लालायित है। उस परमात्मा से मिलने के लिए आत्मा समस्त बाधाओं का सहन करती है।

---

९०. अब के बार बकसु मोरे साहिब, तुम लायक सब जोग है।
जुग-जुग अचल अमर पद देहो, इतनी अरज हमार है॥
—सन्तबानी संग्रह (सं०—वियोगी हरि), भाग २, दरिया साहब बिहार वाले, पृ० १४९

९१. दीना-नाथ अनाथ यह, कछु पार न पावै।
बरनौं कवनी जुक्ति से, कछु उक्ति न आवै॥
—वही, भाग २, गुलाल साहब, पृ० २०३

९२. अस करिये साहिब दाया ॥टेक॥
कृपा कटाच्छु होइ जेहि तें प्रभु, छूटि जाय मन माया।
सोवत मोह निसा निस बासर, तुमहीं मोहि जगाया॥
—वही, भीखा साहब, पृ० २१२

९३. चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
मेरी हंसी तो हँसी तुम्हारी, तुमहुँ देखु बिचार॥
—वही, चरनदास, पृ० १८५

सूफी-काव्य में भी आत्मा-रूपी पति के परमात्मा-रूपी पत्नी से मिलने के अनेक प्रयास लक्षित होते हैं।

सन्त काव्य में मधुरा भक्ति ही प्रमुख विषय होने के कारण आगे इसका विस्तृत विवेचन किया जायगा। यहाँ प्रसंगवश मधुरा-भक्ति का इतना ही उल्लेख पर्याप्त है।

निष्कर्ष—पीछे दी गयी भक्ति-विषयक परिभाषाओं, तत्त्वों, रूपों तथा भेदों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भक्ति की उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकृत है। इसे सीमित दायरे में बाँधना दुष्कर है, क्योंकि प्रभु सर्वव्यापक अन्तर्यामी हैं, पर विरले साधक ही उनकी इस समीपता का अनुभव कर पाते हैं। प्रभु समस्त आत्माओं के भीतर उसी प्रकार विराजमान हैं, जैसे दधि में घी। जिस प्रकार घी बिना दधि-मंथन के प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार प्रभु बिना साधना-अभ्यास-रूपी मंथन के प्राप्त नहीं होते। भक्ति ही वह अचूक साधन है जिससे भक्त प्रभु से समीपता का अनुभव करने लगता है। भक्ति मन का ऐसा अनुभव है जो वाण के सदृश अन्य समस्त अनुभवों को बेध देता है। जीवन का कोई अंश भक्ति से पृथक् नहीं रह जाता। अतः भक्ति की व्यापकता सार्वजनीन है।'

मधुर भक्ति का विकास : शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में

काव्यशास्त्र में मधुर भक्तिरस का विकासक्रम

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने मधुर भक्ति रस को शुद्ध या स्वतन्त्र रूप से नहीं स्वीकारा है। रस के प्रथम विचारक भरत मुनि इस विषय में सर्वथा मौन हैं। उनके द्वारा तो भक्ति का रसत्व अथवा भावत्व कुछ भी स्वीकारा नहीं गया है। उन्होंने शृङ्गारादि आठ रस स्वीकृत किए हैं।[1] बाद में शान्त रस को प्रधानता दी गई, क्योंकि शृङ्गारादि सभी रस अपने-अपने अनुरूप कारण को लेकर शान्त रस से ही भाव उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में सभी विलीन हो जाते हैं।[2]

भामह ने सर्वप्रथम प्रेयस् नामक अलंकार के उदाहरण दिये हैं।[3] कालान्तर में तो विद्वानों द्वारा शृंगारादि नौ रसों[4] के अतिरिक्त प्रेयस्, भक्तिवात्सल्य आदि रसों की भी गणना की गई है। किन्तु प्रमुख आचार्य भक्तिरस को शुद्ध या स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। उनमें भी भामह के पश्चात् दंडी के द्वारा परमात्म-विषयिका जो परमप्रीति है, वही भक्ति है, ऐसी सम्भावना की गई है। किन्तु उनके द्वारा भी भक्ति को रस-रूप में नहीं, वरन् भाव-रूप में स्वीकार किया गया है। काव्यादर्श में तो 'प्रीतिः प्रेयोऽलङ्कारे निक्षिप्ता' के अनुसार सभी रस रसवत् अलंकार में ही स्थापित किए गए हैं, अर्थात् सभी भावात्मक वस्तुएँ उनके द्वारा अलंकार ही मानी गई हैं। अलंकार से भिन्न और कुछ भी नहीं है। उनके मत के अनुसार काव्य में जो प्रियतर की अनुभूति का

---

१. शृंगारहास्यकरुणारौद्रवीर भयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
—नाट्यशास्त्र ६/१५/६८

२. स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥
—हिन्दी अभिनव भारती; अध्याय ६, पृ० ६३७

३. काव्यालंकार ३/५/६७

४. रसगंगाधर, भाग १, पृ० १३२

आख्यान और प्रकाशन है, वही प्रेयस् है।[५] अतः जो लौकिक प्रीति काम्य से इतर भगवद्-विषयक है, वही प्रियतरत्व द्वारा कही गई है।[६]

'भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः'[७] इत्यादि दण्डी के वाक्य को देखकर वी० राघवन ने दण्डी के मत में भक्तिरस की कल्पना की है, अथवा उनके द्वारा स्वीकृत प्रेयोऽलंकार में दाम्पत्य से इतरनिष्ठ रति का भी समावेश किया जाता है। अतः दण्डी द्वारा भक्तिरस स्वाकार किया गया है, ऐसा राघवन महोदय का अभिप्राय है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दण्डी द्वारा स्पष्ट ही कहा गया है—'प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता'[८] अर्थात् पूर्व में निरूपित प्रीति और वर्तमान समय में निरूपित रति शृंगार-विषयक हैं। इस प्रकार ज्ञात होता है कि रति दाम्पत्यविषयिका होती है और प्रीति भगवद्विषयिका, अतः दोनों में ही सर्वथा भेद है। भगवद्विषयक प्रीति के प्रति सम्भावना की जाती है कि पुराण में स्थित स्तोत्र साहित्य को देखकर ही दण्डी द्वारा कुछ विचार किया गया है किन्तु भक्ति को रस के द्वारा अंगीकार नहीं किया गया है, अपितु प्रेयस् अलंकार द्वारा ही स्थापित किया गया है। उनके द्वारा भक्तिरस को स्वीकार करने में कारण बतलाया गया है कि भरत मुनि के मतानुसार ही वाणी की रससत्ता आठ रस में ही सीमित है, उसका उल्लङ्घन करना श्रेयस्कर नहीं है।[९]

भक्ति विषयक जो प्रीति प्रेयस् अलङ्कार में दण्डी के द्वारा की गई हैं, उस प्रेयस् का स्थायी भाव प्रीति स्वीकार की गई है। कालान्तर में रुद्रट द्वारा प्रेयस् अतिरिक्त रस से सम्मानित किया गया है और उसका स्थायी भाव स्नेह बतलाया गया है। इस प्रकार देखा जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में रुद्रट के द्वारा 'स्नेहः प्रकृतिः प्रेयान्' ऐसा कहकर प्रेयान् नामक नवीन रस की उद्भावना की गई है और जिसका स्थायी भाव स्नेह है।[१०] दोनों मित्र में

---

५. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तौत्कर्षञ्च तत्त्रयम्॥
—काव्यादर्श, २।२७५।२२५

६. प्रीति प्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्।
—वही, २।२७६।२२८

७. वही, २।२२७।२२७

८. वही, २।२८१।२६४

९. वही, २।२९२।२७१

१०. काव्यालङ्कार, १२।३।३६४

शुद्ध आत्मा से परस्पर हृदयाह्लादक निर्व्याज संलाप ही प्रीति शब्द से कही गई है,[११] वही प्रेयस् है। जिस प्रकार दण्डी द्वारा दाम्पत्य से इतर रति के लिए भगवद्‌विषयक प्रीति को प्रधानता दी गई है, उसी प्रकार रुद्रट द्वारा दम्पति की इतर रति से सुहृदय विषयक प्रीति को प्रधानता देकर उसका रसत्व स्वीकार किया गया है। अतः रुद्रट ने भी स्वतन्त्र रूप से भक्ति का रसत्व स्वीकार नहीं किया, किन्तु नामान्तर से स्वीकार किया है। दण्डी के पश्चात् उद्भट द्वारा भी 'प्रेयः' अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया गया है।[१२] मम्मट के मत में तो देवादिविषयिणी रति और व्यंजित संचारी भाव मात्र ही है।[१३] इसी प्रकार विश्वनाथ के मत में प्रधान संचारी भाव देवादिविषयिणी रति और प्रकाशित स्थायीभाव सब भाव मात्र ही हैं।[१४] यही जयदेव के मत में भी देवादिविषयिणी रति भाव के द्वारा ही कही गई है।[१५]

आचार्य हेमचन्द्र के मत में भक्ति भाव है, रस नहीं, क्योंकि उसके मत में हीन की उत्तम में जो रति है वही भक्ति है और उसका आस्वादन भाव रूप द्वारा होता है, रसत्व द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार उनके मत में भक्ति स्नेह वात्सल्य का भाव मात्र है।[१६] यद्यपि शार्ङ्गदेव के मत में श्रद्धा, आर्द्रता और अभिलाषा यह तीनों भाव समास्वाद्यता को प्राप्त कर क्रम से भक्ति, स्नेह और लौल्य भाव वाले हो जाते हैं फिर भी श्रद्धा, आर्द्रता और अभिलाषा नाम वाले वे भाव स्थायित्व को नहीं प्राप्त होते, इसलिए वे संचारी ही कहलाते हैं। व्यञ्जित भूत ये भाव ही कहलाते हैं, रस नहीं।[१७] भोजराज के मत में यद्यपि बारह रस स्वीकार किए गए हैं किन्तु उनके द्वारा भी भक्ति के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। भानुदत्त द्वारा यद्यपि वात्सल्य, लौल्य और कार्पण्य के साथ भक्ति उत्पन्न होती है किन्तु उनका भावत्व ही

---

११. काव्यालङ्कार, १५।१७-१८।४११

१२. काव्यालङ्कार संग्रह, ४।२।५०

१३. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः

—काव्यप्रकाश, ४।३५।१४०

१४. सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्‌बुधमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

—साहित्यदर्पण ३।२६०

१५. चन्द्रालोक, ६।१४।१८२

१६. काव्यानुशासन, पृ० ६८

१७. संगीतरत्नाकर, पृ० ४४१-४४२

स्वीकार किया गया है।[१८] इस प्रकार परिलक्षित होता है कि साहित्य-शास्त्रज्ञ विद्वान् भक्ति रस को स्पष्टतः स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। यदि किसी के द्वारा स्वीकार भी किया गया है तो वह नामान्तर ही स्वीकृत है।

संसार के बन्धन से विनिर्मुक्त भक्तप्रवर परमवैष्णव आचार्यों की महान् कीर्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित करने में है। उनके द्वारा भक्तिरस न केवल परिगणित नौ रसों के समकक्ष ही है, अपितु सभी रसों से श्रेष्ठ है। भक्तिरसज्ञ के अनुसार भक्ति का रसत्व उचित है, यह न्याय तर्कसम्मत है। यह भक्तिरस शृंगारादि रसों की अपेक्षा सर्वथा पृथक् है क्योंकि भक्तिरस स्वव्यापकता, सहजता, सर्वजनसुलभता, भावतीव्रता, क्रियाशीलता, विलक्षणता, मधुरता, सार्वत्रिकतादि विभिन्न दृष्टि से तो सभी रसों में श्रेष्ठ रसराज कहलाता है। रूप गोस्वामी के मत में तो वह भाव नहीं हो सकता। सेठ कन्हैया लाल पोद्दार के मत में भी शृंगारादि रस की अपेक्षा मधुर भक्तिरस ही सर्वोपरि व सर्वश्रेष्ठ रस है।[१९] न केवल आधुनिक विद्वानों के मत में ही भक्ति रस सिद्ध होता है, अपितु प्राचीनों के मत में भी अज्ञान और आवरण से रहित आनन्द स्वरूप चैतन्य से समन्वित इत्यादि स्थायी भाव रस कहलाता है। उसी को प्राप्त कर मनुष्य कृतकृत्य हो जाते हैं।° उसी के लिए सतत् प्रयत्न करते हैं, इसलिए सभी मोक्ष के इच्छुकों द्वारा भक्तिरस ही उपासनीय है।[२०]

कुछ विद्वानों के मत में भक्तिरस सभी के द्वारा बोधगम्य विषय नहीं है। इसलिए वह स्वीकार नहीं है ऐसा कहना हास्यास्पद ही है, क्योंकि मधुर भक्तिरस सभी मनुष्यों में विद्यमान है किन्तु इसका प्रकटन सहृदय भक्त के हृदय में ही होता है। वस्तुतः किसी भी रस की अनुभूति तदनुकूल बौद्धिक भूमिका में ही

---

१८. ननु वात्सल्यं लौल्यं भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः।
आर्द्रताऽभिलाषश्रद्धास्पृहाणां स्थायिभावानां सत्वादिति चेन्न।
तेषां व्यभिचारिरत्यात्मकत्वात्।—रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग, पृ० १०८

१९. वेदान्ताङ्क, कल्याण पत्रिका, वर्ष ११, खण्ड , अंक १ (वि० सं० १९९३) में कन्हैयालाल पोद्दार का लेख 'भक्ति रस है या भावमात्र', पृ० ५१२

२०. चित्रभानुं शिवं काल महाशक्तिसमन्वितम्,
इडाद्यं परतोद्धृत्य सदेवं सविकारणम्।
—अग्निपुराण, द्वितीय खण्ड, कारिका २, पृ० ३३८

उत्पन्न होती है, सर्वत्र नहीं। भग्नावरण चैतन्यरूपा भक्ति ही रसरूप से प्रकट हुई है। भक्ति द्वारा भगवद्साक्षात्कार में भक्त माया से सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रपंचों से विहीन होकर शुद्धबुद्ध, नित्य स्वरूप, चैतन्य परमात्मा में स्वेच्छा से रहित हो जाता है अर्थात् उस समय उसके द्वारा भक्तिरस का अनुभव किया जाता है। सर्वजन अनुभूत रस यदि रस कहलाता है तो तथाकथित रसराज शृङ्गार भी शृङ्गारिक विषय से विरक्त तत्त्वज्ञानयुक्त भगवद्भक्त के मन में जुगुप्सा इत्यादि उत्पन्न करने के कारण रस कदापि नहीं हो सकता। यदि उसमें ज्ञानी भक्त की अपेक्षा प्रवृत्तिमार्गी सामान्य व्यक्ति ही प्रमाण है तो सम्पूर्ण शास्त्रों को तिलांजलि प्रदान करना ही श्रेयस्कर है। इसलिए भक्तिरस अपलाप के योग्य नहीं है, सभी रसज्ञों द्वारा भक्तिरस स्वीकार करने योग्य है।

मधुर भक्तिरस का स्थायी भाव : मधुरा रति

रूप गोस्वामी के अनुसार राधा-कृष्ण व्रज-वल्लभाओं तथा वृन्दावन आदि विभावादिकों से आस्वाद्यमान मधुरा रति ही मधुरा भक्तिरस है[२१] जिसका स्थायी भाव मधुरा रति है।[२२] यही मधुरा रति नायक एवं नायिका दोनों को आनन्द प्रदान करती है। श्रीकृष्ण का अपनी व्रजवल्लभाओं के साथ नित्य लीला-विलास करना ही इस मधुर रस की आत्मा है, क्योंकि श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यपरक, माधुर्यपरक आदि विविध लीलावितानों में से माधुर्य रूपी लीला वितान ही श्रेष्ठ है।[२३] निखिल रसानन्दमूर्ति परमब्रह्म और उनके विग्रह एवं चिन्मयी शक्तियाँ या वल्लभाएँ ही दिव्य मधुर रस के आलम्बन हैं और इन दोनों की प्रियता ही इस दिव्य मधुर रस का स्थायीभाव है[२४] जो दोनों को संयोग की प्रेरणा देती रहती है। तात्पर्य यह है कि 'भगवद्रति' ही मधुर रस का स्थायीभाव है जो साधक की रुचि, प्रवृत्ति और स्वभाव के अनुसार शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता के नाम से पाँच प्रकार की बतलायी गई है। भक्त के हृदय की यह रति

---

२१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका ३, पृ० ५

२२. स्थायीभावोऽत्र शृङ्गारे कथ्यते मधुरारतिः।
—वही, स्थायीभाव प्रकरण, पृ० ४३३

२३. जीव गोस्वामी : प्रीति सन्दर्भ, पृ० ७०४-७१५

२४. मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संभोगस्यादिकारणम्
मधुरापरपर्य्याया प्रियताऽऽख्योदिता रतिः।
—भक्तिरसामृतसिन्धु, स्थायी भावलहरी, कारिका २७, पृ० २८८

प्रगाढ़ होकर प्रेम के नाम से अभिहित होती है। यही प्रेम क्रमशः विकसित होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव में परिणत हो जाता है। इन सबको ही मधुर रस का स्थायीभाव माना गया है। ये समस्त स्थायी भाव निर्मल चित्त में सुप्रकाशित होकर निखिल रसानन्द स्वरूप परमात्मा के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मंगल सम्बन्ध का समारम्भ करने वाले हैं। अतः मधुर रस का स्थायी भाव परमात्मा के प्रति दिव्य मनोराग ही है। यही स्थायी भाव साधक को रुचि, प्रवृत्ति एवं व्यवस्था भेद के अनुरूप शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर इन पाँच मुख्य एवं हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स इन सात गौण रसों का आस्वादन कराता है। मधुरा रति ही इस मधुर भक्तिरस का स्थायी भाव है जो विषयाश्रयनिष्ठ कही गई है।[२५]

ज्ञान, भक्ति, क्रिया इन तीनों में सर्वाधिक प्रधानता भावना की है जो कि मधुरा भक्ति का प्राण है। अपने इष्ट के प्रति भावना की इस उत्कृष्टावस्था में अतिशय वेदना से व्यथित होने पर भक्त जहाँ अश्रु प्रवाहित करता है, वहीं वह उल्लास का पुष्प भी विकसित करता है। ऐसी अवस्था में भक्त की गति अज्ञानी शिशु की भाँति होती है जो पल में रोता है, पल में हँसता एवं पल में ही नाचने लगता है।[२६] अतः मधुरा भक्ति में हमें प्रतिपल भावों के घात-प्रतिघात दृष्टिगत होते हैं। इनमें जीवन के मर्मस्पर्शी भावों का अभिव्यंजन पाते हैं, साथ ही उसमें दुःख, दैन्य, विस्मय, हर्ष, निर्वेद आदि अनेकानेक विरोधी भावों का मैत्री रूप पाते हैं। इसी को 'भक्ति चन्द्रिका' में भाव की संज्ञा देते हुए कहा गया है कि मधुरा भक्तिरस विषयाविच्छिन्न चिदानन्दा संभूत लौकिक रस का साध्यतत्त्व है तथा इसकी अनुभूति साधन भक्ति द्वारा सुस्थिर चित्तवृत्तियुक्त भक्त ही कर सकते हैं जो साधारण जनों की प्रतीति से परे है।[२७] मधुर भक्ति के रसास्वाद को श्रीमद्भागवत में भी ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।[२८]

---

२५. श्रीमद्भागवत, ११।२।४०।७१४

२६. वही, ११।३।३२।७२२

२७. इत्थञ्च लौकिकर से शृंगारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्तचेतोवृत्ति लक्षणे भक्तिरसे त्वनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ताधिकयमानन्दस्य अतो भगवत्भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः।

—यतिवरनारायणतीर्थ—भक्तिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ८

२८. श्रीमद्भागवत, ४।९।१०

यह मधुरा रति अभियोग से, विषय से, सम्बन्ध से, अभिमान के, तृतीय विशेष से, उपमा से एवं स्वभाव से आविर्भूत होती है। इन्हें अभियोगजा, वैषयिकी, सम्बन्धजा, अभिमानजा, तदीयविशेषजन्य, उपमाजन्य और स्वाभाविकी की संज्ञा दी गई है। 'स्व' तथा 'पर' भेद से अनुराग की अभिव्यक्ति को अभियोग कहते हैं। इसके अन्तर्गत 'स्व' और 'पर' भेदानुसार दो प्रकार की भावाभिव्यक्ति सम्भव है। स्वाभियोग में नायक शब्द स्पर्शादि विषयों के माध्यम से अपने भाव-व्यंजन द्वारा नायिका में रति उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। पराभियोग में दूसरे के द्वारा अभियोग भावव्यंजन जैसे दूती आदि द्वारा कृष्ण के प्रति राधा के अनुराग को कहकर कृष्ण के अन्तःस्थल में भी अनुराग को जागृत करना।[२९] शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से उत्पन्न रति को 'वैषयिकी' कहते हैं[३०], अर्थात् श्रीकृष्ण के शब्दों को सुनकर कृष्ण तथा तत्सम्बन्धित वस्तुओं के स्पर्श से उनकी रूप माधुरी तथा आनन्दमयी क्रीड़ाओं के दर्शन, श्रवण से आकृष्ट होने पर उत्पन्न रति ही वैषयिकी है। यहाँ पर जो रति है, वह लोकोत्तर पदार्थ विषयिणी होती है और इसकी अतिशय चमत्कारवृत्ति के ही कारण यह अप्राकृत वस्तु अर्थात् श्रीकृष्ण एवं उनके सम्बन्धियों के प्रति शीघ्र ही भासित हो जाती है।[३१] कुल, रूप, शौर्य, सौशील्य आदि की समग्रता के आधिक्य से समुद्भुत रति 'सम्बन्धजा' है।[३२] अनेक रमणीय पदार्थों अथवा व्यक्ति के होते हुए भी किसी एक की प्रार्थना या अभिलाषा करना अभिमान से उत्पन्न मधुरा रति है।[३३] पद, चिह्न, गोष्ठ तथा प्रियसख्यादि 'तदीय विशेष' हैं।[३४] सादृश्य से उत्पन्न रति उपमाजन्य है। स्वाभाविक रति प्रायः ब्रजांगनाओं में विद्यमान है। यह सम्पूर्ण बाह्य हेतुओं की अपेक्षा करने वाली रति है।

---

२९. आनन्द चन्द्रिका, पृ० ३२१

३०. उज्ज्वलनीलमणि, कारिका पृ०, ८ ४३६

३१. लोकोत्तरपदार्थानां प्रभावः कोऽप्यनर्गलः।
रतिं तद्विषयं चासौ भासयेत्तूणामेकदा॥
—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका १५, पृ० ४४०

३२. वही, पृ० ४४१

३३. (क) वही, कारिका १७, पृ० ४४१
(ख) अभिमानस्य प्राचीनममताभ्यास एव स्वरूपम्।
स च सौन्दर्यादिक मनपेक्ष्येव रतिमुत्पादयति॥
—लोचनरोचनी, पृ० ३२६

३४. तदीयानां विशेषाः स्युः पदगोष्ठप्रियादयः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ४४२

यह स्वाभाविक रति निःसर्ग एवं स्वरूप भेद से दो प्रकार की होती है।[35] सुदृढ़ अभ्यास से उत्पन्न संस्कार निःसर्ग कहलाता है[36] और अजन्य स्वतः सिद्ध भाव स्वरूप कहा जाता है, साधन सिद्धा में निःसर्ग और नित्य सिद्धा में स्वरूप। यह स्वरूप कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ, उभयनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का है।[37] व्रजवनिताओं की कृष्ण के प्रति रति स्वभावजा ही है।[38] श्री रूप गोस्वामी ने मधुरा रति का विवेचन दो प्रकार से किया है—भावों की दृष्टि से एवं नायिका की दृष्टि से। इसी मधुरा रति के तीन भेद बतलाए गए हैं—साधारण रति, समंजसा रति, समर्था रति। इन तीनों रतियों की तुलना रूप गोस्वामी ने मणि, चिन्तामणि एवं कौस्तुभमणि से की है। जिस प्रकार मणि अत्यन्त सुलभ नहीं, किन्तु यत्न करने पर प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार साधारण रति को कुब्जा के समान अन्य लोग भी प्रयत्न करने पर पा सकते हैं। चिन्तामणि जिस प्रकार किसी भाग्यवान पुरुष को प्राप्तव्य है, उसी प्रकार समंजसा सुदुर्लभ महिषी आदि में तथा समर्था अनन्यलब्धा व्रजांगनाओं के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए दुर्लभ है।[39] यह साधारणी रति साक्षात् प्रभु के दर्शन से उत्पन्न होने के कारण साथ ही मूल में संभोगेच्छा के होने के कारण इसमें सान्द्रता भी नहीं होती। साथ ही संभोगेच्छा के ह्रास होने पर रति में भी ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।[40] अतः प्रेमावस्था तक ही उसका क्षेत्र है।

समंजसा रति का विकास प्रेम से स्नेह में, स्नेह से मान में, मान से प्रणय में, प्रणय से राग में, अन्त में अनुरागावस्था तक होता है। इस समंजसा रति के तीन भेद हैं—गौणी समंजसा, मुख्या समंजसा, समंजसा प्राया।

गौणी समंजसा गोलोक लक्ष्मियों में दिखती है, इनका चित्त इस भावना से भावित रहता है कि कृष्ण उनके ईश्वर हैं, वे उनकी शक्तियाँ हैं, प्रत्येक क्षण ईश्वर में ध्यानमग्नता के कारण गौणी समंजसा रति होती है।

---

३५. उज्ज्वलनीलमणि, कारिका २६, पृ० ४४६

३६. वही, २७, पृ० ४४६

३७. वही, कारिका ३०, पृ० ४४७

३८. वही, कारिका ३६, पृ० ४५१

३९. मणिवच्चिन्तामणिवत्कौस्तुभमणिवत्त्रिधाभिमता ।
नातिसुलभेयमभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या च ॥
—वही, कारिका ३८, पृ० ४५२

४०. असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते ।
एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तेद्धतुत्वाद्रतेरपि ॥
—वही, कारिका ४१, पृ० ४५३

मुख्या समंजसा द्वारिका में रुक्मिणी आदि महिषियों में दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण के प्रति उनकी पति बुद्धि होती है।

समंजसा प्राया में प्राया शब्द से ही व्यक्त होता है कि उनमें समंजसा की भावना के साथ-साथ समर्था की भावना भी है। यह रति कात्यायनी आदि व्रत-परायण कन्याओं में परिलक्षित होती है।

समर्था रति ही महाभाव दशा तक पहुँचती है। भक्तगण तथा ब्रजदेवियों का समर्था रति के कारण ही कुल, धर्म, धैर्य, लोक-लाज आदि सब विस्मृत हो जाते हैं। इस रति में कृष्ण-सुखैक्य का तात्पर्य होता है। ब्रजदेवियों के समस्त कार्य-कलाप, उद्यम कृष्ण के सौन्दर्य ही होते हैं। तादात्म्य की पूर्ण स्थिति यहीं पर दृष्टिगत होती है। इस समर्था रति के भी दो भेद हुए हैं—(क) समर्था प्राया (ख) समर्था।

समर्था प्राया रति परकीया कन्याओं में है, क्योंकि लोकधर्म, त्यागरूप, असामंजस्य रखने पर भी औत्कृष्ट्य नहीं होता। यह रति नित्यसिद्ध श्रीकृष्ण की प्रियाओं, ब्रजदेवियों तथा परोढ़ा साधिकाओं में पायी जाती है, क्योंकि परकीया होने के कारण उन्हीं में समर्था की पूर्णता है। समर्था रति का प्रेय की प्रौढ़ दशा को प्राप्त होना ही उसकी चरम परिणति है। यही प्रौढ़ा रति महाभाव दशा तक पहुँचाती है।[४१] यह दृढ़ रति जिसे हम प्रेम की संज्ञा से विभूषित करते हैं, उसके विषय में कहा गया है कि समर्था रति में जिस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रेयसी में कृष्ण के प्रति प्रेमोदय होता है, वैसे ही प्रेयसी के प्रति श्रीकृष्ण में प्रेम उत्पन्न होता है। ध्वंस के कारण रहने पर भी परस्पर ध्वंसरहित जो भाव बन्धन है, उसे ही प्रेम कहते हैं। भाव बन्धन का अर्थ करते हुए विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि भाव से तुम मेरी प्रेयसी एवं तुम मेरे प्रिय हो। इस प्रकार मन की अनुलापमयी प्रीति रज्जु से जो पारस्परिक बन्धन है, वही प्रेम है।[४२] इस प्रेम के तीन भेद हैं—प्रौढ़, मध्य, मन्द। यही प्रेम विकास के सोपानों में क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव रूपों में परिणत होता चलता है।

---

४१. इयमेव रतिः प्रौढ़ा महाभावदशां व्रजते।

—उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ५१, पृ० ४५८

४२. यस्या यादृशजातीयः कृष्णे प्रेमाभ्युदञ्चति।
तस्यां तादृशजातीयः स कृष्णस्याप्युदीयते॥
सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंस कारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिताः॥

वही, कारिका ५६-५७, पृ० ४६१

प्रेम पराकाष्ठा की चरम परिणति में पहुँचकर जब हृदय को द्रवित करने लगता है और दर्शनादि में तृप्ति मिलने लगती है तो समर्था रति की उस अवस्था को 'स्नेह' कहा जाता है। इसके भी दो भेद हैं—घृत स्नेह; मधु स्नेह। जो स्नेह स्वयं स्वाभाविक रति से नहीं, प्रत्युत भावान्तर में सम्मिलित होने पर ही स्वाद के अतिशय को प्राप्त करता है तथा परस्पर आदर के प्रदर्शन पर सान्द्रत्व को प्राप्त करता है, वही घृत स्नेह।[४३] जब प्रिय के प्रति ममत्व की भावना आ जाती है तब वह मधु स्नेह होता है।[४४]

स्नेह जब अत्यन्त उत्कृष्ट होकर माधुर्य को धारण करता है तथा जिसमें दाक्षिण्य नहीं रहता तो उसे मान कहा जाता है।[४५] इस मान के भी उदात्त एवं ललित नाम से दो भेद हैं। प्रथम में घृत स्नेह का प्राधान्य है तथा द्वितीय में मधु स्नेह का। इसी मान में जब विश्वास की मात्रा बढ़ जाता है तो उसे 'प्रणय' कहते हैं।[४६] इसमें आत्मोत्सर्ग का प्रणय रूप देखते हैं। प्रणय निष्कामी, सत्त्विकी एवं शुचिता की मूर्ति है। यह प्रेमी और प्रेमिका दोनों को एक सूत्र में बाँध देता है। इसके दो भेद हैं- मैत्र एवं सख्य। उदात्त एवं ललित मान के कारण यही प्रणय भी दो प्रका" के मैत्र प्रणय तथा दो प्रकार के सख्य प्रणय के भेद से चतुर्विध हो जाता है।[४७] अतः प्रणय कभी स्नेह से उत्पन्न होकर मान की दशा में पहुँच जाता है तथा कभी स्नेहाधिक्य के कारण मानोद्भव के बाद होता है।[४८]

जब चित्तगत दुःख भी प्रणयोत्कर्ष के कारण सुखसदृश होता है तो उसे 'राग' कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा समस्त लौकिक जोवन के सुखों का परित्याग करने में कष्ट का अनुभव सुखानुभूति रूप में ही करती है।[४९] यही राग नीलिमा और रक्तिमा भेद से द्विविध है। इन दोनों के क्रमशः दो-दो भेद हैं—नीलीराग तथा श्यामाराग एवं कुसुम्भ और मंजिष्ठा राग।[५०] सदा अनु-

---

४३. उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ८२, पृ० ४७३
४४. वही, कारिका ८६-८७, पृ० ४७६
४५. वही, कारिका ८९, पृ० ४७७
४६. वही, कारिका १००, पृ० ४८२
४७. वही, कारिका १११, पृ० ४८६
४८. (क) उज्जवल नीलमणि, कारिका १११, पृ० ४८६
(ख) तेन मानात् पूर्वभूमिका उत्तरभूमिका वा
प्रणयोऽस्तिवत्यत्र न
विवाद इति भावःलोचनरोचनी, पृ० ३६०
४९. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्येनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्सराग इति कीर्त्यति॥
—उज्ज्वल नीलमणि; कारिका ११८, पृ० ४९
५०. वही, कारिका १२१, पृ० ४९३

कूल रहने पर भी जो राग नित नवीनता को धारण करे, उसे अनुराग कहा जाता है।[५१] इसमें प्रेम की विचित्रता पाई जाती है। नायक-नायिका दोनों एक दूसरे के वश में रहते हैं। अनुराग जब स्वसंवेद्य दशा को प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'भाव' की संज्ञा देते हैं।[५२] सभी प्रकार की भक्त-प्रियात्मा में यह भाव पाया जाता है। प्रीति के चरमोत्कर्ष वाले भाव ही 'महाभाव' हैं। यह महाभाव व्रज-देवियों द्वारा संवेदनीय होता है।[५३] इसकी स्थिति महिषीगणों के लिए भी दुर्लभ है। रूढ़ाधिरूढ़ भेद से महाभाव के भी दो भेद हैं। प्रथम महाभाव में समस्त सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं, उसे रूढ़ महाभाव कहते हैं।[५४] इसमें व्रजनन्दन के सुख में पीड़ा की आशंका से क्षण भर के लिए भी असहिष्णुता आदि उत्पन्न होती है। इसी रूढ़ महाभाव के अनुभावों में जब विशिष्ट उदात्तता आ जाती है, तब उसे 'अधिरूढ़ महाभाव' कहते हैं।[५५] इसमें करोड़ों ब्रह्माण्डों में होने वाले समस्त सुख संयोगसुख की तुलना में कण मात्र भी नहीं हैं तथा समस्त सर्प-बिच्छुओं का दंशन भी उनके विरह-सदृश दुःख को नहीं प्राप्त कर पाता। अतएव सुख-दुःख दोनों की उत्कट अवस्था को ही अधिरूढ़ महाभाव कहते हैं। अधिरूढ़ महाभाव के ही मोदन और मादन दो भेद हैं। मोदन का सम्बन्ध राधिका यूथ से है तथा मादन का सम्बन्ध मात्र राधिका से ही है। जीव गोस्वामी ने भी कहा है कि यद्यपि ह्लादनी शक्ति का सुविलास तथा परमवृत्ति रूप गोपी-मात्र में इस मोदन भाव की स्थिति होनी चाहिए, तथापि यह राधिका यूथ में ही

---

५१. सदानुभूतिमपि यः कुर्यान्निवनवं प्रियम्।
राणो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते ॥
—वही, कारिका १३७।१, पृ० ५०५

५२. अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्त प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते ॥
—वही, कारिका १४६, पृ० ५०५

५३. मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्य सावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावास्ययोच्यते ॥
—वही, कारिका १४८, पृ० ५११

५४. उद्दीप्ता सात्विका यत्र स रूढ़ इति भव्यते ॥
—वही, कारिका १५०, पृ० ५१२

५५. रूढ़ोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामव्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढ़ो निगद्यते ॥
—वही, कारिका १३०, पृ० ५१८

होती है।[५६] वियोग दशा में मोदन भाव की ही 'मोहन' संज्ञा हो जाती है।[५७] यहाँ राधा असह्य दुःख स्वयं सहन करती हुई कृष्ण के सुख की सदैव कामना करती हैं। मोदन की भ्रमात्मक दशा को दिव्योन्माद कहा जाता है। उद्घूर्ण, चित्रजल्प, प्रज्जल्पादि इनके भेद हैं।[५८] विविध क्रियाओं तथा चेष्टाओं को ही उद्घूर्ण कहते हैं।[५९] प्रियतम के किसी मित्र से मिलने की उत्कण्ठापूर्वक विविध वार्तालापों को चित्रजल्प कहते हैं।[६०] इसकी प्रजल्प, परिजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, अजल्प, प्रतिजल्प, तथा सुजल्प दस अवस्थाएं होती हैं।

मादनभाव ह्लादिनी शक्ति का सार रूप है। श्रीकृष्ण के मिलन में विविध प्रकार के विचित्र आनन्द उत्पन्न होते हैं। वे सभी एकसाथ मादन महाभाव में उदय होते हैं।[६१] इसका कारण केवल राधा में होता है। यह राधा असह्य दुःख स्वयं सहन करती हुई श्रीकृष्ण के सुख की सदैव कामना करती है। इस मादन भाव के उदय होने पर कभी-कभी ऐसे भाव भी उदित हो जाते हैं जो वस्तुतः हेय होते हैं। जैसे जो ईर्ष्या के योग्य व्यक्ति नहीं है, उसके प्रति भी ईर्ष्या आदि भाव जग जाते हैं तथा नित्य संभोग होने पर भी अपने को विरही सदृश्य समझ कर संभोगशील प्राणि की स्तुति वन्दना आदि में तत्पर हो जाता है।[६२] इसकी

---

५६. ह्लादिनीशक्तैः सुविलासः परमवृत्तिरूपः प्रेमा भक्तमात्रवृत्तित्वशिन तत्रापि प्रियो मधुररसस्थायितया प्रियाजनवर्तित्वशिन तत्रापि श्रीमान् महाभावो गोपीमात्रवर्तित्वाशन। तत्रापिवरः श्रीराधायूथवर्तित्व-शिनेत्यर्थः ॥

—आनन्दचन्द्रिका, पृ० ३८८

५७. मोदनोऽयं प्रविश्चलेषदशायां मोहनो भवेत् ।
यस्मिन् विरहवैवश्यात्सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः ॥

—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका १६८, पृ० ५२४

५८. वही, कारिका, १७८, पृ० ५३२

५९. वही, कारिका, १८०, पृ० ५३३

६०. प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढरोषाभिजृम्भितः ।
भूरिभावमयो जल्पो यस्तीवोत्कण्ठितान्तिमः ॥

वही, कारिका १८३, पृ० ५३४

६१. सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः ।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा ॥

—वही, कारिका २०७, पृ० ५५३

६२. उज्ज्वलनीलमणि, कारिका २०९, पृ० ५५४

गति अत्यन्त सुष्ठु तथा मादन की तरह दुर्गम है। इसमें सहस्रशः नित्य विलास की क्रीड़ायें चलती रहती हैं। इस प्रकार यही महाभाव रति-स्थायीभाव अपने अनुरूप विभावानुभाव संचारी एवं सात्विकों द्वारा सहृदयों के हृदय में पुष्टि को प्राप्त कर मधुर भक्तिरस रूप में अभिव्यक्त होता है।

मधुर भक्तिरस का विभाव

मधुर भक्तिरस में आलम्बन श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभाएँ हैं।[६३] आलंबन विभाव में मधुर भक्ति का नायक सुन्दर अंगों वाला; कान्तियुक्त, अद्भुत भाषाविद्, सत् वाक्य वाला, प्रिय बोलने वाला, सुन्दर पाण्डित्य से युक्त, प्रतिभा से समन्वित, विदग्ध, चतुर, दक्ष, कृतज्ञ, दृढ़व्रती, देशकाल-सुपात्र को समझने वाला, धार्मिक, शरणागतपालक, प्रेम के वशीभूत होने वाला, नारी समूह में मनोहारी, सर्वाराध्य समस्त गुणों से युक्त श्रीकृष्ण हैं।[६४] आलम्बन श्रीकृष्ण नायक शिरोमणि हैं। नायक के धीरोदात्त आदि चार परम्परागत और पति-उपपति दो भेद होते हैं।[६५] उपपति में ही शृंगार भाव का परमोत्कर्ष होता है।[६६] उपपति भाव का प्रेम प्राकृत नायकों में दोषयुक्त है, लेकिन रस स्वरूप श्रीकृष्ण में वह दोष रूप नहीं है, अपितु उनमें वे गुण ही हो जाते हैं।[६७] धीरोदात्तादि चार प्रकार के आलम्बन कृष्ण पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण भेद से बारह प्रकार के हैं। वे बारह प्रकार पति-उपपति भेद से चौबीस प्रकार के हुए,

---

६३. अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः ।

वही, कारिका ३, पृ० ६

६४. (क) सर्वशुद्धरसवृन्दकान्दलः सर्वनायकघटाकिरीटगः ।
अत्यलौकिकगुणैरलङ्कृतोगोकुलेन्द्र तनयः सुनायकः ॥

—अलंकारकौस्तुभ, ५/२६

(ख) नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः ॥

—भक्ति रसामृतसिन्धु, विभावलहरी, कारिका १७, पृ० ४७

६५. पूर्वोक्त धीरोदात्तादिचतुर्भेदस्य तस्य तु ।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ ॥

—उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ८, पृ० ८

६६. अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्यप्रतिष्ठितः ॥

—वही, पृ० १३

६७. उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ७, पृ० ७

फिर चौबीस प्रकार के अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ठ इन चार भेदों से छियानबे प्रकार हैं।[६८] नायक के सहायक चेट, विट, विदूषक पीठमर्द, प्रियनर्मसखा यह पाँच प्रकार के श्रीकृष्ण के सहायक हैं।[६९]

आश्रय आलम्बन—निखिल रसानन्दानुभूति, रसावतार परम सौन्दर्यनिधि, परम प्रेमास्पद शान्तरूप परमात्मा मधुर भक्ति रस का विषयालम्बन होता है। उसी प्रकार कान्ता भाव भक्ति भगवान् के सेवा साधक भगवान् की प्रीति के लिए सब कुछ समर्पित करने वाले रागात्मक पथ के पथिक भक्तजन ही मधुर रस का आश्रयालम्बन होते हैं। भक्तिरसज्ञों के मत में शृङ्गार रस के साक्षात् स्वरूप रसावतार कान्तरूप श्री कृष्ण का विषयालम्बन भाव है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण का कान्ता आश्रयालम्बन रूप से भी निरूपण किया गया है। नायक श्रीकृष्ण की भाँति श्रीकृष्ण प्रिया भी विशुद्ध प्रेम माधुर्ययुक्त सद्लक्षणों से सम्बन्धित मधुर रस के विषय और आश्रयालम्बन भाव होते हैं।

श्री कृष्ण वल्लभाओं के दो भेद हैं—स्वकीया तथा परकीया। स्वकीया विवाहविधि से प्राप्त पति आदेश में तत्पर, पातिव्रत्य आदि शास्त्रोक्त धर्मों से अविचलित स्वकीया है।[७०] द्वारकापुरी में यदुवीर श्रीकृष्ण की स्वकीया महिषी सोलह हजार एक सौ आठ हैं जिनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्ववती, कालिन्दी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या एवं माद्री ये आठ प्रधान हैं। जिन रमणियों को विवाह-विध्नुसार स्वीकृत नहीं किया गया है, वे समस्त रमणी परकीया हैं। जीव गोस्वामी के अनुसार जिन रमणियों ने विवाहात्मक साधारण धर्म को अंगीकार किया है, अर्थात् राग से ही स्वीकार किया है, वे सब परकीया हैं।[७१] रूप गोस्वामी के अनुसार इन परकीया नायिकाओं के दो भेद हैं—कन्यका एवं

---

६८. उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः।
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मतः॥
नायकः सोऽनुकूलाद्यैः स्यात्षण्णवतिधान्वितः।
नोक्तो धूर्तादि भेदस्तु मुनेः संमत्यभावतः॥
—उज्ज्वलनीलमणि, सहायक भेद प्रकरण, कारिका १, पृ० २६

६९. वही, सहायक भेद प्रकरण, कारिका १, पृ० २६

७०. उज्जवलनीलमणि, कारिका १५, पृ० ४०

७१. अन्तरंगेण रागेणैवार्पितात्मानो न तु बहिरंगेण विवाहप्रक्रियात्मकेन धर्म्मेण। —आनन्दचन्द्रिका, पृ० ४२

प्रौढ़ा।[७२] ब्रजवनिताओं में ये दोनों ही प्रकार विद्यमान मानी गई हैं। वे अपने माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धियों से आँखें बचाकर कृष्ण से प्रेम करती थीं तथा उनका यह भाव श्रीकृष्ण के हृदय में आनन्द उत्पन्न करता था।[७३] अतः परकीया भाव से ही मधुर रस की पुष्टि होती है। स्वकाया-परकीया नायिका के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा तीन भेद हैं।[७४]

रति चेष्टा में अतिशय लज्जिता प्रियतम के अपराध करने पर मूक वाणी को धारण कर नयनों से अश्रु प्रवाहित करने वाली नायिका को मुग्धा नायिका कहते हैं।[७५]

लज्जा एवं काम को समान देखनेवाली, प्रगल्भ बोलने वाली, मान विषय में कहीं कोमल एवं कर्कश वचनों का प्रयोग करने वाली को मध्या नायिका कहा जाता है।[७६] मान की वृत्ति को प्राप्त कर इसके त्रिविध भेद हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा।[७७]

पूर्णतरुण, मदान्धा विपरीत सम्भोग में उत्सुक, बहुत से भावों के उद्गम को जानने वाली, रस के द्वारा कृष्ण पर आक्रमण करने वाली, अतिशय प्रौढ़ चेष्टावाली एवं मान विषय में कर्कश प्रगल्भा हैं।[७८] यह भी मान की अवस्था धीरा प्रगल्भा, अधीरा प्रगल्भा, धीराधीरा प्रगल्भा त्रिविध रूपों में प्राप्त होती हैं।

मध्या एवं प्रगल्भा नायक प्रणय को लक्ष्य कर ज्येष्ठ मध्या, कनिष्ठ मध्या, तथा ज्येष्ठ प्रगल्भा, कनिष्ठ प्रगल्भा रूप से चार प्रकार की हैं। अतः कन्या सदैव मुग्धा ही होती है, पर मुग्धा के स्वकीया एवं प्रौढ़ा दो भेद हैं। मुग्धा, मध्या एवं प्रगल्भा प्रत्येक स्वकीया एवं प्रौढ़ा भेद से छह भेद वाली होती हैं। मध्या तथा प्रगल्भा के धीरा, अधीरा एवं धीराधीरा भेद से छह प्रकार हो

---

७२. कन्यकाश्च परोढाश्च परकीया द्विधामताः।

—उज्ज्वलनीलमणि, कारिका १७, पृ० ४२

७३. ब्रजेशब्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः।
प्रच्छन्नन्दामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा॥

—वही, कारिका १८, पृ० ४३

७४. वही, नायिका भेद, कारिका १०, पृ० ६२

७५. वही, नायिका भेद, कारिका १३-१४, पृ० ६३

७६. वही, कारिका २६-२७, पृ० ६६-१००

७७. वही, पृ० १०४

७८. वही, कारिका ४१, पृ० ११०

जाते हैं। मुग्धा, कन्या, स्वकीया एवं प्रौढ़ा भेद से तीन प्रकार हो जाते हैं। इन सबके मिलन से नायिका की संख्या पन्द्रह होती है। इन समस्त नायिका की आठ प्रकार की अवस्था है: अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका।[७९] वासकसज्जिका, अभिसारिका, उत्कण्ठिता, सर्वदा प्रसन्नचित तथा भूषणों से मण्डित मानी जाती हैं। खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनभर्तृका चिन्ता से सन्तप्त मन वाली होकर वाम कपोल पर हाथ लगाकर रहती हैं। श्रीकृष्ण के प्रेम के कारण यह सभी अष्ट प्रकार की नायिका उत्तमा, मध्या, कनिष्ठा भेद से तीन प्रकार की होती हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि पहले नायिका के पन्द्रह भेद, फिर प्रत्येक की उत्कण्ठादिक आठ अवस्थाएँ हैं। इनसे आठ से गुणित होकर नायिका के एक सौ बीस भेद हो जाते हैं। उत्तमादि इन तीनों भेद से गुणित होकर तीन सौ साठ भेद होते है। नायिका की सहायिका के रूप में दूतियाँ भी होती हैं। मधुरा भक्तिरस के अनन्तर ही दूतियाँ श्रीकृष्ण के मिलन की इच्छा से नायिका के पूर्व रागादि का कथन करती हैं। ये स्वयं तथा आप्त के भेद से दो प्रकार की होती हैं। स्वयं दूती व्यंजना वृत्ति के माध्यम से अपने सम्भोगादि को प्रकाशित करती हैं।[८०] आप्तदूती अतिशय उत्कंठा होने पर भी प्राण के नष्ट हो जाने पर भी विश्वास को भंग नहीं करतीं। ब्रजबालाओं की यह आप्तदूतियाँ स्निग्ध तथा वाग्मिनी होती हैं। कटाक्षरूपा और वंशीरूपा स्वयं दूती के तथा अभितार्था, निसृष्टार्था एवं पत्रहारी आप्तदूती के भेद हैं। पुनः शिल्पकारी, दैवज्ञा, लिंगिनी, परिचारिका, धात्रेयी, सखी, वनदेवी यह सब आप्तदूती हैं। अतः जिस प्रकार श्रीकृष्ण में समस्त नायक अवस्था विद्यमान है, उसी प्रकार श्रीराधिका में भी प्रायः समस्त नायिकावस्थाएँ विद्यमान रहती हैं।

निष्कर्षतः ब्रजवधुओं में श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी परमाह्लादिनी महाशक्ति रूप राधा मधुर भक्ति की सर्वोत्तम आश्रयणी हैं। परमसुन्दर नन्दनन्दन उनके प्रेम का आलम्बन हैं। मधुर रस की आश्रयभूता राधा साक्षात् कृष्णमयी हैं। प्रेम-रसमय श्रीकृष्ण स्वरूपा वह मूर्तिमती श्रीकृष्ण की क्रीड़ा ही हैं। अतः सभी अव-स्थाओं में विशेष रूप से ललित और दीप्त में नायिका की चेष्टा ही माधुर्य है।

उद्दीपन—कृष्ण और उनकी वल्लभाओं के समस्त गुण उद्दीपन हैं। ये कायिक, मानसिक और वाचिक तीन भेदों में विभक्त हैं। कायिक गुणों से आयु,

७९. उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ६५ से ६६, पृ० १२४

८०. वही, दूतीभेद, कारिका १-२, पृ० १४५

रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूप्यता माधुर्य एवं मार्दन हैं। मानसिक गुणों में कृतज्ञता, शान्ति एवं करुणा हैं। वाचिक गुण में कर्णानन्दकता आदि भाव आते हैं। मधुर रस में वयः सन्धि, नव्य, व्यक्त, पूर्ण यह चार वयस के भेद हैं।[८१]

बाल्य एवं यौवन की सन्धि को वयःसन्धि कहा जाता है। नवयौवना में नेत्रों की चंचलता, वक्षस्थल का उभरना, तथा हास्य में माधुर्य आदि गुण प्रकट होते हैं। व्यक्त यौवना में वक्षस्थल का पूर्ण उभार, शरीर का मध्य भाग त्रिवली से युक्त एवं शरीर में सौन्दर्य आ जाता है।[८२] पूर्णयौवनावस्था में नितम्ब विस्तृत हो जाते हैं, मध्य भाग का दुर्बल होना एवं अंग की उत्तम कान्ति, स्तनों में पीनता, जंघा युगल में रम्भा की कान्तित्व आ जाती है।[८३]

इसी प्रकार भूषणों से सँवरे न होने पर भी शरीर का सजा-सँवरा प्रतीत होना ही रूप है तथा शरीर का अनिर्वचनीय रूप अर्थात् मनसा आस्वाद्य रूप ही माधुर्य है।[८४] अनुभव तथा लीला रूप से चरित्र दो प्रकार का होता है। रास, क्रीड़ा, कन्दुकक्रीड़ादि, चारु-क्रीड़ा, ताण्डव, वेणुवादन, गोदोहन, पर्वतोद्धार, गोहूति वामनादि कृष्ण की लीलाएँ भक्तों के आनन्दोद्दीपन में विभाव हैं।[८५]

किन्तु इन सभी उद्दीपन विभावों में कृष्ण का टेढ़े खड़े होकर वंशी बजाना प्रवर है।[८६] ब्रज के समस्त ग्वाल-बाल, ब्रजवनितायें, पशु-पक्षी, आदि ने कृष्ण के उसी रूप के दर्शन को चाहा था। समस्त भक्तगण, ऋषि-मुनि आदि ने उनके उसी रूप-माधुरी को ही स्वीकृत किया। कृष्ण के प्रत्येक पल-पल में होने वाली लीला से ही भक्तों का हृदय कृष्णानुराग से आप्त हो जाता है जिससे कृष्णानन्द का उपभोग करते हैं। उसके अन्तःकरण में प्राक्संस्कार रूप में स्थित रति को ये सभी उद्दीपन उद्दीप्त करते हैं।

मधुर भक्तिरस का अनुभाव

आन्तरिक भावों की सूचना जिनसे मिलती है, ऐसे भ्रू-कटाक्ष, विक्षेप आदि विकारों को अनुभाव कहते हैं।[८७] साहित्यशास्त्र में रसोत्पत्ति के बाद होने

---

८१. उज्ज्वल नीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, कारिका १-७, पृ० २८०-२८३
८२. वही, कारिका १६, पृ० २८७
८३. वही, कारिका १६; पृ० २८८
८४. रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्यमुच्यते ॥
—वही, कारिका ३४, पृ० २६४
८५. वही, कारिका ४०-४२, पृ० २६६
८६. वही, कारिका ६१, पृ० ३०४
८७. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक :—दशरूपक, पृ० २३५

वाले उसके सूचक जो बाह्य लक्षण हैं उनको अनुभाव कहा गया है। चित्त में स्थित भावनाओं का प्रकाशन करने वाले अनुभाव होते हैं, वे प्रायः बाह्य विक्रिया रूप होते हैं और 'उद्भासुर' नाम से कहे गए हैं।[८८] मधुर भक्ति में नाचना, लोटना, गाना, चिल्लाना, देह मरोड़ना, हुँकार करना, जंभाई लेना, प्रचुर श्वास या लम्बी साँसे भरना, लोक की परवाह न करना, लार टपकाना, अट्टहास करना, चक्कर आना, हिचकी आना आदि अनुभाव हैं।[८९] अतः अनुभावों की संख्या अनेक हैं, पर कायिक, वाचिक, मानसिक, सात्त्विक, आहार्य भेद से ये पाँच प्रकार के होते हैं। इनमें भी कायिक एवं मानसिक अनुभावों के सत्वज, अंगज, अयत्नज और स्वभावज नामक चार भेद हैं।

सात्त्विक अलंकार—सात्त्विक अलंकारों का विवेचन करते हुए रूप गोस्वामी सत्व से अभिप्राय कृष्ण सम्बन्धी चेष्टाओं से उत्पन्न प्रेम-भाव से आक्रान्त चित्तवृत्ति ही मानते हैं,[९०] उससे उत्पन्न होने के कारण ही वे अलंकार रूपी अनुभाव सात्त्विक कहे जाते हैं। इसके तीन भेद हैं :

अंगज अलंकार—अंगज अलंकार रूपी अनुभाव वह होते हैं जो नेत्रों की भ्रूभंगिमाओं अथवा ग्रीवा आदि के लीलापूर्वक घुमाने से प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये ही उसके सूचक होते हैं।[९१] ये अंगज अलंकार भाव, हाव, हेला आदि भेद से त्रिविध होते हैं।

इससे तात्पर्य रूप गोस्वामी ने मधुरा भक्ति के प्रसंग में कृष्ण के प्रति रति नामक स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर वयः सन्धि की अवस्था में प्रथम विक्रिया अर्थात् अभूतपूर्व कामदेव की शोभा के अनुभाव को माना है।[९२] चित्त की प्रथम विक्रिया जहाँ भाव कहलाती है वहीं चित्त की उससे आगे की विकारात्मक स्थिति एवं बाह्य रूप से ग्रीवा का तिरछा होना, भ्रू-संचालन एवं

---

८८. अनुभावास्तु चित्तस्थ भावानामवबोधकाः।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भासुराख्यया॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु, अनुभाव लहरी, कारिका १, पृ० ६०

८९. वही, अनुभाव लहरी, कारिका २, पृ० ६०

९०. कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थभावैराक्रान्तं चितं सत्तवं तस्माज्जातासत्वजाः॥

—आनन्दचन्द्रिका, पृ० २४५

९१. नेत्रान्तभ्रूग्रीवाभङ्ग्यादीनां तत्सूचकत्वात्तेभ्यश्चाङ्गेभ्यश्योजाताः॥

—उज्ज्वल नीलमणि, अनुभावप्रकरण, कारिका १, पृ० २४५

९२. प्रादुर्भावं व्रजत्येव रत्याख्ये भाव उज्ज्वले निर्विकारात्मके चित्ते भावःप्रथमविक्रिया॥

—वही कारिका ६

नेत्रों का विस्फारित होना आदि कुछ अधिक होता है, उसे हम 'हाव' कहते हैं। यही हाव रूप अनुभाव जब नायक एवं नायिका की परस्पर रति के सूचक होते हैं तो उन्हें 'हेला' कहते हैं।[९३] शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य आदि ये सात भाव बिना यत्न के ही पैदा होते हैं, इसलिए इनको 'अयत्नज' कहते हैं। लीला विलास, विच्छित्त, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित बिव्वोक, ललित तथा विकृत ये ही भाव 'स्वभावज' अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।[९४] स्वभावज अलंकार रूप अनुभाव की स्थिति में आश्रय एवं आलम्बन की बुद्धि एवं अबुद्धि किसी को भी अपेक्षा न करके सर्वत्र प्रेमी का स्वभाव ही जागरूक रहता है, क्योंकि सर्वत्र प्रेमिका का प्रिय का अनुकरण स्वाभाविक ही है।

रूप गोस्वामी आदि आचार्यों ने अनुभावों को सात्त्विक अलंकार की संज्ञा से भी अभिहित किया है। रूप गोस्वामीजी ने कृष्णरति स्थायी-भाव के निम्नलिखित अनुभाव बतलाए हैं—नृत्य, विलुंठित, गोत क्रोशन, तानु-मोटन, हुँकार, जृम्भा, श्वासमंथन, लोकानुपेक्षित लालस्रव, अट्टहास, घूर्णा और हिक्का।

नायिका के सात्त्विक अलंकारों को अनुभावों की श्रेणी में रखकर 'उद्भा-स्वर' और 'वाचिक' नामक दो प्रकार के अनुभाव माने गए हैं। नीवी स्रंसन, उत्तरीय स्रंसन, केश स्रंसन अँगड़ाई, काम प्रदर्शित करना; जृम्भा, नाक फुलाना आदि उद्भास्वर और आलाप, प्रलाप विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, व्यपदेश आदि बाहर वाचिक अनुभाव होते हैं। चाटूक्ति को आलाप, निरर्थक बकने को प्रलाप, दुःखमय वचन

---

९३. भावस्यातिकृतं सत्त्वं व्यतिरिक्तं स्वयोनिषु।
नैकावस्थान्तर कृतं भावं तमिह निर्दिशेत्॥
तत्राक्षिभ्रूविकाराढ्यः श्रृंगाराकारसूचकः।
सुग्रीवारेचको ज्ञेयो हावः स्थितसमुत्थितः॥
यो वै हावः स एवैषा श्रृंगाररससंभवा।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका॥
—भरत, नाट्यशास्त्र, भाग २, श्लोक ९, १०, ११, पृ० १५६-५७

९४. शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यम् च प्रगल्भता।
औदार्य धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोकोललितं तथा।
विकृतं चेति विज्ञेया दश तासां स्वभावजाः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, अनुभाव प्रकरण, कारिका ४,५

को विलाप, बार-बार कहने को अनुलाप, पहले कही गई बातों का अन्य अर्थों में प्रयोग अपलाप, संवाद भेजने को संदेश, प्रस्तुत वस्तु की अन्य अभिधेय वस्तु से सूचना देने को अतिदेश, अपने विषय में 'वह यह मैं हूँ' कहकर समझाने को निर्देश, शिक्षा देने को उपदेश, मैंने या उसने ऐसा कहा इस प्रकार के कथन को अपदेश और ब्याजपूर्वक आत्मभिलाप करने को व्यपदेश कहते हैं।

उज्ज्वलनीलमणि में सहज प्रेम से प्रादुर्भूत किलकिंचित्, कुट्टमित, विलास, ललित, विव्वोक, मोट्टायित, मौग्ध्य, चकित इत्यादि भावों को अनुभाव के अन्तर्गत ही रूप गोस्वामीजी ने रखा है। कृष्णदास कविराज ने चैतन्यचरितामृत में इन भावों को राधा का भाव बतलाया है, जिनसे भूषित होकर राधा कृष्ण का मनहरण करती हैं।[९५]

किलकिंचित्—राधा को देखकर कृष्ण का मन यदि उन्हें स्पर्श करना चाहता है, वे गलियों में या घाट पर राह रोकते हैं या फिर राधा के अंग पर फेंकने के लिए पुष्प उठाते हैं अथवा सखी को आगे जाते हुए देखकर राधा के शरीर का स्पर्श करते हैं तब हर्षादि संचारी के मूल कारण से इन स्थानों एवं परिस्थितियों में 'किलकिंचित्' भाव की उत्पत्ति होती है।[९६] इनमें जब गर्व

---

९५. किलकिंचित, कुट्टमित, बिलासललिता।
विव्वोकमोट्टायित, आरमौग्ध्य, चकित ॥ १६४ ॥
एत भाव-भूषाय भूषित राधा-अंग।
देखिले उछले कृष्णोर सुखाब्धि-तरंग ॥ १६५ ॥
'किलकिंचित' भाव-भूषार शुन विवरण।
ये भूषाय हरे कृष्ण-मन ॥ १६६ ॥
—चैतन्यचरितामृत (सं०-श्यामदास), मध्यलीला, चतुर्दश परिच्छेद, पृ० ३८६

९६. (क) राधा देखि कृष्ण यदि छुंइते करे मन।
दानघाटिपथे यबे वर्ज्जेन गमन ॥ १६८ ॥
यबे आसि माना करे पुष्प उठाइते।
सखी-आगे चाहे यदि अंगे हस्तदिते ॥ १६७ ॥
एइ सब स्थाने किलकिंचित उद्गम।
प्रथमेइ हर्ष संचारी मूल कारण ॥ १६९ ॥
आर सात भाव आसि सहजे मिलय।
अष्टभाव-सम्मिलने 'महाभाव' हय ॥ १७० ॥
गर्व अभिलाष, भय शुष्क रुदित।
क्रोध-असूया सह आर मन्दस्मित ॥ १७१ ॥
—वही, पृ० ३९०

अभिलाषा, भय, रुदित, क्रोध, असूया और मंदस्मित ये सात भाव मिल जाते हैं तब वह किलकिंचित में परिणत हो जाता है।

विलास—राधा अपने घर पर रहे या वृन्दावन जाएँ यदि उन्हें एकाएक कृष्ण से साक्षात्कार हो जाता है, तब प्रियतम के सहसा दर्शन पाने से अनेक प्रकार के भावों का वैलक्षण्य उत्पन्न होता है। ये ही भाव 'विलास' की संज्ञा से भूषित होते हैं।[९७] कृष्णदास कविराज ने भी चैतन्यचारितामृत में इसी रूप में इसकी चर्चा की है।

कुट्टमित—कृष्ण राधा दोनों ही एक दूसरे से मिलने के लिए समुत्सुक हों तथा प्रिय द्वारा केशस्तन आदि अंगों का स्पर्श या मर्दन किए जाने पर उल्लास तथा सुख्य भाव का अनुभव करते हुए विलक्षण गति से अंगों को चलाने अथवा सीत्कार करने को कुट्टमित कहा गया है।[९८] सामान्यतः यह केलि-कलह में झूठे रोष का प्रदर्शन है।[९९]

मोट्टायित—प्रिय दर्शन की अभिलाषा रखते हुए अथवा किसी अन्य से प्रिय के रूप-गुणादि की चर्चा सुनते रहने के लिए जब नायिका उधर ही कान लगाए रहती है, किन्तु ऐसा भाव प्रदर्शित करती है कि वह देख या सुन नहीं

(ख) गर्वाभिलाषरुदितस्मितासूयाभयक्रुधाम।
संकरीकरणं हर्षादुच्यते किलकिंचितम्॥
—उज्ज्वलनीलमणि, अनुभाव प्रकरण, कारिका ४४, पृ० ३३८

९७. राधा वसि आंछे किवा वृन्दाबने याय।
ताहां यदि आचम्बिते कृष्ण दर्शन पाय॥ १७८॥
देखितेइ नाना भाव हय विलक्षण।
सेइ वैलक्षण्येर नाम 'विलास' भूषण॥ १७९॥
—श्री चैतन्यचरितामृत, मध्यलील, चतुर्दश परिच्छेद, पृ० ३९२

९८. (क) लोभे आसि कृष्ण करे कञ्चुकाकर्षण।
अन्तरे उल्लास राधा करे निवारण॥१८४॥
बाहिरे वामता क्रोध, भितरे सुखमन।
'कुट्टमित' नाम एइ भाव विभूषण॥१८५॥
—वही, पृ० ३९३

(ख) स्तनाधरादिग्रहणे हृत्प्रीतावपि संभ्रमात्।
बहिः क्रोधो व्यथितवत्प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, कारिका ४९, पृ० ३४१

९९. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८७६

रही है तो इस प्रकार के भाव को 'मोट्टायित' कहते हैं।[१००] इसका प्रमुख उद्देश्य दूसरे से अपने मनोभावों का गोपन करना ही है। उँगलियों या पद-नखों से पृथ्वी कुरेदना तथा लज्जा के अन्य अनुभव भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

विव्वोक—भरत ने प्रेम प्राप्त करने के बाद गर्व या अभिमानवश नायिका द्वारा अनादर या उपेक्षा प्रदर्शित करने के भाव को विव्वोक अलंकार कहा है।[१०१] अतः नायिका द्वारा यौवन-धन अथवा कुल का गर्व या प्रिय के प्रति अपराध उसका केवल वाणी द्वारा अनादर या उपेक्षा करना ही है।

मौग्ध्य—जानी-सुनी और समझी हुई वस्तुओं के प्रति अनजान बनकर प्रिय के सामने या स्वयं प्रिय से ही उन वस्तुओं के विषय में जिज्ञासा प्रकट करना ही 'मौग्ध्य' है।[१०२] सरलता में निसर्गजन्य अकृत्रिम शोभा होती है किन्तु मौग्ध्य में चातुर्य का भाव विद्यमान रहता है।

चकित—कभी-कभी प्रिय के सम्मुख नायिका के अकारण भय-विभ्रम प्रदर्शन में भी एक शोभा होती है जिसे 'चकित' कहते हैं।[१०३]

उपर्युक्त सात्विक अनुभाव स्वभावज अलंकार के ही प्रमुख भेद हैं। भरतमुनि ने स्वभावज अलंकारों में लीला, विलास, विच्छित, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित तथा विहृल की ही परिगणना की थी। कालान्तर में भोज, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, केलि, चकित और बोधक जोड़कर इसकी संख्या उन्नीस कर दी है।

मधुर भक्ति के सात्विक भाव—सात्विक भाव यद्यपि अनुभाव ही है पर सत्व से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना अन्य अनुभावों से पृथक् की जाती

१०० (क) कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः।
प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमुदीर्यते ।।
वही, कारिका ४७, पृ० ३४०.

(ख) इष्टजनस्य कथायां लीलाहेलादिदर्शने वापि।
तद्भाव भावनाकृतमुक्तं मोट्टायितं नाम ।।
—नाट्यशास्त्र, अध्याय २२, श्लोक १६, पृ० १६१

१०१ इष्टानां भावानं प्राप्तवभिमान गर्वसंभूतः।
स्त्रीणामनादरकृतोबिब्बोको नाम विज्ञेयः ।।
—वही, श्लोक २१, पृ० १६१

१०२. अज्ञानादिव या पृच्छाप्रतीतस्यापि वस्तुनः।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ।।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १८२

१०३. कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः।
—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १८२

है। भक्ति रस शास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष अथवा कभी कुछ अव्यवधान होने पर भी श्रीकृष्ण और उनके भक्ति सम्बन्धी भावों के द्वारा आक्रान्त चित को सत्त्व कहते हैं।[१०४] सत्त्व, आत्म, विश्राम और प्रकाश करने वाले चित्त का आन्तरिक धर्म विशेष है, जिसके द्वारा सामाजिक हृदयों में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। उसी सत्त्व से उत्पन्न भाव सात्त्विक भाव कहलाते हैं।[१०५] श्री शिङ्गभूपाल के मतानुसार दूसरे भावों की अनुकूलता के द्वारा सुख-दुखादि भावना के माध्यम से किए गये भावन रूप चित्त को सत्त्व कहते हैं, उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक भाव हैं।[१०६] भरत के मतानुसार विशेष रूप से मनोवेग के द्वारा अभिनेय होने के कारण अनुभाव ही सात्त्विक भाव के रूप होते हैं। हेमचन्द्र के मतानुसार सत्त्वगुण के उत्कर्ष से सरलता के कारण प्रणात्मक वस्तु ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक भाव है।[१०७] यद्यपि नाट्यशास्त्र के अनुसार नौ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव, आठ सात्त्विक भाव और पचास भाव सत्त्व मूल होने के कारण सात्त्विक ही है, क्योंकि लोक में काम, क्रोध आदि मनोभाव राजस और तामस होत हैं, किन्तु काव्य में वह सत्त्व द्वारा ही अनुभव किये जाते हैं। इसलिए वे सभी सात्त्विक ही हैं तो कैसे आठ ही सात्त्विक भाव हुए ? सत्त्व ही एक मूल कारण होने के कारण आठ ही सात्त्विक भाव हैं। भाव की सूचना से वही अनुभाव भी कहलाते

---

१०४. कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात्किचिदाव्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, सात्त्विक भावलहरी, कारिका १, पृ० ९२

१०५. सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विका :।
—वही कारिका २, पृ० ९२

१०६. अन्येषां सुखदुःखादिभावनाकृतभावनम् :।
अनुकूलयेन यच्चितं भावकानां प्रवर्त्तते ॥
सत्त्वं तदिति विज्ञेयं प्राज्ञैः सत्वाद्भावानिमान्।
सात्त्विका इति जानन्ति भरतादिमहर्षयः ॥
सर्वेषामपि भावानां यैः सत्त्वं प्रविभाव्यते।
ते भावाः भावतत्त्वज्ञैः सात्त्विका समुदीरिताः ॥
—रसार्णवसुधाकर, प्रथम विलास

१०७. काव्यानुशासन २/५३/१४४

हैं।[१०८] बाह्य विक्षोभ एवं आन्तरिक विक्षोभ होने का कारण भी सात्त्विक भाव है। इस प्रकार 'गौवलीवर्दन्यायेन' से सात्त्विक भाव और अनुभाव का अभेद होने पर भी भेद हैं।[१०९] दशरूपककार के मत में उनमें अभेद ही प्रतिपादित होता है। उनके मत में सात्त्विक भाव और अनुभाव में भी रोमांच, स्वेद आदि दृष्टिगत होते हैं। केवल उन दोनों के उत्पत्ति का स्थान भिन्न है, क्योंकि सात्त्विक भाव शुद्ध समाहित मन से उत्पन्न होते हैं किन्तु अनुभाव तो केवल शरीर से ही, इसलिए उन दोनों में वस्तुतः पार्थक्य नहीं है। एक ही वस्तु काकाक्षिन्याय से अवस्था भेद होने के द्वारा दो प्रकार की संज्ञा प्राप्त करते हैं, वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं है।[११०] यद्यपि रसज्ञों की ही भाँति उनके मत में भी सात्त्विक भाव रस निष्पत्ति में सहायक होते हैं।[१११] किन्तु भरत के अनुसार रस निष्पत्ति में सात्त्विक भाव स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि वहाँ पर भी उसका वैशिष्ट्य तो है ही, इसलिए उनके द्वारा उसका पृथक् उपादान किया गया है। इस प्रकार भरत से प्रभावित कुछ परवर्ती आचार्यों ने भी अनुभाव में ही सात्त्विक भाव का अन्तर्भाव किया है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा भी काव्यानुशासन में उनका प्रत्याख्यान किया गया है।[११२] इस प्रकार लौकिक विषय

---

१०८. सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः।
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विकप्रथा॥
अनुभावाश्च कथ्यन्ते भावसंसूचनादमी।
एवं द्वैरूप्यमेतेषां कथितं भावकोविदै॥
—रसार्णवसुधाकर, प्रथम विलास

१०९. सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः।
—साहित्यदर्पण, ३।१३४।२०१

११०. पृथग्भावाभवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्॥
—दशरूपक ४।४

१११. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥
—दशरूपक ४।१

११२. बाह्यास्तु स्तम्भादयः शरीरधर्मा अनुभावाः।
ते चान्तरालिकान्सात्त्विकान्भावान्गमयन्तः।
परमार्थतो रतिनिर्वेदादिगमका इति स्थितम्॥
—काव्यानुशासन २।५३।१४७

आदि से अविच्छिन्न समाहित मन में सत्व से उत्पन्न सात्विक भाव केवल शरीर से उत्पन्न अनुभाव से भिन्न ही होते हैं। सात्विक भाव के बिना पूर्णरूप से स्थायी भाव रस रूप से अनुभव नहीं होता क्योंकि सात्विक भाव के दर्शन के पश्चात् ही सामाजिकों के द्वारा समाधि की भाँति पूर्ण रसानन्द का अनुभव किया जाता है। सात्विक भावों के द्वारा ही सामाजिक नाटक को सत्व रूप से देखते हैं। पाश्चात्य पूर्ण साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा रस का आस्वादन किया जाता है। रजस और तमोगुण के विनष्ट होने के पश्चात् ही सत्त्व के उद्रेक से रस निष्पादित होता है। मन में शुद्ध सत्त्व की उत्पत्ति होने के कारण सत्त्व का उद्रेक ही सात्विक भाव कहलाता है, भगवान् से सम्बन्धित विशिष्ट अन्तःकरण ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न सात्विक भाव सभी रसज्ञों के मत में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय यही आठ स्वीकृत हैं।[११३] मधुरा भक्ति में भी यही सात्विक मान्य है। वहाँ पर केवल वात्सल्य रस में भक्ति रसज्ञों द्वारा स्तनस्राव रूप में नवाँ सात्विक भाव स्वीकार किया गया है। हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद, अमर्ष से उत्पन्न वाग्व्यापाररहित, नैश्चल्यशून्यतादिरूप स्तम्भ, हर्ष, भय, क्रोध आदि से उत्पन्न शरीर जलोद्गम स्वेद रूप सात्विक भाव, आश्चर्य, हर्ष, उत्साह आदि से उत्पन्न रोमविक्रिय रोमाञ्च, विषाद, विस्मय, हर्ष इत्यादि से उत्पन्न स्वरभेद, राग, द्वेष, श्रम, भय आदि से उत्पन्न शरीर के कम्प वेपथु, विषाद, रोष, भय आदि से उत्पन्न मुख मालिन्य, शरीर कृशतादि रूप वैवर्ण्य, हर्ष, रोष, विषाद आदि से उत्पन्न नेत्र जलोद्गम अश्रु, सुख-दुख आदि से उत्पन्न चेष्टा ज्ञान से रहित पृथ्वी पर गिरना प्रलय रूपी सात्विक भाव है।[११४]

भक्ति रसशास्त्र के अनुसार वे सभी सात्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष रूप से तीन प्रकार के होते हैं। उसमें स्निग्ध भी मुख्य और गौण रूप से दो प्रकार का होता है।

सत्त्व से युक्त चित्त जब अपने प्राण में समाविष्ट होता है तब क्षुब्ध विकार युक्त प्राण शरीर को क्षुब्ध कर देता है। तभी प्राण से विक्षुब्ध शरीर पृथ्वी आदि चतुष्टय तत्त्व का आश्रय लेकर स्तम्भ आदि आठ दशाओं में उत्पन्न हो जाता

११३. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपुथः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृतः॥
—साहित्यदर्पण ३।१३५।८४

११४. (क) भक्तिरसामृतसिन्धु २।३।१५ से २।३।२४ तक।
(ख) साहित्यदर्पण ३।१ ६ से ३।१३६ तक।
(ग) नाट्यशास्त्र ७।६५ से ७।६८ तक।

है, उसे ही सात्त्विक भाव कहते हैं। उसमें विक्षुब्ध प्राण पृथ्वी, जल, तेजस, वायु और आकाश तत्त्व का सहारा लेता है एवं कभी तो स्वयं प्रधान होकर शरीर में विचरण करता है। उसमें पृथ्वी में स्थित प्राण स्तम्भ, जलाश्रित अश्रु, तेजस्थ स्वेद, वैवर्ण्यगत और आकाशगत मूर्च्छा अथवा प्रलय स्वप्रधान प्राण क्रम से मन्द, मध्य और तीव्रता के भेद से रोमाञ्च, कम्प और विवर्णता को प्राप्त करता है। इस प्रकार सत्त्व से युक्त चित्त ही भक्तों के हृदय में उस तत्त्व का आश्रय लेकर उसी सात्त्विक भाव के रूप में परिलक्षित होते हैं। बाह्य और आन्तरिक विक्षोभ के विधान करने के कारण वही सात्त्विक भाव के द्वारा भी कहे जाते हैं और वे ही अनुभाव कहलाते हैं।

भक्तिशास्त्र के अनुसार यद्यपि स्थायी, व्यभिचारी आदि सभी भाव सत्त्वमूला होते हैं। फिर भी सत्त्व ही एकमात्र मूल होने के कारण उन आठों सात्त्विक भावों की सात्त्विकता सत्त्व के तारतम्य के कारण प्राण शरीर की क्षोभता के तारतमयता को प्राप्त कर लेती है। इसीलिए समस्त सात्त्विक भावों की तारतम्यता भी दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार प्रचुर कालव्यापी और अनेक अंग के व्यापी होने तथा स्वरूप के उत्कर्ष के कारण उन सात्त्विक भावों के तीन रूप हो जाते हैं, फिर भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए सात्त्विक भाव धूमायित, ज्वलित, दीप्तोदीप्त भेद से चार प्रकार के हो जाते हैं। यह समस्त भेद भक्त को लक्ष्य करके ही वर्णित किए गए हैं। सात्त्विक भावों द्वारा ही रास आदि लीला दर्शकों की रसानुभूति को दूसरे भी ज्ञान कराने में समर्थ हो जाते हैं। भक्तों में जो रसानुभूति आभ्यान्तर रूप से अनुभव की जाती है, उसके व्यञ्जक ही सात्त्विक भाव होते हैं। भक्तिरसज्ञों के अनुसार जिस प्रकार भक्ति रस की निष्पत्ति अनुकार्य, अनुकर्ता तथा सामाजिकों में स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार सात्त्विक भावों की स्थित भी है। यद्यपि रस तो केवल अनुभूति का विषय है परन्तु दूसरों के दृष्टिगोचर होने के कारण सात्त्विक अनुभाव द्वारा कहे जाते हैं, उसमें भी अनुभाव तो रत्यादि स्थायी भावों के प्रकाशन होने के कारण बाह्य क्रिया रूप ही होते हैं किन्तु सात्त्विक तो बाह्यक्रिया प्रशासक तथा आभ्यान्तरिक क्रिया-प्रशासक होते हैं।

भरत के मतानुसार सात्त्विक भावों के प्रदर्शन में जिस प्रकार नटों के मन के समाधान की प्रधानता होती है, उसी प्रकार भक्ति में और भक्ति रस में मन के निरोध की प्रधानता होती है, क्योंकि मन का निरोध ही भक्ति है, जो सात्त्विक दशा में ही सम्भव है। अतः शृंगार की अपेक्षा मधुर भक्ति रस में सात्त्विक भावना का वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है।

मधुर भक्ति रस के संचारी भाव

विशेष रूप से स्थायी के प्रति जो भाव मुख्य रूप से चलते हैं वे भाव व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं।[११५] इस प्रकार वाचिक, आंगिक और सात्त्विक रूप से स्थायीभाव की गति के संचलन के कारण वे संचारी कहलाते हैं।[११६] भक्तिरसज्ञों के मत में वे संचारी स्थायी भाव रूप अमृत समुद्र में तरंगित होते हैं और उसी की रूपता को प्राप्त कर लेते हैं।[११७] रत्यादि अथवा निर्वेदादि चित्तवृत्ति रूप भाव लौकिक दशा में आस्वादित नहीं होते, पर वे ही काव्य और नाट्य में आस्वादित होते हैं। इसी लिए ही जो अपनी आत्मा को भावित, आस्वादित करते हैं, वे ही भाव स्थायी या व्यभिचारी कहलाते हैं। वे भावरूप से नाट्य और काव्य में सामाजिकों के मन को परिप्लावित कर देते हैं। जो सामाजिकों के मन को भावित एवं व्याप्त कर देते हैं, वे ही भाव कहलाते हैं। उनमें भी जो भाव प्राणियों के मन में जन्म से ही विद्यमान रहते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं, किन्तु जो भाव कार्य-कारण भाव से समय-समय पर कभी-कभी प्रतीत होते हैं वे व्यभिचारी कहलाते हैं। वे अनन्त वैचित्र्य के साथ उत्पन्न और विलीन हो जाते हैं। यह गगन में नाना प्रकार से कल्पित मेघ की भाँति होते हैं, इसलिए वे व्यभिचारी कहलाते हैं। भरत के अनुसार रसों में नाना रूप वाले प्रमुख रूप से जो भाव संचरणशील होते हैं, वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।[११८] मधुसूदन स्वामी के मत में काव्योपदिष्ट लौकिक रत्यादि के सहचारी ही संचारी भाव हैं।[११९] यही भाव आचार्य हेमचन्द्र ने भी व्याख्यान्वित किए हैं।[१२०]

---

११५. विशेषेणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये।
अनुभावादिहेतूस्तान् वदन्ति व्यभिचारिणः॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण ५।२१।२३९

११६. विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति
वाङ्गसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते।
—भक्तिरसामृतसिन्धु, व्यभिचारीभाव, कारिका १-२, पृ० १०६

११७. उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ।
ऊर्मिवद् वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपता च ये॥ —दशरूपक ४।७

११८. विविधाभावमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।
—नाट्यशास्त्र, भाग १, अध्याय ७, पृ० ३५५

११९. भक्तिरसायन ३।९

१२०. काव्यानुशासन, २।१८।१२४

दशरूपककार के मतानुसार समुद्र की तरङ्ग की तरह जो भाव स्थायी भाव में उत्पन्न और विलीन हो जाते हैं, वे ही संचारी हैं।[१२१] पंडितराज जगन्नाथ फेनबुद्बुद् न्याय से स्थायी के प्रति संचरणशील भाव को संचारी बतलाते हैं। माघ की दृष्टि में स्थायी के सहायक भूत भाव व्यभिचारी कहलाते हैं।[१२२] सङ्गीतरत्नाकर में विभावादि के द्वारा उत्पन्न रत्यादि को स्थायी भाव तथा स्वल्प विभावादि द्वारा दुर्बल रत्यादि को संचारी कहा गया है।[१२३] श्रीशिङ्ग भूपाल के अनुसार प्रधान रूप से वाणी के अङ्ग सत्त्व से युक्त जो भाव स्थायी के प्रति अपने से विभिन्न भावों का संचार करते हैं, वे स्थायी भाव रूप महा-समुद्र में जलकल्लोल की भाँति जब तक निमग्न और उन्मग्न होते हैं तब तक संचारी कहलाते हैं, किन्तु स्थिरता प्राप्त करने पर तो वे स्थायीभाव ही कहलाते हैं।[१२४] विश्वनाथ के मतानुसार विभावादिकों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कटता, अनुकूलता और वासना रूप के द्वारा सामाजिक के हृदय में स्थित रत्यादि स्थायी भावों को आस्वादन के योग्य करने वाले तथा समुद्र में तरङ्ग की तरह उन्मग्न और निमग्न होने वाले भाव संचारी हैं।[१२५] इस प्रकार सभी रसज्ञों के मन में रत्यादि स्थायी भाव के निर्वेदादि उत्पन्न और विलीन होने के द्वारा मुख्य रूप से संचरण करने के कारण संचारी अथवा व्यभिचारी कहलाते हैं।

सामान्यतः सभी रसज्ञों के मत में भरत द्वारा कहे गए तैंतीस प्रकार के संचारी स्वीकार किए गए हैं। वे संचारी इस प्रकार हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, स्मृति, व्याधि, मोह, धृति; आलस्य, जड़ता, व्रीडा (लज्जा) अवहित्था, वितर्क, चिन्ता; मति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष; असूया, चपलता, निद्रा, स्वप्न विबोध, अपस्मार तथा मरण।[१२६]

---

१२१. दशरूपक ४।७

१२२. स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो
यथा रसस्यैकस्य भूयासस्तथा नेतुर्महीभृतः ।
—शिशुपाल वध २।८८।८०

१२३. सङ्गीत रत्नाकर, भाग ४, अध्याय १७, पृ० ४४३

१२४. रसार्णवसुधाकर, द्वितीय विलास

१२५. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्चतद्भिदाः ॥
—साहित्यदर्पण, ३।१४०।२०३

१२६. नाट्यशास्त्र (द्वितीय संस्करण), ६।१८-२१।२६८

कुछ विद्वानों के मत में उक्त तैंतीस के अतिरिक्त मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, दैन्य, क्षमा, आश्चर्य, उत्कंठा, विनय, संशय, धृष्ठता आदि तेरह भाव संचारी के द्वारा गणना किए गए हैं। किन्तु भक्ति रसशास्त्र में उपर्युक्त तैंतीस संचारी भावों में ही इन सभी तेरह भावों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे कि असूया में मात्सर्य का, त्रास में उद्वेग का, अवहित्था में दम्भ का, ईर्ष्या में आमर्ष का, मति में विवेक और निर्णय का, दैन्य में कैवल्य का, धृति में क्षमा का, उत्सुकता में आश्चर्य और उत्कंठा का, तर्क में संशय का, चपलता में धृष्ठता का अन्तर्भाव हो जाता है। बहुत से रसशास्त्रज्ञों द्वारा ऐसा ही प्रतिपादित किया गया है।[१२७]

सामान्य रूप से भरत मुनि द्वारा कहे हुए तैंतीस संचारी भाव सभी आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत हैं, किन्तु कुछ आचार्यों द्वारा उनकी संख्या में वृद्धि का भी प्रयत्न किया गया है जैसे कि पण्डितराज जगन्नाथ के मत में तैंतीस के अतिरिक्त गुरुदेव, नृप, पुत्रादि विषयिणी रति। इस प्रकार चौंतीस संचारी भाव होते हैं।[१२८] भानुदत्त द्वारा छल नाम का संचारी भाव भी उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा संचारी भाव में ही काम की दस अवस्थाओं की भी गणना की गई है। इसलिए उनके मत में संचारी भाव की संख्या चौवालिस है।[१२९] राघवन महोदय के अनुसार नायिका के बीस अलङ्कार हाव, भाव, आलाप, सात्विक भाव, काम की दस अवस्थाएँ आदि सभी संचारी भावों में गिने जाते हैं।[१३०] रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है कि संचारी भाव की तैंतीस संख्या केवल उपलक्षण मात्र हैं, संचारी भाव तो अनन्त हो सकते हैं। इसलिए स्मरण द्वारा विस्मरण को भी संचारी होना चाहिए।[१३१] मधुर भक्ति रस के प्रतिष्ठापक रूप गोस्वामी के द्वारा यद्यपि नवीन तेरह भाव उत्पन्न होते हैं। किन्तु उन सबका उपर्युक्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। उनके मत में सभी संचारी स्वतन्त्र और परतन्त्र भेद से दो प्रकार के होते हैं। उसमें परतन्त्र भी वर और अवर भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें भी वर साक्षात् और व्यवहित भेद से दो प्रकार का होता है। उसमें भी मुख्य रति का पोषक साक्षात् और गौण रति का पोषक व्यवहित

---

१२७. रसगङ्गाधर, प्रथम भाग, पृ० ३६४

१२८. गुरुदेव-नृप-पुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।
—रसगङ्गाधर, प्रथम भाग पृ० २६७

१२९. भानुदत्त : रसतरंगिणी, पृ० ३०

१३०. राघवन : दी नम्बर ऑव रसाज, पृ० १५९

१३१. रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ० २१५-२१६

कहलाता है। यद्यपि संचारी स्वतन्त्र नहीं होते हैं तथापि जैसे भृत के विवाह में भृत की ही प्रधानता होती है राजा की नहीं, उसी प्रकार सदैव परतन्त्र होते हुए भी संचारी स्वतन्त्र हो जाते हैं। अतएव स्वतन्त्र संचारी भी रतिशून्य, रति अनुस्पर्श और रतिगंध भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार भक्ति रसशास्त्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद करके पुनः उन प्रभेदों को तैंतीस संचारी भावों में ही अन्तर्भाव कर दिया जाता है। अतः भक्तिरसज्ञों के द्वारा तैंतीस संचारी भाव ही स्वीकार किए गए हैं।

वे संचारी परस्पर विभाव और अनुभाव ही होते हैं,[१३२] जैसे कि ईर्ष्या निर्वेद का विभाव है और असूया में वही अनुभाव हो जाता है, चिन्ता निद्रा का विभाव है वही उत्सुकता में अनुभाव है, निन्दा वैवर्ण्य और अमर्ष का विभाव है तथा असूया का अनुभाव, प्रहार मूर्च्छा और संमोहन का विभाव है तथा उग्रता का अनुभाव। इस प्रकार संचारी और सात्त्विक का परस्पर कार्य-कारण भाव है। त्रास, निद्रा, श्रम, आलस्य, मद, विवोध आदि संचारी को छोड़कर शेष संचारी अनुभाव हो जाते हैं। त्रासादि छह द्वारा साक्षात् रति का सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण स्वय साक्षात् त्रास, श्रम आदि भावों को विनष्ट कर देते हैं। इसलिए उनके प्रति अनुरक्त भक्त में वे भाव साक्षात् उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु कभी-कभी लीला के दर्शन के लिए कृष्ण से त्रासादि की उत्पत्ति प्रदर्शित की ही जाती है, किन्तु उन भावों के प्रति श्रीकृष्ण साक्षात् कारण नहीं होते किन्तु वे भाव विरोधी समग्रता के साथ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हो जाते हैं।

इस प्रकार मधुराभक्ति को काव्यशास्त्रीय रूप प्रदान करने एवं उसे मधुरा भक्ति रस की कोटि में परिगणित करने में रूप गोस्वामी ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों आदि का निरूपण साहित्य शास्त्र के ही आधार पर किया है। ये समस्त भाव मिलकर ही अत्यन्त चमत्कारी मधुर भाव की सृष्टि करते हैं। अब हम मधुरभाव को मनोविज्ञान की कसौटी में कसकर देखने का प्रयत्न करेंगें।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मधुरा भक्ति

भगवान् के प्रति भक्तों की मनोराग की सर्वोत्कृष्टावस्था ही मधुरा भक्ति है। मनोराग ही भगवान् के प्रति भक्तों के रागात्मक सम्बन्ध का सर्वाधिक कोमल और कमनीय स्वरूप है। वह तो वाणी और मन से अगोचर एकमात्र

---

१३२. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथम भाग, पृ० ३६५

स्वकीय, अनुभवगम्य, अनुपम तत्त्व हैं। उसके रहस्य को जानने वाले तो उसके उपासक ही हैं। उस विषय में साधक समस्त लौकिक पदार्थों से पराङ्मुख होकर एकान्तिक रूप से परमेश्वर में अपनी आत्मा को जोड़ देते हैं। ईश्वर की उपासना का यह मार्ग यद्यपि स्वाभाविक ही है तो भी महाकष्ट साध्य है। जब साधक की समस्त लौकिक प्रवृत्तियाँ परमेश्वर के प्रति उन्मुख हो जाती हैं, तभी भक्ति में मधुर भावना का उदय होता है। उस प्रकार की विशिष्ट रसावस्था में ही मन की सभी आन्तरिक और बाह्य क्रियाएँ और संकल्प-विकल्प रूप शक्तियाँ स्वयं ही रुक जाती हैं, तभी मधुर भक्ति कार्य और कारण के सम्बन्ध से परे हो जाती है। अतः डॉ० रामस्वार्थ चौधरी का यह कथन कि "मधुरा भक्ति का दिव्य भूमि पर संरक्षण करने के लिए अनाविल और विशुद्ध मन की गम्भीर शक्ति अति आवश्यक है। इसमें साधक को समस्त विषयों से मन को मोड़कर एकान्तिक रूप से अपने इष्टदेव में ही लगाना पड़ता है। साधना के क्षेत्र में मानसिक साधना का यही अभिप्राय है।[१३३] साधक समस्त लौकिक प्रवृत्ति को परमेश्वरोन्मुख करके भक्ति में मधुरावस्था का आस्वादन करते हैं।

कार्य और कारण के सम्बन्ध से युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति में मधुर भाव लौकिक प्रेम-प्रतीकों द्वारा अलौकिक प्रतीत होता है। सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न करने, न करने तथा अन्यथा करने में समर्थ भगवान् भक्ति-भावना के अन्तर्गत होकर प्रेम के आधार और प्राणों के प्रिय हो जाते हैं। भावुक भक्तगण उसकी प्रियतमा होकर प्रियतम परमात्मा की मधुरलीला का रसास्वादन करते हैं। यद्यपि भगवान् की मधुरलीला में भी सभी कामपरक विषय से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियाँ विद्यमान हो जाती हैं किन्तु वे सभी विकार से शून्य ही होती हैं, वैषयिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख का यह वैशिष्ट्य है। इसीलिए ही मधुर भक्ति भाव से युक्त साधक लौकिक प्रेम-प्रतीकों द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के अत्यन्त गोपनीय और रहस्यपूर्ण भगवान् की प्रणयलीला का ही अनुभव करता है। उस विषय में जिस कारण से निराकार ब्रह्म साकार रूप से अवतार लेता है उसी कारण से लौकिक नित्य प्रेम की लीला के रस की अभिव्यक्ति के लिए ही लौकिक प्रेम के प्रतीक की आवश्यकता सिद्ध होती है। उसी अर्थ में ही मधुर भक्ति के मनोवैज्ञानिक विवेचन की आवश्यकता का मानसशास्त्र तथा भक्तिरस के ज्ञाता अनुभव करते हैं।

---

१३३. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी—मधुर रस : स्वरूप और विकास, भाग १, पृ० ४३

विभिन्न विद्वानों के विचार—भारतीय चिन्तन की आधारशिला आध्यात्मवाद है। इसी लिए समस्त भारतीय चिंतन-विधियों में आध्यात्मिकता का प्रभाव दृष्टिगत होता है, पर इसके ठीक विपरीत पाश्चात्य चिन्तन पद्धति प्राय: भौतिक प्रभाव द्वारा प्रभावित हुई दृष्टिगोचर होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाश्चात्य देशों में भक्ति का सर्वथा अभाव है, क्योंकि बाइबिल ग्रन्थ में, पाश्चात्य धर्मशास्त्र में भी ईश्वर के प्रति अनुराग और भगवत् प्राप्ति के सुख का अत्यधिक मनोरम रूप दृष्टिगोचर होता है। कबीर, नामदेव, दादू, धर्मदास आदि भारतीय साधकों की भाँति ईसाई साधकों द्वारा भी आध्यात्मिक सुखाभिव्यक्ति और आध्यात्मिक परिणय का मधुर वर्णन किया गया है। किन्तु भारतीय भक्तिसाधना में स्वतन्त्र रूप से जिस प्रकार भक्ति में मधुर-भक्ति-भावना का प्रतिपादन हुआ है उस तरह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए भारतीय और पाश्चात्य मानसशास्त्रियों की दृष्टि में विषमता है। पाश्चात्य मानसशास्त्री मनीषियों द्वारा भौतिक दृष्टि से मानव के मनोराग की मीमांसा की गई है। इस भौतिकवाद के युग में भौतिक प्रधान विचार दर्शन ही सर्वाधिक रूप से प्रशंसनीय है। ऐसा होने पर भी पाश्चात्य देशों में विशुद्ध रूप से भगवान् की प्राप्ति के लिए विद्वानों द्वारा आध्यात्मिक मार्ग का भी आश्रय लिया गया है। उनके मत में केवल भौतिक साधनों द्वारा ही मनुष्य सब प्रकार से प्रसन्न नहीं हो सकते, किन्तु आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा ही मनुष्य पूर्णरूप से सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए विनाशशील संसार में आध्यात्मिक मार्ग ही परम-कल्याणकारी है। पाश्चात्य मानसशास्त्रज्ञों के मत में मनोविश्लेषण का मूल आधार अचेतन मन ही है। जहाँ पर नेपथ्य में अज्ञात दशा में ही मनुष्य की अवरुद्ध कामवासना रात-दिन विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं का सृजन करती हैं, पर भारतीय मानसशास्त्रियों के मतानुसार वह चित्त की निम्नतमावस्था है, जो मानव के मन की अज्ञानता से प्रच्छन्न परिचायिका के रूप में विद्यमान रहती है। चित्त की सर्वाधिक उत्तमावस्था ही समाधि की दशा है, किन्तु इस भौतिक-युग में पाश्चात्यों के मत में सर्वप्रकार से भौतिक दृष्टि से ही विचार किया जाता है। वही बहुजनों के द्वारा प्रशंसनीय भी है तथा यह भी निश्चित है कि परमेश्वर के प्रति मनुष्य की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। कुछ प्रवृत्तियाँ तो घात और प्रतिघात से उत्पन्न होती हैं और कुछ प्रवृत्तियाँ सहयोग से उत्पन्न होती हैं। यहाँ विचार करना है कि मानव की प्रवृत्तियों में उसका क्या स्थान है? उपर्युक्त कहे गए विषयों में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी अपने-अपने विचार

प्रदर्शित किए गए हैं। इसी लिए मधुर-भक्ति-भावना के स्वरूप परिज्ञान के लिए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के विषय-सिद्धान्त विवेचन करने योग्य हैं।

इस विषय में पाश्चात्य मानसशास्त्रों के विकास की त्रिपथगा गंगा की भाँति तीन रूप हैं। उसमें प्रथम डॉ० वाटसन महोदय के मत में "मानव चित्त का जीवन में कुछ भी महत्त्व नहीं है, अपितु जीवन में मानव के व्यापार की ही प्रधानता होती है तथा मनुष्य के सारे व्यापार मशीन की तरह स्वयं ही निरन्तर चलते रहते हैं। सांसारिक विषयों का उपभोग ही जीवन का परम लक्ष्य है। परमात्मा तो कायर पुरुषों द्वारा भ्रम से ही स्वीकृत किया जाता है।[१३४] विचार का यह मार्ग मधुर भक्ति के स्वरूप विवेचन की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। अतः यह मत समस्त प्रकार से मधुर रस के विवेचन के प्रसंग में त्याज्य है।

डॉ० सिग्मण्ड फ्रायड, एडलर, युंग इत्यादि के सिद्धान्तों में यद्यपि थोड़ी बहुत विषमता दृष्टिगत होती है, तथापि इनके सिद्धान्त मूलतः मन की अचेतन अवस्था पर ही आधारित हैं। इन मनोवैज्ञानिकों के मत में "जीवन के सम्पूर्ण वृत्तियों का मूल कामवृत्ति ही है।" धर्म, कला और परमात्मानुराग आदि कामवृत्ति का ही परिष्कृत रूप है। इस प्रकार इनके मत के अनुसार परमात्मा के प्रति जो मधुर भक्ति भावना है वह तो अवरुद्ध कामवासना का ही परिष्कृत रूप है और कुछ नहीं।

विलियम मैग्डूगल महोदय आदि के अनुसार 'समाज प्रिय मनुष्यों की सभी व्यापारों में सकारण प्रेरणा का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए इस पक्ष में विद्वानों के द्वारा मनुष्यों की स्वाभाविक प्रेरणा, भावना और स्थायी वृत्तियों की प्रधान रूप से विवेचना की गई है। यद्यपि फ्रायड के मत में भी प्रधान रूप से कामवृत्ति स्वीकृत की गई है, किन्तु ठीक वैसे समस्त प्रेम सम्बन्ध में कामवृत्ति की ही कार्यकारणत्व नहीं स्वीकार किया गया है। इस विषय में मैग्डूगल के मतानुसार काम और स्नेह के एकत्व का विधान करके फ्रायड महोदय द्वारा अपनी भ्रान्ति का ही आविष्कार किया गया है। फ्रायड के मत में काम और स्नेह में कोई भेद नहीं है। इसलिए उनके मत में समस्त प्रेम के सम्बन्ध में समस्त क्रिया-कलापों में काम भावना द्वारा ही मानव की प्रवृत्ति प्रतिपादित होती है, यह अनुचित है।[१३५] समाज के कल्याण के लिए और सर्वोत्तम संस्कृति की रक्षा के लिए काम भाव का परिष्करण

---

१३४. इण्ट्रोडक्शन टु सायकालौजी ऑव रिलीजन, पृ० १२१

१३५. इण्ट्रोडक्शन टु सोशल सायकोलौजी, पृ० ३५१

आवश्यक है।[१३६] इस प्रकार इनके मत का वैशिष्ट्य यह है कि उनके द्वारा अन्य वृत्तियों के साथ मनुष्य की स्वाभाविक भक्ति-वृत्ति भी स्वीकृत की गई है और उसका विवेचन किया गया है तथा मानव-जीवन की सत्ता न केवल मन की अचेतनावस्था पर्यन्त ही सीमित है, बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी उसके महत्त्व का विवेचन है। इसलिए परमात्मा के प्रति भक्ति में मधुर भाव की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। इनका संक्षिप्तः विवेचन आगे किया जायेगा।

भक्ति में मधुर भावना की प्रवृत्ति का प्रयोजन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से— मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की सांसारिक विषयभोग की आकांक्षा सर्वथा स्वाभाविक है। सांसारिक विषयों से मानव के मन की विरक्ति के लिए शास्त्रों में महर्षियों द्वारा—कर्म, ज्ञान और भक्ति—ये तीनों साधन प्रतिपादित किए गए हैं। उनमें भी कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही सर्वजन सुलभ है, क्योंकि उस विषय में विषय के उपभोग का सर्वथा त्याग नहीं है, किन्तु उसके सेवन का केवल परिष्करण ही होता है। सभी वस्तुएँ भगवान् के प्रसाद रूप अनासक्त भाव से उपभोग की जाती हैं।[१३७] समस्त प्रकार से उनकी मानसिक वृत्ति विनष्ट नहीं होती, अपितु वह भगवद्विषयक ही परिष्कृत होती है। इस प्रकार भक्ति-मार्ग में स्थित साधक का चित्त सांसारिक विषयोन्मुख होकर परमेश्वरोन्मुख होता है।

इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक भी अन्य विषयों से मन को नियन्त्रित कर उसको भगवत् स्वरूप विषय में लगाना भक्ति के द्वारा ही स्वीकृत करते हैं। उस विषय में उनकी भक्ति क्राइस्ट के प्रति स्नेह की अधिकता से होती है। इसी प्रकार भारत में निर्गुण ब्रह्म के उपासक जीवात्मा को प्रेयसी के रूप में और परमात्मा को प्रियतम के रूप में स्वीकार कर भक्ति रस साधना की नदी प्रवाहित करते हैं। भगवद्लीला रसज्ञ के रसिक साधक अन्य रूप की इस पद्धति को सब प्रकार से स्पृहणीय समझते हैं। सांसारिक विषयों से विमुख भक्त भगवान् के प्रति रागानुराग रखने के कारण ही लौकिक तुच्छ विषयों को त्यागकर निरन्तर भगवत् प्रेम में ही रमण करते हैं। तात्पर्य यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधक अपने काम-भाव को अपने उपास्य में ही लगाता है। इस प्रकार लौकिक विषयों

---

१३६. इण्ट्रोडक्शन टू सोसल सायकॉलौजी, पृ० ३५८

१३७. ईशा वास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

—ईशावास्योपनिषद्, पृ० २

में अलौकिक भगवान् के रूप को परिवर्तित करके ही भक्त भक्ति में मधुर भावना का आस्वादन करता है। अतः मधुर रस के उपासकों की दृष्टि में अन्य समस्त रस तुच्छ हैं।

आधुनिक मानसशास्त्र की दृष्टि से निम्नलिखित प्रवृत्तियों के कारण ही मानव के चित्त में भक्ति व्युत्पन्न होती है। जैसे कि—

१. काम-प्रवृत्ति
२. परमानन्द-प्राप्ति-प्रवृत्ति
३. एकत्व-स्थापन और पूर्णत्व प्राप्ति की प्रवृत्ति
४. आदर्शवाद की प्रवृत्ति
५. आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति
६. असफल दाम्पत्य जीवन और अभुक्त कामवासना की प्रवृत्ति

उपर्युक्त कारणों से ही मनुष्यों में भक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है—मनोवैज्ञानिकों का यही मत है।

काम-प्रवृत्ति—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार कामवृत्ति मौलिक मनोवेग है। उसका मैथुन या प्रजननप्रवृत्ति से स्वाभाविक सम्बन्ध है। उस काम-वृत्ति का स्थायी भाव रति है। उसी का व्यावहारिक रूप प्रेम कहलाता है और वही प्रेम की मनोदशा स्थायी रूप है जिसमें वात्सल्य भाव, काम भाव, आत्मसमर्पण भाव और आत्म-प्रतिष्ठा का मधुर सम्मिश्रण होता है। कामवृत्ति में आत्म-समर्पण आदि सुकुमार भावों का मधुर संयोगों द्वारा ही प्रेम स्थापित किया जाता है। अतः जैसे समुद्र में बहुत-सी तरंगें उठती हैं तत्पश्चात् सभी तरंगें उसमें विलीन हो जाती हैं। उसी प्रकार जिसमें सारे रस भाव उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं, वही प्रेम कहलाता है।[१३८] पात्र-भेद से उस प्रेम को—वात्सल्य भाव, दाम्पत्य भाव और पूज्य भाव—तीन रूपों द्वारा दिग्दर्शित किया गया है। उसमें छोटे लोगों के प्रति जो स्नेह का आकर्षण है, वही वात्सल्य भाव है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम का आकर्षण दाम्पत्य भाव है। महापुरुषों के प्रति जो स्नेह का आकर्षण होता है, वही दैन्य, आत्म-समर्पण, पूज्य भाव अथवा श्रद्धा-भाव के नाम से जाना जाता है। परिपक्वावस्था में वही पूज्य भाव भक्ति रूप में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार जब लौकिक स्नेह अलौकिक स्नेह के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा

---

१३८. सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥
—राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी—रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन, पृ० ८ से उद्धृत

जीवनोन्मुख प्रेम जब परमेश्वरोन्मुख प्रेम में परिणत हो जाता है, तभी साधक के चित्त में रागमयी भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। दाम्पत्य प्रेम में ही प्रेम भाव का पूर्ण स्फुरण होता है और काम-भाव का पूर्ण परिष्करण भी उत्पन्न हो जाता है। उसमें स्वार्थ-भाव की गौणता और परार्थ-भाव की प्रधानता होती है। उसी मानव मन में ही कोमल भावों का उदय होता है जिसकी चरम परिणति मधुर भक्ति भावना की साधना में दृष्टिगोचर होती है।

परमानन्द-प्राप्ति की प्रवृत्ति--लौकिक प्रेम व्यवहार में मनुष्य नाना प्रकार की बाधा और विषमता का अनुभव करता है। प्रायः जीवन में सौभाग्य से कुछ ही क्षण सुख के प्राप्त होते हैं, किन्तु जीवन में प्रायः असफलता, नैराश्य और वियोग वेदना का साम्राज्य दिखाई पड़ता है। इसलिए मानव-जीवन में स्थायी एवं पूर्ण सुख के लिए उस प्रकार के शाश्वत प्रेम का आश्रय ढूँढ़ता है जो अक्षय, सुन्दरता से युक्त, रसानन्द-स्वरूप हो। जनजीवन की क्षणभंगुरता, लौकिक प्रेम व्यापार की असफलता से खिन्न और विरक्त मानव उस प्रकार के स्थायी प्रेम विषय को ढूँढ़ता है जो शाश्वत, चिरस्थायी और नित्य हो, जिसमें सुख किसी प्रकार से कभी कम न हो तथा जिसमें सुख संयोग के बाद वियोग की वेदना न दिखाई पड़े और स्थायी पूर्ण आनन्द की उपलब्धि हो। जिसमें अनन्त और अक्षय सौन्दर्य का साक्षात्कार हो तथा सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण हों। पूर्वोक्त भावना से ही प्रेरित होकर भक्तों एवं संतों ने अपने प्रेमाधार में अनन्त शील, अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य की स्थापना की है। सांसारिक पदार्थ की नश्वरता मानव हृदय को तीव्रगति से कष्ट पहुँचाती है जिसमें मनुष्य अक्षय परमसत्य पदार्थ के अन्वेषण में और उसकी प्राप्ति के लिए व्याकुल हो जाते हैं। उनका पूर्ण विश्वास है कि परमसत्य की प्राप्ति के पश्चात् ही शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होगी। तात्पर्य यह है कि शाश्वत सौन्दर्य अक्षय आनन्द के अन्वेषण के लिए मानव में उत्कृष्ट अभिलाषा उत्पन्न करते हैं। सांसारिक विषय से सम्बन्धित सुख के क्षणभंगुरत्व को देखकर ही मनुष्य चिरसत्य पदार्थ के अन्वेषण में प्रयास करते हैं। कबीर, दादू, नानक, नामदेव, धर्मदास आदि निर्गुण उपासकों द्वारा अन्योक्ति रीति से दृश्यमान जगत् का यथार्थ रूप चित्रित किया गया है। इसी प्रकार सूरदास आदि सगुणोपासकों द्वारा भी दृश्यमान लोक का अतिक्रमण कर पारलौकिक सत्य का सर्वाधिक आनन्द प्रदान करने वाले मंगललोक का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है।

एकत्व-स्थापन और पूर्णत्व-प्राप्ति की प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिक विलड्यूराण्ट के मतानुसार एकत्व-स्थापना की इच्छा अथवा पूर्णत्व-प्राप्ति की इच्छा जो लोक में दिखाई पड़ती है, वह तो अपने से वियुक्त भाव के अन्वेषण के लिए ही है। उनके

मत में एकत्व की इच्छा या पूर्णत्व-प्राप्ति की इच्छा प्रेम का प्रसिद्ध तत्त्व है।[१३९] स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक आकर्षण में एकत्व-स्थापना की भावना ही परिलक्षित होती है। दाम्पत्य प्रेम में एकत्व-स्थापन या पूर्णत्व की प्राप्ति पूर्ण रूप से दिखलाई पड़ती है। उसमें प्रेम अच्छी प्रकार से प्रस्फुटित होता है और प्रेमोत्कर्ष की दशा में प्रियतम सर्वत्र अपनी प्रियतमा को ही देखता है। उस प्रकार की विशेष अवस्था को प्राप्त प्रेम ही लौकिक प्रेम की क्षुद्र सीमा को लाँघकर समष्टिगत विस्तृत प्रेम-भूमि को प्राप्त करता है, फिर परमेश्वरोन्मुख प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। दाम्पत्य स्नेह ही एकत्व-स्थापन की अथवा पूर्णत्व-प्राप्ति की इच्छा का महान् आश्रय है, जहाँ पर द्वैत अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है। वही द्वैत और अद्वैत की विलक्षण भावना अन्ततोगत्वा भगवत् स्नेह का कारण हो जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रकार अपने प्रिया के गाढ़ालिंगन के समय पुरुष बाह्य और आभ्यन्तर समस्त ज्ञान को खो बैठता है, उसी प्रकार भक्त समस्त सांसारिक विषयों को भुलाकर मधुरानन्द के महासमुद्र में विचरण करता है। उसी प्रकार परमप्रिय परमात्मा के साथ अनुराग हो जाने पर जीवात्मा सम्पूर्ण वस्तुओं को विस्मृत कर देती है। वह परमात्मा की सायुज्य मुक्ति के द्वारा उससे भिन्न सब कुछ भुला देती है, उस समय उसकी सम्पूर्ण कामना अथवा इच्छा समाप्त हो जाती है।[१४०]

तात्पर्य यह है कि जीवोन्मुख स्नेह और परमेश्वरोन्मुख स्नेह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भिन्न स्वरूप वाली कामवृत्ति ही है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार पहले तो नर-नारी परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं। दैव के दुष्परिणाम में वियुक्त हो जाते हैं और बाद में विरह की वेदना से दोनों संतप्त हो जाते हैं। एकत्व-स्थापना की लालसा दोनों को ही सदैव कष्ट पहुँचाती रहती है। इसी तरह दैव के दुष्परिणाम से अलग हुआ परमात्मा का अंश जीवात्मा भी परमात्मा के साथ एकत्व की स्थापना के अभाव में विकलता का अनुभव करता है। तत्पश्चात् सद्गुरु ही परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग दिखलाता है और संयोग हो जाने पर जीव का सम्पूर्ण वियोग से उत्पन्न दुःख संयोग से उत्पन्न सुख में परिवर्तित हो जाता है। इसी तरह नर-नारी के, आत्मा-परमात्मा के मध्य में एकत्व-स्थापन की

---

१३९. द मैसेन्स ऑफ फिलासफी—विलड्यूराण्ट, चेप्टर ३

१४०. तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयँ रूपतद्यथा प्रियया।
स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदानान्तरमेवमेवायं ।।
पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरं।
तद्वा अस्यैतदाप्त काममात्मकाममकामेरूपंशोकान्तरम् ।।
—बृहदारण्यकोपनिषद्–३/२१

अभिलाषा से सम्पूर्ण संसार का क्रियाकलाप चलता है। सृष्टि की दो प्रकार की प्रसूति के आकर्षण और प्रत्याकर्षण में भी यही रहस्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि में तो एकत्व-स्थापना की उत्कट अभिलाषा ही प्रेम अथवा भक्ति कहलाती है।

आदर्शवाद की प्रवृत्ति—मनुष्यों द्वारा निरन्तर आदर्शवाद की कल्पना की जाती है और उसके अन्वेषण की प्रवृत्ति भी मिलती है। सामान्यतः मानव में यथार्थवादी और आदर्शवादी—यह दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। उनमें भी यथार्थ से तात्पर्य है, जीवन की वस्तु का वह स्वरूप जैसाकि वह है, अर्थात् वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप ही यथार्थ है। उसी का भाव आदर्शवाद कहलाता है। यथार्थ के बिना जीवन प्राणरहित है और आदर्श के बिना गति-रहित-सा प्रतीत होता है। अतः मानव-जीवन के सम्यक् विकास के लिए यथार्थ और आदर्श का परस्पर सामञ्जस्य अपरिहार्य है। उसी कारण से मानव सर्वदा आदर्शवाद का आकांक्षी दिखलाई देता है। जीवन में प्राप्त आनन्द तो अपूर्ण और अस्थायी होता है, इसलिए मनुष्य उत्कृष्ट आनन्द और चिरस्थायी सुख की कल्पना करता है। उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है। लौकिक जीवन का प्रेम-पात्र नश्वर और प्रतिक्षण नाशवान् होता है, क्योंकि उसका यौवन कुसुम जीवन-पत्र के विनाश के पूर्व ही कुम्हला जाता है, इसीलिए भक्त उस प्रकार के प्रेम-पात्र की खोज करता है जो निखिल सौंदर्य-रसानन्दमूर्ति तथा शाश्वत हो जिससे सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हों। जीवन प्रायः दुःखी दिखलाई पड़ता है, क्योंकि विष के समान इस विषम संसार में सुख और शान्ति कहाँ है ? यदि कभी सौभाग्य से सुख प्राप्त भी हो गया तो वह क्षणिक ही होता है।

उस अवस्था में यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य द्वारा उस प्रकार के सुख की कल्पना करनी चाहिए जो व्यापक और शाश्वत हो। इस प्रकार के संयोग की कल्पना हो जिसके द्वारा वियोगजन्य दुःख कभी न हो। अतः उत्कृष्ट जीवन के पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिए सुकुमार राजकुमार सिद्धार्थ, महावीर इत्यादि महापुरुषों द्वारा लौकिक सभी सुख त्याग दिए गए और महाभि-निष्क्रमण किया गया हो, जिसके द्वारा कोई भी रोग आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख न हों। वे परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिए निरन्तर व्याकुल थे। इसलिए उस प्रकार के सुखान्वेषण में संलग्न रहते थे जो एकरस चिरस्थायी, निखिल सौंदर्य-रसानन्दमूर्तिस्वरूप एवं सनातन हो। तात्पर्य यह है भक्ति भावना के लोभ में मनुष्य की आदर्श भावना भी महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व के रूप में विद्यमान रहती है। मानव-जीवन में आदर्शवाद का व्यापक प्रभाव पड़ता है जिसके

द्वारा आत्मा के अक्षय सौंदर्य, अपरिमित आनन्द, अमर प्रेम-पात्र की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण सुख की सामग्री को त्यागकर प्रियतमा परमात्मा की याचना करती है और उसी में सुख का अनुभव करती है।

आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मरक्षण की प्रवृत्ति—यद्यपि मनोवैज्ञानिकों के मत में काम जीवन का सर्वाधिक प्रबल और व्यापक मनोवेग है, क्योंकि प्राणिमात्र के सम्पूर्ण क्रियाकलाप के मूल में किसी न किसी प्रकार के काम का प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु व्यापक रूप से विषय के विवेचन की दृष्टि से आत्मरक्षा की मूल प्रवृत्ति ही सर्वोपरि सिद्ध होती है, क्योंकि भय, भोजनोपार्जन, पलायन आदि वर्तमान-कालिक आत्मरक्षण के लिए ही होते हैं। प्रजनन और आत्मप्रतिष्ठा की प्रवृत्तियाँ भविष्यकालिक आत्मरक्षा की भावना द्वारा हुआ करती हैं। पुत्र के प्रयोजन हेतु ही स्त्रियाँ होती हैं, इत्यादि द्वारा भी भविष्यकालिक आत्मरक्षा की भावना से ही स्त्रियों के ग्रहण आदि का निश्चय होता है। भविष्यचिन्तक मनुष्य महाकल्पान्त पर्यन्त अपनी स्मृति का चिन्ह स्थापित करने की इच्छा करता है। इसलिए पुत्रों और पुत्रादि के अभाव में मनुष्य धर्मशाला, यज्ञ, स्तूप, मन्दिर आदि लोककल्याणकारी धार्मिक कृत्यों द्वारा चिरकालपर्यन्त अपनी स्मृति के चिन्ह स्थापित करता है और उसी के द्वारा वह आत्मप्रतिष्ठा का अनुभव करता है। वह सम्पूर्ण कार्य आत्मरक्षा की भावना से ही करता है। शास्त्रों में सृष्टि की प्रणाली की रक्षा के लिए ही दाम्पत्य सम्बन्ध का विधान किया गया है तथा सन्तानोत्पत्तिरूपी पुण्य कार्य द्वारा ही उसे सफल माना गया है। मनु ने कहा है कि "मनुष्य पुत्र द्वारा सम्पूर्ण लोकों को जीत लेता है, पौत्र द्वारा चिरकाल पर्यन्त अक्षय सुख को प्राप्त करता है और प्रपौत्र के द्वारा सूर्यलोक को प्राप्त करता है। 'पुं' नाम का नरक है; उससे रक्षा करने के ही कारण 'पुत्र' कहलाता है। इस प्रकार की संज्ञा स्वयं प्रजापति द्वारा दी गई है।[१४१] देवर्षि, पित्रादि के ऋण से मुक्ति के लिए भी सन्तानोत्पत्ति पुण्य कर्म द्वारा शास्त्रों में प्रतिपादित की गई है। जैसे कि मनुष्य ब्रह्मचर्य धारण करके ऋषि ऋण से, यज्ञ द्वारा देव ऋण से और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से

---

१४१. पुत्रेण लोकाज्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रह्मस्याप्नोति विष्टपम् ॥३७॥
पुन्नमनोनरकात् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वमेव स्वयम्भुवा ॥३८॥
—मन्वर्थभास्कर भाषा टीका-सहित: मनुस्मृति, नवाँ अध्याय, पृ० ६०६

मुक्त हो जाता है।[१४२] इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति रूपी कार्य में भी आत्मरक्षा की भावना ही प्रधान है। मनोवैज्ञानिकों के मत में भी सन्तान के स्नेह की वृत्ति तो ज्ञान और सदाचार की जननी है।

तात्पर्य यह है कि मंगलमयी सृष्टि की रक्षा के मूल में आत्मरक्षण की भावना ही उत्प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान है। भय, भोजनोपार्जन, संघर्ष आदि प्रवृत्तियों का सम्बन्ध वर्तमानकालिक आत्मसंरक्षण की भावना से है तथा प्रजननवृत्ति का सम्बन्ध भविष्यकालिक आत्मरक्षण की भावना से है। मधुर भक्ति के मूल में भी आत्मरक्षण के भाव निहित हैं। मनुष्य (प्रेम), सर्वोत्कृष्ट प्रेम-पात्र, अनन्यशक्तिमान, सौन्दर्यनिधि, परमानन्द सुखकर परमात्मा के स्वरूप को मधुर भक्ति में प्राप्त कर स्थिर आनन्द का अनुभव निरन्तर अपने हृदय में चाहता है। आधुनिक मनोविश्लेषण के कर्ताओं क अनुसार भक्ति भी आत्मरक्षण के लिए ही है।

कुछ मनोविश्लेषणशास्त्रियों के मत में मनुष्य यश के लिए भगवद्पुराण के प्रति प्रवृत्त होता है। वह विश्वास रखता है कि भगवद्भक्ति के अनन्तर वह संसार में यशस्वी होगा। लोग भगवद्भक्त मानकर और जानकर पूजा करेंगे, श्रद्धा से नामस्मरण करेंगे। इस प्रकार से मानव के हृदय में आत्म-प्रतिष्ठा द्वारा आत्मरक्षण का मौलिक भावना ही कार्य करती है—ऐसा सिद्ध है। इसीलिए मनुष्य उस समय वैषयिक सुख से विमुख होकर आध्यात्मिक सुख के अन्वेषण का प्रयास करता है और उसके बिना तो यह संसार दुःखमय है, जीवन व्यर्थ है ऐसा मानता है। उस समय वह भगवान् के दर्शन के लिए परमात्मा की अनन्त मधुर संयोग और अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए समस्त प्रकार के कार्यों का परित्याग करने के लिए उद्यत रहता है।

अभुक्त कामवासना की प्रवृत्ति—फ्रायड, एलिस इत्यादि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मत में सम्पूर्ण क्रियाकलापों की सम्पादिका अपूर्ण कामवासना ही है। उनके मतानुसार अपूर्ण वासना ही विविध कार्यों में मनुष्य को प्रेरित करती है। इसलिए भक्ति का हेतु ही अवशिष्ट कामवासना है, क्योंकि प्रेम और धर्म परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। ये दोनों मानव जीवन के सर्वाधिक शक्तिशाली मनोवेग और जीवन की स्वभावकीय प्रवृत्ति समुचित समय में यदि भक्तिभाव में

---

१४२. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणी जायते।
ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेय देवेभ्यः प्रजयापितृभ्य इति ॥८॥
—बीस स्मृतियाँ 'बोधायन स्मृति' (सं०-पं० श्रीराम शर्मा), पृ० ४४५

परिणति होती है तो कौन-सा आश्चर्य है ? वह तो उसकी सर्वथा स्वाभाविक परिणति है ।

भक्ति के विषय में पाश्चात्य मानस-तत्त्वज्ञानियों के मत

सामान्य रूप से भक्ति के विषय में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के तीन मत हैं। कुछ विद्वानों के मत में क्षुधा, तृष्णा आदि की तरह मनुष्यों में भक्ति की भी स्वाभाविक वृत्ति है। अन्य मनोवैज्ञानिक विद्वानों के मत में भक्तिकामादि विविध भावों की मिश्रितरूपा है। दूसरों के मत में भक्ति परिवर्तित विषय स्वरूप काम ही है। किन्तु यह मत प्रायः खण्डित किया गया है।

भक्ति सर्वथा स्वतन्त्र वृत्ति है, ऐसा मानने वाले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर स्टॉरबक, प्रोफेसर हॉकिग, प्रोफेसर मॉरिस जस्टो, डॉ किंग आदि महानुभावों के मतानुसार भक्तिभाव, क्षुधा, तृष्णादि को प्रकाशित करते हुए मानव हृदय की स्थिर स्वाभाविक वृत्ति है। वह मानव का स्वाभाविक भाव है जिसको मनुष्य सर्वदा अनुभव करता है।[१४३] दूसरे मनोवैज्ञानिकों के मत में स्वतन्त्र रूप से भक्ति को स्वीकृत करना समीचीन नहीं है, क्योंकि वह काम, क्रोध, स्नेह आदि की तरह मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है।[१४४]

भक्ति विविध स्वाभाविक प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है, ऐसा मानने वाले ल्यूबा, मैग्डुगल, विलियम जेम्स, थाउलेस, जेम्स प्रट इत्यादि मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार भय, काम, समुदाय की प्रवृत्ति, दृढ़ता, प्रार्थना, शरणागति, श्रद्धा, आदर इत्यादि भक्ति की उद्भावक हैं। डॉ० मैग्डुगल के कथनानुसार भक्ति में श्रद्धा, भय, शरणागति, दयालुता, जिज्ञासा इत्यादि के भाव मिश्रित हैं।[१४५]

पूर्वोक्त भावनाओं के मिश्रण के रूप से ही भक्ति सब में व्याप्त रहती है। दास्य, सख्य, वात्सल्य इत्यादि रूप से शुद्ध प्रेम की निधि है। सार्वजनीन, और व्यापक रूप से भक्ति स्थायी वृत्ति के रूप में स्वीकृत की गई है।[१४६] इस प्रकार भक्ति स्वतन्त्र स्वाभाविक वृत्ति नहीं है, अपितु कुछ भावों का मिश्रित

१४३. (क) इण्ट्रोडक्शन टु द सायकॉलौजी ऑफ रीलिजन—थाउलेस, पृ० १२४
(ख) द स्टडी ऑफ रीलिजन—मारिस जस्टो, पृ० १६१-१६२
१४४. सायकॉलौजी एण्ड रीलिजस क्वेस्ट—आर० बी० कैटल, पृ० ३८
१४५. इण्ट्रोडक्शन टु सोशल सायकॉलौजी—मैग्डुगल, चैप्टर १३, पृ० २६०
१४६. द सायकॉलोजी ऑव रिलीजन—सेलबी, पृ० ३१

रूप है, इसलिए जीवन में भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। भक्ति के अन्दर दास्य इत्यादि भावों के विद्यमान रहने के कारण किसी भी दशा में मनुष्य भक्ति की अनुभूति करने में समर्थ है। इसलिए यद्यपि भक्ति स्वतन्त्र, स्वाभाविक वृत्ति नहीं है, फिर भी जीवन में काम इत्यादि स्वाभाविक वृत्तियों की तरह ही उसका महत्त्व है। दुर्भाग्यवश ही अचेतन शक्ति से परे भक्ति फ्रायड द्वारा नहीं सोची गई है। मानव-जीवन में सतत् आध्यात्मिक सहायता की आवश्यकता का अनुभव होता है और वह मनुष्य द्वारा धार्मिक भावना की भक्ति से ग्रहण की जाती है।

भक्ति और काम इस प्रकार नाम-भेद होने पर भी वस्तुतः दोनों एक हैं। ऐसा मानने वाले पाश्चात्य मानसतत्त्वज्ञों के मत में भक्ति सामान्य रूप से काम-प्रेरित प्रेम-भावना का छिपा हुआ स्वरूप है। उनके मत में कामी पुरुषों द्वारा परिकल्पित प्रियतमा के अतिरिक्त परमेश्वर और कोई नहीं है। इस प्रकार की उत्कृष्ट भक्ति कामभावना से स्वीकार करते हुए स्विशर द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि कामवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में सर्वाधिक शक्तिशालिनी वृत्ति है। उसी से ही जातीय विकास की परम्परा फैलती है। इसीलिए भक्ति में परमश्रेष्ठ कामभाव स्वीकार करने योग्य है। भक्तों में प्रचलित लिंग की उपासना भक्त कवियों की शृंगारपूर्ण रचना है। यह समीचीन नहीं है, क्योंकि भक्ति और काम में बहुत अन्तर है। वस्तुतः दोनों परस्पर सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध हैं। इस प्रकार प्रायः पाश्चात्य मानसशास्त्रियों का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। वे प्रायः भक्ति को काम का विकसित रूप मानते हैं। यह वस्तु का स्वभाव नहीं है।

भक्ति और काम में भेद—भगवान् के प्रति भक्त का, कामिनी के प्रति कामी का यद्यपि आसक्ति एक रूप ही है तो भी प्राकृत कामजन्य आसक्ति प्रायः बहिर्मुखी है, जबकि साधकजनों की अन्तर्मुखी होती है। साधक जब अपने सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमित कर अन्तर्मुखी होकर ध्यानपूर्वक विश्व के प्रपंच का ध्यान करता है, तभी वह सर्वत्र ज्ञानरूप परमात्मा को ही देखता है। सामान्य कामदशा में तो किसी लौकिक विषय का ही ध्यान करता है। किन्तु भक्ति की विशिष्ट दशा में तो अपने चैतन्य के साथ तादात्म्य प्राप्त कर धीरे-धीरे साधक उसी के साथ रम जाता है। इस प्रकार भक्ति और काम एक नहीं हैं, भिन्न हैं।

भक्ति-साधना में दाम्पत्य-प्रेम का प्रयोजन

काम का विषय लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। लौकिक विषय कामजन्यादि रूप हैं, किन्तु अलौकिक विषय परमात्मा ही है।

कामशास्त्रप्रणेता वात्स्यायन के मत में भी काम मन का मूल भाव दाम्पत्य जीवन की आनन्दोपलब्धि का साधन है। काम न केवल ऐन्द्रिक सुख है, अपितु वह आनन्दानुभूति ही है। काम दाम्पत्य प्रेम के द्वारा अपनी सात्त्विक दशा में स्वार्थोपभोग की क्षुद्र सीमा को लाँघकर अपने प्रेमपात्रों के लिए सन्तानादि के लिए योगक्षेम करने की इच्छा करता है। बाद में वह परमार्थभाव से पूरित हो जाता है। उसकी चरम परिणति भक्ति में दिखलाई देती है। दाम्पत्य प्रेम में दम्पति परस्पर अभेद चाहते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत की यह भावना कालान्तर में ईश्वर प्रेम में परिणत हो जाती है। वृहदारण्यक उपनिषद् में प्रतिपादित है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा के प्रगाढ़ालिंगन में फँसा हुआ पुरुष प्रियतमा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, उसी प्रकार परमात्मा में आबद्ध व्यक्ति उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, आत्मा तक को भुला देता है।

यह संसार प्रकृति और पुरुष की लीला भूमि है। इसलिए मानव-जीवन में स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण है। उन दोनों का संयोग सृष्टि के विधान का कुशलता से युक्त कारण है, इसलिए उन दोनों के बीच में एक के भी अभाव में जीवन अपूर्ण है। नूतन निर्माण की आधारशिला दाम्पत्य प्रेम ही है। मानव जीवन में जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें से उत्कृष्ट दाम्पत्य अवस्था ही भक्ति है, ऐसा स्वीकार किया गया है और वही मधुर भक्तिरस साधना के साधकों का मूलाधार है। ऐसा भक्तिरस मानसशास्त्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है।

मानव मनोभावों में दाम्पत्य प्रेम ही आध्यात्मिक भाव के सन्निकट है। इसलिए आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति दाम्पत्य प्रेम की उपमा द्वारा ही की जा सकती है, दूसरे मार्ग से नहीं। सब जगह सदा भगवत् प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए साधकों द्वारा दाम्पत्य भाव ही लिया जाता है। उनके द्वारा परमात्मा का प्रियतम के रूप में और जीवात्मा का प्रियतमा के रूप में चित्रण किया गया है, उसी से भगवत् स्नेह की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई। ऐसे ही इस्लाम धर्म में भी सूफी साधकों के द्वारा परमात्मा और जीवात्मा की पति-पत्नी रूप में परिकल्पना कर आध्यात्मिक प्रेम का मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया गया है। ईसाई सम्प्रदायों में भी आध्यात्मिक प्रेम की ही भक्ति स्वीकृत है। इस प्रकार दाम्पत्य स्नेह में मधुर भक्ति के भाव को प्रकट करने के लिए पर्याप्त अवसर है। भक्ति साधना में दाम्पत्य सम्बन्ध का साधकों द्वारा यही प्रयोजन स्वीकार किया गया है।

दाम्पत्य भाव अत्यन्त व्यापक और उदार है। विश्व के सम्पूर्ण कार्य दाम्पत्य भावना से ही चलते हैं। दाम्पत्य भाव ही संसार की रचना और स्थिति का मूल

कारण है। दाम्पत्य प्रेम का केवल सन्तानोत्पत्ति ही फल नहीं है, वरन् उनके द्वारा परस्पर एक दूसरे के लिए आत्मसर्वस्व त्याग की साधना भी की जाती है। उनमें द्वैत की भावना भी की जाती है। उनमें द्वैत की भावना समस्त प्रकार से विलीन हो जाती है। दाम्पत्य भाव का प्रेम प्रकर्ष ही क्रमशः परिष्कृत को प्राप्त कर विश्व प्रेम में और अन्त में भगवत् प्रेम में परिणत हो जाता है। उसका व्याप्त स्वरूप सगुण उपासकों के ग्रन्थों में पूर्ण रूप से प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य भाव का लौकिक रूप ही दाम्पत्य भाव है। इसीलिए भारतीय दर्शन में भक्ति सम्प्रदाय में परमात्मा पुरुषोत्तम रूप में और जीवात्मा स्त्री रूप में कल्पित है। नाना प्रकार की प्रजाओं की रचना के इच्छुक परमात्मा अपने स्वरूप को स्त्री-पुरुष के रूप में दो प्रकार से विभक्त करता है।[१४७] निष्कर्ष यह है कि नारी और पुरुष का आकर्षण और पारस्परिक सम्मिलन आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक आकर्षण की लौकिक अभिव्यक्ति है। इसी भाव से प्रभावित कबीरादि साधकों द्वारा उत्कृष्ट प्रेम का भाव अभिव्यञ्जित किया गया है। आत्मा और परमात्मा के प्रियत्व का अनुसंधान कर लौकिक दाम्पत्य भाव अलौकिक जीव और ईश्वर के दाम्पत्य की प्रतिबिम्बरूपता को प्राप्त होता है। उपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है वह परमात्मा अकेले रति को नहीं प्राप्त कर सका, इसलिए उसने अपने को पति-पत्नी के रूप में विभक्त कर लिया। सभी उपासक जीव और परमात्मा के दाम्पत्य की परिकल्पना करके शीघ्रता से उनकी प्राप्ति और संयोग का रमणीय वर्णन किया गया है तथा उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के आधार लेकर बहुत-सा प्रपंच किया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से दाम्पत्य भाव का आध्यात्मिक स्वरूप ही मधुर भक्ति भावना की उद्गम-स्थली है। अतः हम यह कह सकते हैं कि मधुर भक्ति में दाम्पत्य भाव का अत्यधिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है।

इस प्रकार जब भगवद्विषयक रति स्थायी भाव ही निखिल सौन्दर्य-रसानन्दस्वरूप परमात्मा के आलम्बन, विभाव, रोमाञ्च, अश्रुपातादि अनुभाव, हर्ष, आवेग, औत्सुक्य इत्यादि रूप संचारीभाव के संयोग से मधुर रस की रूपता को प्राप्त करता है। तभी भक्तिभाव से आक्रान्त सहृदय के चित्र में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

---

१४७. द्विधा कृत्वात्मनोप्रजा नैववर्द्धेन पुरुषोऽभावत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां तु सोऽसृजद्द्विविधाः प्रजा॥

—ब्रह्म पुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ४२

प्रेम की चरम परिणति मधुर भक्ति रूप में

क्रम से विकसित होता हुआ प्रेम ही समय बीतने पर भक्तिरूपता को प्राप्त कर लेता है, अतः काम की चरम परिणति ही भक्ति कहलाती है। इसीलिए भावुक भक्तों द्वारा ब्रह्म और उसकी शक्ति में परमात्मा और जीवात्मा को दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध कर आध्यात्मिक परिणय की कल्पना की गई है एवं उनके मन में विश्वमोहक अनुपम सौन्दर्य के प्रतीक नित्य-स्वरूप परमात्मा के दर्शन की अभिलाषा सर्वत्र रहती है। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म के प्रति रति भाव की अनुभूति ही भक्ति भाव की सर्वप्रमुख विशिष्टता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मैक्डुगल प्रत्येक आवेग का किसी न किसी सहजात वृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। भय का आवेग तभी दूर होता है जब आत्मरक्षा की नैसर्गिक प्रवृत्ति के बन्धन का अनुभव होता है। इसलिए भय, काल में मनुष्य अपनी रक्षा के लिए यन्त्रवत् व्यवहार करने लग जाता है। आवेश में आकर तो धीर भी विचित्र ढंग से कार्य करने लगता है। प्रेम में आवेश की तीव्रता सर्वोपरि होती है, इसी लिए भक्ति के लिए प्रेम की अनिवार्यता साधकों द्वारा मानी गई है। अतः नारद के मत में भी भक्ति प्रेमस्वरूपा और स्नेहरूपात्मिका है। इस प्रकार भक्ति में प्रेम की ही प्रमुखता सिद्ध होती है। भक्त स्वयं कुछ भी प्रेम के अतिरिक्त लेने की इच्छा नहीं करता पर प्रियतम परमात्मा को अपना सर्वस्व देने की वांछा करता है। अतः भक्त में स्वसुखित्व की अपेक्षा तत्सुखित्व के ही भाव प्रधान हैं। ऐसे प्रेम में लौकिक मादकता तथा वासना से उत्पन्न उन्माद की गंध नहीं रहती। वास्तविक प्रेम में वासनारहित एवं अतिशय मोह का भाव होता है। संसार का सारभूत प्रेम तो ऐसा हो है। इसी में सभी रस और भाव उत्पन्न होकर समुद्र में तरंग की भाँति विलीन हो जाते हैं। प्रेम के द्वारा ही साधक द्वैत भावना द्वारा अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करता है। प्रेम भी द्वैत में ही अद्वैत का प्रतिपादक है, उसके द्वारा ही लोक में पति-पत्नी में भिन्नता होते हुए भी अभिन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार जल तथा चीनी भेद को त्यागकर रस के रूप में एक हो जाते हैं, वैसे ही इस सम्बन्ध में जानना चाहिए। इस प्रकार प्रेम के उत्सर्ग से उत्पन्न आत्मोसर्ग का भाव ही क्रम से विकास को प्राप्त कर विश्वकर्ता के प्रेम में परिणत हो जाता है। यही प्रेम का परिष्करण है और यही मधुर भक्ति का निदान है।

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से अनन्य प्रेमभाव व्यापक मनोवृत्ति है, क्योंकि कतिपय मनोवेगों के सम्मिश्रण क्रम से बौद्धिक तत्त्वों के समावेश और उसकी पुनरावृत्ति का प्रतिफलन है। प्रेम मन की स्थिर वृत्ति है जिसमें अपत्य स्नेह,

संघर्ष, जिज्ञासा, भोजनोपार्जन, निषेध, पलायन, आत्मप्रतिष्ठा, सामाजिकता, आत्मसमर्पण, निर्माण, आर्त-प्रार्थना, क्रीड़ा, अनुकरण, हास्य इत्यादि समस्त मूलप्रवृत्तियों तथा इससे सम्बन्धित वात्सल्य, क्रोध, उत्सुकता, क्षुधा, घृणा, भय, सहानुभूति, गर्व, उत्सर्ग, काम, परिग्रह, सर्जन और उत्साह इत्यादि मनोवेग के सम्मिश्रण से ही स्वरूप को प्राप्त करते हैं। प्रेम ही सृष्टि का आरम्भ है। इसलिए ही नर-नारी के मनोवेग में प्रेम-भावना की प्रमुखता विद्वानों ने स्वीकार की है। कामवासना में अपने प्रिय की प्राप्ति की जो शीघ्रता होती है, वही भक्तिशास्त्र में कामानुगा भक्ति कहलाती है। उस अवस्था में वे अपने प्रियतम के लिए प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। इस प्रकार आत्म-विलयन में अथवा सब प्रकार से आत्म-समर्पण में साधकों द्वारा अलौकिक आनन्द का अनुभव किया जाता है। प्रेम की वह अनन्यदशा निर्वचनीय होती है। उस प्रकार की विशेष दशा ही साधना की चरम सीमा है। साधक सब कुछ त्यागकर उस अनन्य प्रेम-दशा को सर्वदा चाहता है। जब चित्त की प्रेमाभावाकुलता लौकिक विषय को त्यागकर पारलौकिक विषय के प्रति उत्पन्न हो जाती है, तभी वह सर्वोत्तम भक्ति दशा कहलाती है।

काम के भक्तिरूपत्व से लाभ

फ्रायड के मतानुसार सभी प्राणियों की प्रवृत्तियाँ कामवृत्तिमूला ही हैं। किन्तु सामाजिक मर्यादा द्वारा अथवा अन्य कारण से स्वाभाविक कामवृत्ति रुक जाती है जिससे अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और जिनके द्वारा मनुष्य विकार ग्रस्त हो जाता है। इसलिए मानसिक विकारों से रक्षा के लिए और काम-भाव को मर्यादित स्वरूप प्रदान करने के लिए काम-भाव के विषय में परिवर्तन किया जाता है। यही फ्रायड के मत में कामवृत्ति का उन्नयन अथवा परिष्करण कहलाता है।[१४८] अपने मित्र परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा मनुष्य सन्तोष, शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है, वही काम-भाव परिष्कृत स्वरूपा भक्ति कहलाती है। तात्पर्य यह है कि फ्रायड के मत में काम वृत्ति की जीवन में प्रधानता है। उसका किसी भी कारण से सब प्रकार से तिरोभाव नहीं होता, किन्तु वह कारण-विशेष के सन्निधान से अन्य रूप द्वारा अपने को प्रकट करती है। दैविक शक्ति में अथवा आध्यात्मिकता में विश्वास के अभाव के कारण ही फ्रायड के मत में भक्ति काल्पनिक रूप से अथवा भ्रान्ति से उत्पादित की गई है। किन्तु आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास के कारण ही युंग, केनिथ, वॉकर इत्यादि विद्वानों ने

१४८ इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स, पृ० २९०

फ्रायड के परिष्करण सिद्धान्त को खण्डित किया है। जब मनुष्य सामाजिक बन्धन के पराधीन होकर स्वकामभाव को करने में असफल होता है, तभी वह अलौकिक परमेश्वर की कल्पना कर उसी की भक्ति में स्वयं डूब जाता है, जो फ्रायड का मत है, वह उचित नहीं है, ऐसा लोगों द्वारा कहा गया है।[१४९] इस प्रकार युंग इत्यादि के मत में परमात्मा के प्रति कामवासना की तीव्रता से दिव्य मनोराग का उदय नहीं होता है, किन्तु लौकिक विषय के विराग द्वारा और आध्यात्मिक अनुराग की प्रबलता से ही वह उत्पन्न होता है। इस विषय में विभिन्न भक्तों का जीवन-चरित्र प्रमाण है। इस प्रकार काम का परिष्कृत स्वरूप भक्ति है, ऐसा फ्रायड का मत युंग इत्यादि द्वारा खण्डित कर दिया गया है। इस प्रकार खण्डन में भी मधुर भक्ति रस के स्वरूप के उद्घाटन के लिए फ्रायड का मत अत्यन्त उपयोगी है। वही युंग, केनिथ, वॉकर, सैक्टीस आदि विद्वानों द्वारा कामभाव का भक्ति भाव में परिवर्तित होना कहलाता है। रूपान्तर की प्रक्रिया में मनुष्य की अधोमुखी वृत्तियाँ दैवी-भावना से दिव्य आत्मदर्शन द्वारा और उच्च मानसिक वृत्ति से प्रभावित होकर उर्ध्वमुखी हो जाती हैं। तब मनुष्य में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। बाद में लौकिक विषयों से पराङ्मुख होकर भक्त भगवद्-प्रेम में विलीन हो जाता है। विलियम प्रट के मतानुसार यद्यपि दूसरे कारणों से भी बहुत बड़ा परिवर्तन होता है, किन्तु भक्ति-भावना द्वारा ही जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन हो जाता है जिसके समक्ष अन्य सभी कारण नगण्य हैं। समस्त इच्छाओं से रहित होकर पुरुष भक्ति की ही सब प्रकार से रक्षा करता है। जिसके द्वारा मनुष्य समस्त दुःखरूपी शत्रु को जीत लेता है।[१५०]

डॉ० सैक्टिस के मतानुसार रूपान्तर मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है—

(१) दुःख का अनुभव

(२) दुःख निरोध की भावना

(३) दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने के उपाय का अन्वेषण तथा भगवान् के प्रेम की परिपक्वता।

उपर्युक्त कही गई तीनों प्रक्रियाओं का आधार लेकर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा रूपान्तर का मार्ग स्थापित किया गया है। उसमें प्रथम मनुष्य संसार में दुःख का अनुभव करता है, तत्पश्चात् मुक्ति के दुःसाध्यत्व को भी जान लेता है। जैसे-जैसे अपने वास्तविक दशा का सम्यक् ज्ञान कर लेता है, वैसे-वैसे दुःख से

१४९ द साथकॉलौजी ऑव सेक्स—ओस्वाल्ड स्कवार्टज, पृ० २३

१५० रिलीजियस कान्सस‌नेस—विलियम प्रट, पृ० १५८

अपनी रक्षा करने के लिए व्याकुल हो जाता है। अतः वह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ता है एवं महात्माओं के साथ संगति करता है। इस प्रकार दुःख निरोध का उपाय अनुसंधान-रूपान्तर की द्वितीय अवस्था है। कहे गए साधनों द्वारा जैसे-जैसे सांसारिक विषयों से विराग होता है, वैसे-वैसे परमेश्वर के प्रति मानव का अनुराग बढ़ता है और अन्त में परमेश्वर की ओर उन्मुख प्रेम पूर्णता को प्राप्त कर सांसारिक विषयों को आत्मसात् नहीं करता, तभी साधक सर्वत्र निखिल सौन्दर्य-रसानन्दस्वरूप परमात्मा से प्रेम करता है। ईश्वर प्रेम की यह परिपूर्ण अवस्था रूपान्तर की चरमावस्था कहलाती है। जिसमें भक्तिभाव को प्राप्त हुआ साधक सांसारिक विषय के उपभोग के पूर्व प्रक्रिया द्वारा ही अपने मन में परमेश्वर के प्रेम का अनुभव करता है। इस प्रकार सांसारिक भोग की निवृत्ति के स्वरूप रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा सर्वथा नष्ट हुई अभिलाषा वाला होकर भी मनुष्य सब प्रकार के मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।[१५१] अतएव सांसारिक दुःख से युक्त होकर भगवद्रस का अनुभव करता है। यही पूर्व एवं पाश्चात्य विद्वानों का भक्ति-विषयक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। पाश्चात्य विद्वानों के मत में तरुणावस्था ही पूर्व बतलाए गए रूपान्तर का प्रादुर्भाव काल है, क्योंकि तरुणावस्था में ही विविध विचारों का विशेष रूप से उत्थान होने के कारण ही मनोभावों का परस्पर संघर्ष होता है। डॉ० फारसीथ के मतानुसार मनोविज्ञान की दृष्टि से भक्ति का यह आत्म-रूपान्तरण पूर्णोत्कर्ष की प्राप्ति के सहज क्रम में फँसे हुए अवरुद्ध कामभाव का नूतन प्रबल आवेग के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है।[१५२] सांसारिक विषयभोग की चाह को मनुष्य बचपन से ही प्रारम्भ कर देता है, इसलिए रूपान्तर की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव इसी समय से हो जाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

थाउलेस के मतानुसार पापात्मा धर्म को प्राप्त कर लेता है और धर्मात्मा परमहंसता को प्राप्त कर लेता है, यही रूपान्तर है। इस प्रकार से काम का रूपान्तर भक्ति से हो जाता है, किन्तु अन्य गूढ़तम रूपान्तरों में तो कामभाव का उन्नयन नहीं होता। जहाँ काम प्रधान रूप से विद्यमान है, वहाँ जीवन क्रिया-कलाप की संचालिका से कामवृत्ति का परिष्करण हो जाता है।[१५३] असाधारण रूपान्तर तो मानव के सम्पूर्ण सहजवृत्तियों का भक्तिभाव में मधुर पर्यवसान है। इस प्रकार की विशिष्टावस्था में साधक समस्त लौकिक भावों को भुलाकर

१५१. द सायकॉलोजी ऑव रिलीजन—डब्ल्यू० बी० सेलवी, पृ० १८७

१५२. सायकॉलोजी एण्ड रिलीजन—फारसीथ, पृ० १३५

१५३. इण्ट्रोडक्शन टु द सायकॉलोजी ऑव रिलीजन—थाउलेस, पृ० २२४

भक्ति में मधुर भावना का अनुभव करता हुआ परमानन्द की प्राप्ति का अनुभव करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्यों के मत में लौकिक सृष्टि का मूल आधार स्त्रियाँ तथा अनादिवासना है। मन की रति के दो विषय हैं—नारी और स्वात्मा। उसमें भी श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम इन चारों मनोवेगों की समष्टि ही 'रति' है। रति के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु नारी है। रति की पूर्ति नारी से ही सम्भव हो सकती है। जब रति नारी रूप विषय को हटाकर आत्मनिष्ठ हो जाती है, तब इसी मधुर परिवर्तन को भक्ति की संज्ञा दी जाती है।[१५४] भक्तिदशा में साधक परमेश्वर के प्रति उसी प्रकार आकृष्ट हो जाता है जैसे पति पत्नी के प्रति आकृष्ट हो जाता है।[१५५] प्रिया विषय रति जैसे आनन्द को उत्पन्न करने वाली है, ऐसा लोक में अनुभव किया जाता है। इससे भी अधिकतर आनन्द भक्ति रस के रसिक आस्वादन करते हैं। यह आनन्द भौतिक आनन्द से सर्वथा भिन्न, विलक्षण एवं अनिर्वचनीय होता है। वह अध्यात्मरस मधुरता से आस्वादित किया जाता है तथा स्वाद के अनन्तर साधक सम्पूर्ण लौकिक विषय को त्याग कर किसी वाणी से अगोचर दशा को प्राप्त हो जाता है।[१५६] यह दशा ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मधुरा भक्ति का चरम लक्ष्य है। इस विशिष्टावस्था में ही साधक के समस्त ऐहिक भाव विनष्ट हो जाते हैं और भगवत्प्रेम की मधुर भक्ति का आस्वादन कर परम सुख का अनुभव करने लगता है।

निष्कर्ष—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि भक्ति भाव के मूल में मनुष्य की कामप्रवृत्ति, परमानन्द-प्राप्ति प्रवृत्ति, एकत्व स्थापन प्रवृत्ति, आदर्शवाद प्रवृत्ति, आत्मरक्षण-प्रवृत्ति, अभुक्त काम-वासना प्रवृत्ति प्रेरक तत्त्वों के रूप में कार्य करती है। मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों में मैथुन या प्रजनन प्रवृत्ति एक प्रबल वृत्ति है तथा काम एक अति व्यापक मनोवेग है। फ्रायड कामवृत्ति को समस्त वृत्तियों का मूल मानता है।

---

१५४. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी : मधुर रस स्वरूप और विकास (भाग १), पृ० ६५

१५५. पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः
—ऋग्वेद १०/१४९/४

१५६. स्वादुष्किलायं मधुमां उतायं तीव्रः किलायं रसवां उतायां ॥
—ऋग्वेद ६/४७/१

उसका मत है कि धर्म, कला आदि में उसी का उन्नयन हो जाता है, अर्थात् 'ईश्वर प्रेम' यौन प्रेम का ही परिष्कृत रूप है। ईश्वर के प्रति मधुरोपासना 'अवदमित कामवासना' का ही उदात्त रूप है। अतः सृष्टि की समस्त द्वित्व-प्रसूतियों के व्यापारों के मूल में आनन्दोपलब्धि की ही भावना निहित है। काम के उन्नयन का व्यावहारिक रूप ही दाम्पत्य प्रेम है जो आत्मा-परमात्मा के दाम्पत्य का प्रतीक है। इसका आध्यात्मिक स्वरूप ही भक्ति में मधुर भाव है।

भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना के विविध रूप

संत

संत शब्द बुद्धिमान, पवित्रात्मा[१](क), परोपकारी[१](ख), सदाचारी[१](ग), एवं सज्जन[१](घ) के अर्थ में सदियों से प्रयुक्त होता आ रहा है। भक्त, साधु, सज्जन आदि इसके पर्याय हैं। संतों के गुणों का गान मानस में तुलसीदासजी ने भी किया है।

संत शब्द के 'सत्' रूप का प्रयोग वैदिक साहित्य में ब्रह्म अथवा परमात्मा के लिए मिलता है। ऋग्वेद[२](क), छान्दोग्योपनिषद्[२](ख), तैत्तिरीयोपनिषद्[२](ग), पाहुड़ दोहा[२](घ) में 'संत' शब्द का प्रयोग 'एक' एवं अद्वितीय परमतत्त्व के लिए किया गया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने "अपरोक्ष की उपलब्धि के लिए

---

१. (क) प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।
—भागवत, १।१९।८

(ख) सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।
—वैष्णव साधना और सिद्धान्त, पृ० २४४ से उद्धृत

(ग) आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणम्।
—वैष्णव साधना और सिद्धान्त, पृ० २ से उद्धृत

(घ) बन्दौं सन्त समान चित, हित अनहित नहि कोइ।
अञ्जलिगत शुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोइ॥
—मानस, बालकाण्ड, मंगलाचरण, पृ० ७, १०

२. (क) सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
—ऋग्वेद १०।११४।५

(ख) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयाम्।
—छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१

(ग) असन्नेव सभवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्
अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद संतमेनं विदुर्बुधाः।
—तैत्तिरीयोपनिषद् ६।७।१

(घ) सन्तु णिरंजणु सोजि सिउ तहि किज्जउ अणुराउ।
—पाहुड़ दोहा (कारंज जैन सिरीज, ३८)

अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित होने वाले अनुभवी व्यक्ति को सन्त कोटि का कहा है।"[३] डॉ० रामकुमार गुप्त के मतानुसार "सत्य की प्रतीति एवं परमतत्त्व की खोज करने वाला व्यक्ति सामान्यतः जनसमाज में सन्त कहा जाता है।"[४] अतः सहज, शून्य, निरंजन, आदि कई महत्त्वपूर्ण शब्दों के समान 'सन्त' शब्द भी विभिन्न युगों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता आ रहा है। महाभारत में आचारनिष्ठ पुरुष को 'सन्त' की संज्ञा प्रदान की गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में अद्वितीय परम तत्त्व का स्वानुभूति द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने वाले तथा उसके साथ संयुक्त होने वाले ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के अतिरिक्त 'सत्' शब्द के कई अन्य अर्थ भी उपलब्ध होते हैं। 'सत्' शब्द 'ॐ तत्सत्' वाक्य में ब्रह्म का निर्देश करता है[५] किन्तु फिर भी इसका उपयोग 'अस्तित्व' एवं 'साधुता' के अर्थ में किया जाता है।

मध्ययुग में 'सन्त' शब्द सदाचारी, सज्जन, सुजान, परोपकारी, परदुःखकातर, पवित्रात्मा, साधक का पर्याय बन गया। भक्ति-आन्दोलन के साथ-साथ सन्त शब्द की महत्ता बढ़ती गई और यह शब्द महात्मा, सज्जन, भक्त, साधु, सदाचारी, महापुरुष, साधक आदि का व्यंजक बन गया। नामदेव, रामानन्द, कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास आदि सन्तों ने सन्त शब्द का प्रयोग अपने सहसाधकों के सम्बोधनार्थ किया है।

मध्ययुगीन साधना में यह शब्द निगुर्णमार्गीय साधक के लिए रूढ़ हो गया। इन लोगों की दृष्टि में ज्ञान से बढ़कर है भजन और भजन से बढ़कर है सदाचरण, जो सन्त जीवन का मुख्याधार है।[६] सन्त के लिए कोरे शुष्क ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं। ज्ञान और विवेक तब तक फलप्रद नहीं हो सकते जब तक उनके साथ मधुर राम तथा कृष्ण भक्ति का समन्वय न हो।

कबीर की दृष्टि में सन्त राग, द्वेष, असन्तोष, अधैर्य आदि से परे होता है। ऐसा विरला सन्त योगी, मुनिवर, ज्ञानी सबसे बड़ा होता है, क्योंकि काल सबको खा जाता है, पर एक सन्त ही अमर रहता है।[७]

---

३. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५

४. डॉ० रामकुमार गुप्त—गुजरात के सन्तों की हिन्दी साहित्य को देन, पृ० २३

५. ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः—गीता १७।२३

६. 'सन्त किनाराम', पृ० ३३८ से उद्धृत

७. जोगी गैले जोग भी गैले, गैले मुनिवर ग्यानी।
कहे कबीर एक सन्त न गइले, जाके चित ठहरानी॥
—डॉ० रामस्वार्थ चौधरी : मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, 'सन्त कबीर', पृ० ३३७ से उद्धृत

कबीर के शब्दों में सन्त निर्वैरी, निष्कामी, राम-स्नेही, परोपकारी तथा विषय-वासना से परे विवेकी, सारग्राही और 'गुरु मुरीद' होता है।[८] सच्चा सन्त न मुक्ति चाहता है और न भक्ति ही। वह तो भगवान् की भाव-भगति को पाकर ही सदा प्रसन्न रहने वाला है। सन्त मुक्ति द्वार को खोलने वाला है। उनकी संगति और भक्ति से जीव मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।[९] अतः प्रायः सभी भक्तों ने सन्त और सन्त-जीवन की विशेषताओं की विस्तृत चर्चा की है।

व्युत्पत्ति

किसी शब्द के यथार्थ अर्थ को समझने से पूर्व उसकी व्युत्पत्ति को समझ लेना आवश्यक है। सन्त शब्द की व्युत्पत्ति को ढूँढ़ने के क्रम में विद्वानों ने संस्कृत के सत्, सन्, शान्त एवं अंग्रेजी के सेण्ट आदि शब्दों की समीक्षा तथा प्रयोग एवं अर्थगत विभिन्नता की पर्याप्त छान-बीन की है।[१०] वेद में भी सन्, सत्ता तथा सत् शब्दों का प्रयोग भी सन्त शब्द के अर्थ में हुआ है। 'सन्त' शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत एकवचन में प्रयुक्त होता है, किन्तु यह मूलतः संस्कृत शब्द 'सन्' का बहुवचन है। 'सन्' शब्द भी 'अस भुवि' (अस् = होना) धातु से बने हुए 'सत्' का पुल्लिङ्ग रूप है। जो 'शतृ' प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल 'होने वाला' या 'रहने वाला' हो सकता है। इस प्रकार 'सन्त' शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्व' मात्र ही है।

डॉ० बड़थ्वाल ने इसकी संगति पालि भाषा के शान्त शब्द से जोड़ी है जिसका अर्थ निवृत्तिमार्गी या विरागी होता है।[११] अतः "शं सुखं ब्रह्मानन्दा-

---

८. निरबैरी निह-कांमता, सांई सेती नेह।
बिषिया सूं न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह॥
—सम्पा०, श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली, 'साध साषीभूत कौ अंग', साखी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५०

९. सन्त मुक्ति के पोरिया, तिन सौं करिए प्यार।
कुंजी उनके हाथ है, सुन्दर षोलहिं द्वार॥
—सम्पा०, श्यामसुन्दरदास—सुन्दरसार, 'साधु को अंग', साखी १०, पृ० २६४

१०. डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—सन्त दर्शन, पृ० ३

११. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—हिन्दी-काव्य का निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३२

त्मकं विद्यते अस्य'[१२] के अनुसार 'ब्रह्मानन्द सम्पन्न व्यक्ति' होना चाहिए। प्रसिद्ध बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' में भी कई स्थलों पर प्रयुक्त यह शब्द 'शान्त' अर्थ का ही द्योतन करता है।[१३] इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'संत' शब्द को 'सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति'[१४] के आधार पर बने हुए 'सन्ति' या 'संत्य' शब्द का विकृत रूप समझते हैं और इसका अर्थ 'फलदाताओं में श्रेष्ठ' मानते हैं। एक अन्य मतानुसार कुछ लोग इसे 'सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति' का आश्रय लेकर इसका अर्थ 'लोकानुग्रहकारी' भी सिद्ध करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "जो मानव लोकमंगल की कामना करता हुआ आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन को ही साध्य मानकर चलता है उसे ही हम सन्त कह सकते हैं।

भक्ति क्षेत्र में 'मधुर' शब्द का अर्थ

भक्ति विषयक समस्त परिभाषाएँ प्रेमतत्त्व को अपने में अवश्यमेव अन्तःभूत करती हैं। वह भक्ति चाहे प्रेमरूपा, अमृत-स्वरूपा, ईश्वर में परानुरक्तिरूपा, भगवदाकार परिणतिरूपा हो, साधन दशा की भक्ति हो अथवा साध्य दशा की प्रेम की अनस्यूतता सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है। प्रेमतत्त्वविहीन भक्ति असम्भव है। इसी प्रेमरूप भावभूमि पर अनेक प्रासाद निर्मित हुए, कहीं शान्त भक्ति के, कहीं दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुरा भक्ति के। अतः इन विभिन्न भक्ति प्रसादों में भी मधुर भाव की भक्ति लोकमानस के अधिक निकट होने के कारण अधिक लोकप्रिय रही है। इसी कारण भक्ति का सर्वाधिक एवं सर्वोत्कृष्ट विकास मधुर भाव में ही हुआ।

यह मधुराभक्ति कान्ताभक्ति सरसता, भावोद्रेक, प्रेमोत्कर्ष तथा तन्मयता की दृष्टि से भी अन्यतम है। प्रीति चाहे कामरूपा हो अथवा सम्बन्धरूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष की रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इसी रतिभावजन्य आनन्द को मधुर रस कहते हैं।

भारतीय अन्तरंग धर्म साधनाओं में तथ्य साधकों की गुह्य-साधनाओं में भी यत्र-तत्र मधुर भावभरित झाँकियाँ दृष्टिगत होती हैं। वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में भी युगलोपासना की प्रवृत्ति तथा त्रिपुरा सिद्धान्त में भी युगल रूप को कामेश्वर और कामेश्वरी के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि इन साधनाओं को मधुराभक्ति के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, फिर भी निःसन्देह रूप

१२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा, भूमिका भाग, पृ० १

१३. अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं १-भिक्खुवग्ग, गाथा ९

१४. सन्तं अस्य मनंहोति।—अर्हन्तवग्ग, गाथा ७

से यह स्वीकृत किया जाता है कि उसमें उपलब्ध युगलत्व माधुर्यभक्ति का ही सर्वोत्कृष्ट रूप है।

मधुर रस के सबसे बड़े प्रतिपादक श्री रूप गोस्वामी ने तो मधुरोपासनाजन्य आनन्द के समक्ष समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणुतुल्य स्वीकृत किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में मधुर रस को भक्ति रस की संज्ञा देकर निश्चय ही उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।[१५] भक्तिरस (मधुररस) को ही प्रकृत रस माना है तथा अन्य रसों को उसकी विभिन्न विकृतियों एवं प्रभेद के रूप में स्वीकार किया है। मधुररस को स्वतन्त्र रूप से स्थापित कर इसको रसराज की उपाधि से विभूषित किया है। शृंगार आदि रस तो सभी द्वारा आस्वादित किया जाता है, किन्तु मधुररस पुण्यवान् सहृदयों द्वारा भी अनुभूत किया जाता है। यह समस्त जनों के लिए सुलभ नहीं है। श्री रूप गोस्वामी के मतानुसार यह रस निवृत्ति में अनुपयोगी, दुरूह और रहस्यपूर्ण है।[१६]

निखिल संस्कृत वाङ्मय में भक्तिरस के अन्तर्गत यह मधुररस शुचि, शृंगार, उज्ज्वल आदि नामों से भक्तिरसज्ञों द्वारा अभिहित किया गया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य के विचारानुसार परम्परागत शृंगार रस ही केवल न्यूनाधिक भाव परिवर्तन से भक्तिशास्त्र में मधुररस कहलाता है।[१७] जयदेव के गीतगोविन्द में 'शृंगार सखिमूर्तिमानिव' पदों में शृंगार को ही उज्ज्वल रूप और मधुररस के रूप में व्यवहृत किया है।[१८] पद्म पुराण के अनुसार भी भगवान् श्रीकृष्ण के शृंगारमय, आनन्दमय भक्तिरस की मधुररस रूप से परमोत्कृष्टता प्रतिपादित की गई है।[१९] भागवत के प्रथम श्लोक के 'जन्माद्यस्य यतः' का अर्थ आद्यस्य

---

१५. उज्ज्वलनीलमणि, कारिका २

१६. भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिमी विभाग, पंचम लहरी, कारिका २, पृ० २३५

१७. शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
—आनन्दवर्धनाचार्य—ध्वन्यालोक २।७।६५

१८. शृंगार सखि मूर्तिमानिवमधौ मुग्धो हरिः क्रीडति।
—गीतगोविन्द १।४।१०

१९. न राधिका समा नारी, न कृष्णसदृशः पुमान्।
वयः परं कैशोरात् स्वभावः प्रकृतेः परम्॥
ध्येयं कैशोरकं ध्येयं वनं वृन्दावनं वनम्।
श्याममेव परं रूपमादिरेव परो रसः॥
—पद्म पुराण, पाताल खण्ड ७७।५२-५३

=आद्यरसस्य (श्रृंगाररसस्य मधुररसस्य वा) जन्म=उत्पत्तिः यतः=यस्मात् श्रीकृष्णादित्यादिभिर्मधुरभक्तिरसः प्रतिपाद्यते। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस मधुररस की उत्पत्ति श्रीकृष्ण से होने के कारण मधुरभक्ति रूप में प्रतिपादित की गयी है।[२०] वल्लभाचार्य ने मधुराष्टकम् में श्री मधुराभक्ति रूप की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। परमवस्तु रस रूप तत्त्व है तथा वह सम्पूर्ण जगत् उसी में ओतप्रोत है, फलतः यह सम्पूर्ण सृष्टि मधुमय है।[२१]

अतः श्री मधुराभक्ति का सब कुछ मधुर है। इस प्रकार भक्तिक्षेत्र में मधुर भावना का स्वाभाविक सन्निवेश है। मधुरभक्तिरस की परिभाषा देते हुए श्री रूप गोस्वामी कहते हैं कि भक्ष्यमाण विभाव, अनुभाव, सात्विक एवं संचारी आदि से पुष्ट मधुरारति आस्वाद योग्य होकर काव्यरसिक पण्डितों द्वारा मधुर भक्तिरस कही जाती है।[२२] जिसका विस्तार से विवेचन 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में किया है। संस्कृत कवि जयदेव ने इसी रस को लेकर राधाकृष्ण-अनुराग के पद लिखे। सूर के पूर्ववर्ती मैथिल, कोकिल, विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक श्रृंगार-काव्य से तो हिन्दी-जगत् भिज्ञ है ही। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के कृष्णोपासक भक्त कवियों ने भी, जैसे बँगला के चंडीदास, गुजराती के नरसी मेहता, मीराँ आदि ने भी इसी मधुर भाव का अनुगमन किया जिसका वर्णन इसी अध्याय में किया जाएगा।

'मधुर' शब्द की व्युत्पत्ति

विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदत्त मधुर भक्ति रस की परिभाषाओं के साथ ही साथ 'मधुर' शब्द की उत्पत्ति के विषय में भी जानकारी रखना आवश्यक है। इस 'मधुर' शब्द का सम्बन्ध 'मधु' शब्द के साथ जान पड़ता है जो शहद का पर्याय है। यह मधु विविध सुन्दर, सुस्वादु एवं सुगन्धित फूलों का वह रस होता है जिसे मधुमक्खियाँ संगृहीत किया करती हैं और जो सर्वथा मिष्ठ,

---

२०. जन्माद्यस्य यतोऽन्वादितरताश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः॥
—श्रीमद्भागवत, प्रथम श्लोक

२१. अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदय मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥२॥ इत्यादि
—स्तोत्र रत्नावली (वल्लभाचार्यकृत मधुराष्टकम्), पृ० २३३

२२. उज्ज्वलनीलमणि, कारिका ३, पृ० ५

स्वादिष्ट एवं रुचिकर होने के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में आत्मा को परमानन्दनिधि, परमप्रेमास्पद और मधुमय कहा गया है तथा मधुरभाव से उसकी उपासना करने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में 'मधु' शब्द स्वयं परमात्मा के लिए उल्लिखित है। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर कहा गया है कि दध्यञ्च आथर्वण ने स्वयं मधुब्रह्म विषयक ज्ञान को अश्विनीकुमारों के प्रति 'मधुविद्या' के रूप में ही दिया था।[२३]

इसी प्रकार 'अथर्ववेद' के प्रथम काण्ड के ३४वें सूत्र में भी ऐसे ही ब्रह्म-ज्ञान को 'मधुलता' के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।[२४] अतः कहा जा सकता है कि परमात्मा ही सभी वस्तुओं का सारतत्व है तथा वही सच्चा परमानन्द भी है। उसके साथ मिलन की चेष्टा ही सबके लिए निःस्वार्थ रूप की मधुर भावना कहला सकती है जिससे इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, वह मधुमय है। इस कारण समस्त वनस्पतियाँ मधुरता के साथ उत्पन्न हुई हैं। इसके मधुमय होने के कारण ही पवन मधु वहन करता है, सिन्धु मधु-रक्षण करता है। हमारा अन्तर मधुमय है, पृथ्वी के रजकण मधुमय हैं।[२५] आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी इसी प्रकार के भावों को वर्णित करते हुए कहा गया है कि मधुर वायु प्रवाहित हो, समुद्र मधुररस का वरण करें, ओषधियाँ हमारे लिए मधुमय हों, रात्रि हमारे लिए मधुफल प्रदात्री हों और उषा भी मधुमयी हो, समस्त पृथ्वी अर्थात् समस्त संसार हमार लिए मधुमय हो, द्युलोक (आकाश) भी मधुमय हो। हमारे लिए वनस्पतियाँ मधुमय हों, सूर्यदेवता मधुमय हों, गाय मधुमयी दुग्ध प्रदात्री हो।[२६] मधुरता के साथ उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ हम सबको माधुर्ययुक्त करें।

वेद के कई मन्त्रों में जीव, जगत् और परमात्मा के एकात्म भाव का प्रतिपादन किया गया है। यह परमेश्वर अनन्य है, अभिन्न स्वरूप आत्मा है,

---

२३. दध्यङ् ह यन्मध्वाप्यर्वणो वामश्वस्यशीर्ष्णा प्रयदीमुवाच।

— ऋग्वेद १। ११६।१२

२४. तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो
देवाः सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते।

—पातञ्जलयोगदर्शन में व्यासभाष्यसूत्र ३।५१।४४८

२५. ऋग्वेद १।९०।६,८

२६. मधुवाता ऋतायत इति तृमेनावेक्ष्य।

—आश्वलायन गृह्यसूत्र १। ४।१४

उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। आनन्द, हर्ष, आह्लाद तथा प्रसन्नता ये सब आत्मा से उत्पन्न हुए हैं। अतः हमारी मनीषा आनन्द, हर्ष, आह्लाद तथा प्रसन्नता से युक्त परमात्मा का उसी तरह स्पर्श करती है जिस तरह अपने पति को चाहने वाली पत्नी।[२७] तात्पर्य यह है, भक्त परमात्मा की कामना उसी भाव से करता है जिस भाव से एक तरुणी अपने तरुण पति की। उपासक की बुद्धि अपने उपास्य को ही चाहती है, उसके संयोग सुख से सन्तुष्ट होना चाहती है। ऐसे मन्त्रों में मध्यकालीन प्रेमलक्षणा भक्ति का पर्याप्त आभास प्राप्त होता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि प्रेयसी को अपने प्रिय स्पर्श से जिस तीव्र प्रेम की मधुर अनुभूति होती है, वैसी प्रेमानुभूति देव-स्तुति के समय वैदिक ऋषियों को भी होती है।

ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त तथा अथर्ववेद में भी भगवती की पूजा और भक्ति के प्रसंग में मधुररस के पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं। आत्मा-परमात्मा के माधुर्य-मण्डित दाम्पत्य सम्बन्ध की उद्भावना करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे प्रभो! एक मात्र तू ही निरतिशय अखण्ड आनन्द निधि है, यह मैं जानता हूँ। इसी लिए मेरी ये सभी बुद्धि-वृत्तियाँ तुझ आनन्द-निधि स्वात्मभूत भगवान् से सम्बद्ध होकर तेरी निश्चल अभिलाषा रखती हुई तेरे ध्यान में उसी प्रकार आनन्दमग्न हो जाती हैं जिस प्रकार युवती पत्नियाँ अपने-अपने सुन्दर प्रियतम का समालिंगन करती हुई।'[२८] दूसरे मन्त्र में इसी भाव को इस प्रकार व्यंजित किया गया है—'पति की प्रसन्नता और उसके आकर्षण के लिए कोई कामिनी अपने को सुन्दर शृंगार प्रसाधनों से सजाती है, उसी प्रकार प्रज्ञात्मा पुरुष को अनुरंजित करती हैं।'[२९]

पति-पत्नी (उपास्य-उपासक) का संयोग ही मधुररस का मूलाधार है। इसके लिए दोनों का पारस्परिक आकर्षण परमावश्यक है। जीवात्मा और परमात्मा, शक्ति और शक्तिमान के मधुर भाव सम्बन्ध की रहस्यमय उद्भावना द्वारा मधुर रस साधना के स्पष्ट संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर ऋग्वेद को भारतीय रस-सम्प्रदाय का स्रोत माना गया है।

---

२७. पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तंस्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः।

—ऋग्वेद १।६२।११

२८. ऋग्वेदसंहिता १०।४३।१

२९. ऋग्वेदसंहिता १०।७१।४

मधुरोपासना का स्वरूप

ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त भारतवर्ष में प्रचलित विभिन्न साधनाओं में पाँच रूप मुख्य हैं—वात्सल्य, दास्य, सख्य, शान्त, माधुर्य। इनमें भी माधुर्योपासना का स्थान श्रेष्ठ है।

पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म-माया, शिव-शक्ति, प्रज्ञा-उपाय, करुणा-शून्यता, कुलिश-कमल, इड़ा-पिंगला, नाद-बिन्दु, चन्द्रनाड़ी, सूर्यनाड़ी, स्वर-व्यंजन सभी पति-पत्नी तत्त्व के अमर नाम हैं। शाक्त, शैव, वज्रयानी, सहजयान, वैष्णव, सहजिया, कृष्ण-भक्ति आदि सभी सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष तत्त्व ही साधना का आकर्षण केन्द्र रहा है। यही लीनता की भावभूमि है, अनुभूति का क्षेत्र है, इसी भाव की साधना ही मधुर-भक्ति है।

मधुरोपासना के उत्कृष्ट उदाहरण हमें स्वभावतः वहीं पर बड़ी संख्या में उपलब्ध हो सकते हैं जहाँ दिव्य सत्ता को पुरुष रूप में स्वीकृत करते हुए उसके प्रति कान्ताभाव की भक्ति के साथ प्रेमासक्ति प्रकट की गई है।

मधुर भाव को मनुष्य की आदिवासना का परिणाम कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि प्रायः प्रत्येक उपासना पद्धति में यह तत्त्व प्राप्त होता है। माधुर्य भक्ति का साधक अपने इष्टदेव को परम प्रियतम जानकर ही उनके माहात्म्य एवं गुणों का गान सुनता है, उन्हीं गुणों का प्रेममय कीर्तन करता है, उनका साक्षात्कार होने पर उनकी सेवा-पूजा करता है। उन्हें अपना शुभचिन्तक समझते हुए अपने हृदय की गोप्यतम बात भी अत्यन्त विश्वास के साथ कह देता है। अतः माधुर्योपासक साधक अपने मनोभावों का समावेश अपनी उपासना में कर देते हैं।

मधुर भक्ति भावना के विभिन्न रूप

भक्त द्वारा विभिन्न रूपों में आराधना किए जाने के कारण मधुर भक्ति के भी विभिन्न रूप हैं। जब अपने आराध्य को भक्त अपना रक्षक तथा दुःख-निवारणकर्ता समझता है, तब उसकी माधुर्य भक्ति दास्य भाव की होती है जब वह अपने आराध्य का गुणगान सखा रूप में करता है, तब उसकी माधुर्य भक्ति सख्य भाव की होती है। जब भक्त अपने आराध्य को प्रेम तथा विनम्रतापूर्वक भोजनादि का पान करवाता है तो उसकी माधुर्य भक्ति वात्सल्य भाव की है, जैसे सूर के तथा तुलसी के काव्य में और जब वही भक्त अपने परमसौन्दर्यशाली प्रियतम परमात्मा के साथ आनन्दरस का आस्वाद लेता है तो वह माधुर्यभक्ति की अत्यन्त माधुर्यात्मक स्थिति में पहुँच जाता है। अतः माधुर्य भाव का परम उत्कर्ष भगवान् की कान्ताभावपरक मधुर लीलाओं में लक्षित होता है। इस

श्रेणी के भक्तों के अनुसार भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं उनमें मधुर भाव या कान्तारति का सम्बन्ध सर्वाधिक मनोरम है। वास्तव में मधुर भावना में जितनी निकटता का सम्बन्ध भक्त को प्राप्त होता है उतना सखा आदि सम्बन्धों में नहीं होता। दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध में निकटता एवं प्रेम का तीव्रतम रूप प्रकट होता है। उपनिषदों में इसलिए ब्रह्मानन्द के स्वरूप को पति-पत्नी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, "व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगन होने अर्थात् उसकी अनुभूति में आ जाने पर न तो कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का।"[30] अतः चैतन्य महाप्रभु, हितहरिवंश और स्वामी हरिदास आदि आचार्यों ने माधुर्य भाव की इसी मधुर लीलायुक्त भक्ति को ही बाद में मधुर भाव की भक्ति की संज्ञा से अभिहित किया है। अतः मधुर भाव की भक्ति में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन लीलाओं से इतर केवल मधुर एवं कान्ता भाव की लीलाओं का समावेश किया जाता है।

अतः स्पष्ट है कि भगवान् के मधुर प्रेम का आस्वादन करने के लिए भक्तों ने जिस उपासना को स्वीकार किया, उसे मधुर भाव की उपासना, मधुर भक्ति, माधुर्यभक्ति, उज्ज्वलभक्ति, भक्तिरस आदि नामों से पुकारा गया। इस उपासना में भक्त की भगवद्-विषयक तन्मयता उसी कोटि की होती है जिस कोटि की तन्मयता पत्नी के पति-प्रेम में होती है। अतः मधुर भाव की उपासना आनन्द की ही उपासना है। यह उपासना आनन्द के लिए ही है तथा आनन्द से ही होती है। इस उपासना में भक्त के अन्दर कुछ बातें प्रमुख हैं—

(क) परम प्रियतम इष्टदेव के स्वरूप की निरंतर अनुभूति।

(ख) इष्टदेव के प्रति प्रियतम भाव में दृढ़ता।

(ग) प्रियतम के प्रति सर्वस्व प्रदान करने की भावना।

(घ) सर्वत्र ईश्वर को ही देखना तथा उनके गुणों का गान।

उपर्युक्त समस्त प्रकार के लक्षण सन्तों के काव्य में लक्षित होते हैं जो भक्ति के क्षेत्र में मधुर भावना के ही अंग हैं।

औपनिषदिक मंत्रों में मधुरा भक्ति

उपनिषदों की दृष्टि में परमात्मा ही एकमात्र सारतत्त्व है और उसी में लीन हो जाना ही जीवात्मा का चिर-साध्य है। जीवात्मा और परमात्मा के महामिलन

३०. बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२१।२४६

और तज्जन्य परमानन्द की दाम्पत्यभावपरक रागात्मक अभिव्यंजना द्वारा मधुररस की उल्लासपूर्ण कल्पना की गयी है। "यह आत्मा ब्रह्म है"[३१] तथा अखिल विश्व ब्रह्म है[३२] के सिद्धान्त पर औपनिषदिकों की समस्त आध्यात्मिक विचारधारा अवलम्बित है। सूक्ष्म ब्रह्म घट में ही विद्यमान है, अक्षिणी पुरुष का निवास घट में ही किया जाता है।[३३] इस प्रकार सूक्ष्म और अद्वैत ब्रह्म को मानने के कारण वैदिक देवतावाद की उपेक्षा की गई है। आत्मा और परमात्मा की अनन्यता को अभिव्यंजित करने के लिए उपनिषदों में दाम्पत्य भाव की अनन्यता का दृष्टान्त दिया गया है, क्योंकि समस्त सांसारिक विषयों में दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध और आनन्द ही सर्वोपरि है। इससे मनुष्य एक ऐसी महाभाव दशा में पहुँच जाता है जिससे समस्त सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और मन उन्मुक्त होकर समरसता की स्थिति को प्राप्त होता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में इसी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—"जिस प्रकार पुरुष को अपनी प्रिया भार्या के आलिंगन में आबद्ध होने पर न बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह आत्मा प्रज्ञात्मा अर्थात् परमात्मा के साथ आलिंगनबद्ध होकर तन्मयता एवं अभिन्नता को प्राप्त होता है। वह बाह्य-आन्तर सभी विषयों से शून्य हो जाता है। यह उसका आप्तकाम शोक-शून्य रूप है। इसी सुषुप्तावस्था में पिता-अपिता, माता-अमाता, लोक-अलोक, देव-अदेव हो जाते हैं। इस विशिष्ट भावदशा में यह पुरुष पाप-पुण्य से असम्बद्ध होकर हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है।[३४] सुषुप्ति में मनुष्य के सो जाने पर केवल आत्म रूप में अनुभूति होती है अन्य नहीं, बाहरी या सांसारिक सम्बन्धों से उस समय अतीत होता है और कोई कैसा हो : ऊँचा-नीचा, विद्वान्-अविद्वान्, राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पापी-धर्मात्मा, बालक-युवक, स्त्री-पुरुष सब समान आत्म रूप में हो जाते हैं, क्योंकि सबको नैसर्गिक परमात्मा का संसर्ग मिलता है।[३५] मुण्डकोपनिषद् में ईश्वर को ही भोक्ता, भोग्य और भोग स्वीकृत किया है। वही नाना रूपों में अपने को सजाकर स्वयमेव ही क्रीड़ा करते हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्' द्वितीय का स्वाँग उसी का रचा हुआ है।[३६] 'श्वेताश्वतरोपनिषद्

---

३१. बृहदारण्यक उपनिषद्, अहं ब्रह्मास्मि, पृ० ५१
३२. छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।१
३३. छान्दोग्य उपनिषद् ८।७।४, पृ० १८७
३४. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१।२४६
३५, वही ४।२२।१६२
३६. उपनिषत्समुच्चयः—'मुण्डकोपनिषद्' ३।४।५।१०

में जीवात्मा रूपी प्रिया और परमात्मा रूपी प्रियतम के चिद्विलास, पुण्य विहार को आत्म-रति, आत्म-क्रीड़न, आत्म-मिथुन, आत्म-रमण और आत्माराम की संज्ञा दी गई है— जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। वस्तुतः वही कुमार और कुमारी है, वही एक मात्र भोग योग प्रेरक और भोक्ता है।'[३७] 'बृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य' उपनिषदों में स्त्री-पुरुष के संयोगजन्य काम क्रीड़ाएँ तथा स्त्री-पुरुष की मैथुन-क्रिया के मधुर संकेत अंकित हैं। स्त्री ही अग्नि है, पुरुषेन्द्रिय ही समिधा है, स्त्री का गुप्तांग ही ज्वाला है, उसका आकर्षण ही धूम है, प्रवेश ही अंगार है, आनन्द ही चिनगारी है और रेत ही आहुति है। 'बृहदारण्यक' में ब्रह्मानन्द की उपमा स्त्री-पुरुष के संभोगानन्द से देकर जीवात्मा और परमात्मा के मधुर मिलन से उत्पन्न होने वाली महासुख दशा की मधुर उद्‌भावनाएँ की गई हैं।

पुराण साहित्य में मधुर भावना का विकास

पुराण साहित्य मधुर रस साधना का आकर है। शक्ति और शक्तिमान का मानवीकरण तथा उनके आनन्दमय, रसमय और मधुमय रूपों की अवतारणा पुराण साहित्य की मौलिक विशेषता है। महाभारत में विष्णु के जिन अवतारों का नामोल्लेख किया गया है, उनका वास्तविक विकास पुराण साहित्य में ही सम्भव है। 'विष्णु के अवतारी रूपों में जिन लौकिक-अलौकिक शक्ति, शील और सौंदर्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा हुई है, वह पुराण काल की देन है।'[३८] पुराणों में विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि राम, कृष्ण, बुद्ध, और कल्कि दस प्रमुख अवतार माने गए हैं। हिन्दी साधना साहित्य में दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण के चरित्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। राम और कृष्ण दोनों के जीवन में प्रेम की प्रधानता है, पर रामचरित की अपेक्षा कृष्ण-चरित में ही मधुर रस का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। कृष्ण के अति मानवीय पक्ष की उपेक्षा कर दाम्पत्यभावपरक मधुर लीलाओं को सर्वाधिक महत्ता प्रदान कर वैष्णव भक्त कवियों ने मधुर भावना की जो अजस्र धारा बहाई है, उसका सर्वाधिक श्रेय पुराण साहित्य को ही दिया जाता है।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण—राधा-कृष्ण के स्वरूप, पारस्परिक सम्बन्ध तथा लीला-विस्तार का ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में विवेचन किया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में, जो कृष्ण-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पुराण है, गोपियों की चर्चा विस्तार से की गई है।

---

३७. श्वेताश्वतरोनिषद् ५।१०

३८. डॉ० रूपनारायण : ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति, पृ० २६

राधा गोलोक (वैकुण्ठ) में भगवान् श्रीकृष्ण की हृदयेश्वरी प्राणवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण श्रीदामा के शाप से राधा इस भूतल पर अवतीर्ण होती हैं। अतः राधा को प्रकृति रूप माना गया है, साथ ही वे ब्रह्म की जगत्-उत्पादिका शक्ति मानी गई हैं। दोनों ही विचार यहाँ तक एकसाथ समन्वित हैं। अन्तर यही है कि प्रकृति पुरुष के सान्निध्य से स्वयं सृजन करती है, पुरुष वहाँ अकर्मण्य रहता है। वेदान्त में ब्रह्म अपनी शक्तियों के आश्रय से सृष्टि करता है।

इस पुराण में शक्ति और शक्तिमान का स्वरूप देखने को मिलता है। वहाँ कहा गया है कि श्री राधा ही नारायणी शक्ति हैं, परा हैं एवं नित्य हैं। पुरुष परमात्मा की वे शक्ति हैं, परमात्मा को वे ही शक्तिमान बनाती हैं। उनके बिना परमात्मा सृष्टि रचना में समर्थ नहीं है। आगे कहा गया है कि राधा ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति हैं। जगत् में जो कुछ भी शिव और सुन्दर है, वह सभी श्रीराधा का ही विग्रह है। वे ही माया हैं जिनसे सब विमोहित रहते हैं।[३९] शक्तिस्वरूपा मूल प्रकृति राधा को ही वहाँ सृष्टि की आधारभूता बताया गया है। उन्होंने ही गर्भ धारण किया, उनका ही डिम्भ महाविराट् का सर्वाधार हुआ।[४०] राधा-कृष्ण दोनों को ही इसमें प्रेममूर्ति कहा गया है। दोनों प्रेम-वन में प्रेम का ही खेल खेलते हैं, मानो इन रूपों में ही प्रेम विलास करता है। इस प्रेम को पाना हो, तो प्रेम ही उसका एक मात्र मार्ग है। यही साधन है, यही साध्य है। प्रेम ही वह नित्य सम्बन्ध है जो एक को दूसरे के प्रति समर्पित करता है। प्रेम के कारण ही दो शरीर एक हो जाते हैं, तभी तो राधा कृष्ण की नित्य प्रिया हैं, प्रेयसी कान्ताओं में सर्वोपरि हैं। वे परमात्मा श्रीकृष्ण जी इसी लिए प्राणाधिष्ठात्री हैं।[४१] इस पुराण में गोपियों की संख्या अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से बताई गई है। कहीं छत्तीस करोड़ गोपी-गोप बताए गए हैं।[४२] कहीं शतकोटि गोपियों में छत्तीस शतकोटि संख्या केवल गोपिकाओं की ही गिनाई गई है। वैष्णवों के ग्रन्थों में गोपियों की संख्या असंख्य कही गई है। इस पुराण में एक स्थान पर बत्तीस गोपियों के नाम गिनाकर उनमें से प्रत्येक के यूथ में अनेक सहस्र गोपियों का कथन किया गया है। रास-क्रीड़ा का यह प्रसङ्ग इस दृष्टि से रोचक है। इन

३९. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, द्वितीय खण्ड 'ब्रह्मादिकृतलक्ष्मीनारायणस्तोत्रम्', श्लोक १३८, १३९, १४०, पृ० ५०

४०. वही, श्लोक ७०, ७१, ७२, पृ० ६५

४१. वही, प्रथम खण्ड, 'सृष्टिप्रकारवर्णनम्', श्लोक २७, पृ० ६६

४२. वही, 'प्रकृति खण्ड' श्लोक ४९, पृ० ३५३

बत्तीस प्रमुख गोपियों के नाम हैं—सुशीला, चन्द्रमुखी, माधवी, कदम्बमाला, कुन्ती, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजात, स्वयंप्रभा, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, सर्वमंगला, कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अम्बिका, सती, नन्दिनी, सुन्दरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चम्पा और चन्दना आदि। इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के उपर्युक्त भाव सूत्रों को ग्रहणकर 'राधा-कृष्णलीला प्रधान' भक्ति-सम्प्रदायों में मधुर भाव का निरूपण हुआ है।

पद्म पुराण

इस पुराण में वृन्दावन की नित्यलीला तथा राधा की चर्चा की गयी है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के समान ही पद्म पुराण में भी गोपियों के नाम हैं—राधा, ललिता, श्यामला, धन्या, हरिप्रिया, विशाखा, शैव्या, पंचा, भद्रा, चंद्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, चन्द्ररेखा,[४३] राधा और चन्द्रावली के अभिन्न गुण, लावण्य, सौन्दर्य इत्यादि अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।[४४]

"पद्म पुराण" में श्रीकृष्ण-राधा को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण विद्या, अविद्या, त्रयी और परास्वरूपा, शक्तिरूपी एवं मायारूप व चिन्मयी शक्ति बताया गया है। श्री राधा ही ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के देह धारण करने का कारण हैं। जितना भी चराचर जगत् है, वह जिस माया से परिरम्भित है, उस सभी की पालनकर्त्री होने के कारण वृन्दावनेश्वरी का नाम राधा है। उन्हीं का आलिंगन कर वृन्दावनेश्वर वृन्दावन में नित्य निवास करते हैं।[४५]

'राधिकोपनिषद्' में राधा को ह्लादिनी शक्ति के रूप में देखा गया है। कृष्ण की ह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेक शक्तियों में परम अन्तरंगभूता होने के कारण राधा के ह्लादिनी रूप को ही श्रेष्ठ माना गया है। इस पुराण में उन्हें कृष्णाह्लादस्वरूपिणी भी कहा गया है। मनीषियों द्वारा उनका यही नाम आह्लादकारी होने के कारण लिया जाता है।[४६]

---

४३. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्मसाधना', पृ० १३२

४४. पद्म पुराण, 'पाताल-खण्ड', वृन्दावन माहात्म्य, ७०।७-११, पृ० ८३

४५. पद्म पुराण, 'पातालखण्ड', ७७।१५।१६।१७, पृ० ६५

४६. वही, ८१।५३, पृ० १००

इस प्रकार श्रीराधा अपने आह्लादिनीत्व के कारण एक ओर जहाँ श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करती हैं, वहाँ वे भक्तों के हृदय में भी भक्तिरूप में, उसी शक्ति के कारण स्थित रहती हैं, वे सर्वत्र सर्वदा सब भाँति ह्लादिनी हैं।

विष्णु पुराण—विष्णु पुराण में कहा गया है कि संसार के स्वामी अनेक अवतार ग्रहण करते हैं और उनके साथ ही श्री या लक्ष्मी भी अवतरित होती हैं। लक्ष्मीजी पहले भृगुजी द्वारा ख्याति नामक स्त्री से उत्पन्न हुई थीं, फिर अमृत मन्थन के समय देव और दानवों के प्रयत्न से वे समुद्र से प्रकट हुईं। इस प्रकार संसार के स्वामी देवाधिदेव श्री विष्णु भगवान् जब-जब अवतार धारण करते है, तभी लक्ष्मीजी उनके साथ रहती हैं। जब श्री हरि आदित्य रूप हुए तो वे पद्म से फिर उत्पन्न हुईं और पद्मा कहलायीं तथा जब वे परशुराम हुए, तो पृथिवी हुईं। श्री हरि के राम होने पर ये सीताजी हुईं और कृष्णावतार में श्री रुक्मिणीजी हुईं। इसी भाँति अन्य अवतारों में भी ये भगवान् से कभी पृथक् नहीं होतीं। भगवान् के देवरूप होने पर ये दिव्य शरीर धारण करती हैं और मनुष्य होने पर मानवी रूप से प्रकट होती हैं। विष्णु भगवान् के अनुरूप ही ये अपना शरीर भी बना लेती हैं।[४७]

पुराणों में श्रीकृष्ण और गोपियों की कथा का अनेक प्रकार से विस्तार किया गया है। एक दृष्टि से गोपियाँ जीवास्थानीया हैं। गोपी और कृष्ण का मिलन आत्मा और परमात्मा का मिलन माना जाता है। पुराण और तंत्रों में राधा-कृष्ण आद्य प्रकृति पुरुष के रूप में भी चित्रित हैं। इन्हें ही शक्तिरूपा, मायारूपा और समस्त सृष्टि एवं ब्रह्मादि के देह धारणा का आदि कारण बताया गया है।[४८]

विष्णु पुराण में बताया गया है कि परा शक्ति ईश्वर की स्वरूपभूता शक्ति है एवं अपरा शक्ति गुणाश्रय है। इसी को क्षेत्रज्ञा कहते हैं। यह जगत् का विस्तार कर जगत् रूप में परिणत है।[४९] परा शक्ति विष्णु की मूलभूता अथवा स्वरूपभूता शक्ति है—यह भगवान् की भोग्य शक्ति है। इसके साथ ही व स्वरूप लीला कर आनन्दित होते हैं। अपराशक्ति की लीला बहिर्लीला है।

हरिवंश पुराण—हरिवंश पुराण में कृष्ण की चर्चा में लगभग बीस अध्याय लिखे गए हैं। परन्तु श्री कृष्ण के दुष्टदमन रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। इसमें निम्नलिखित घटनाओं का वर्णन प्रमुख रूप से मिलता है—शकट-वध,

४७. विष्णु पुराण १।९।१४१-१४५, पृ० ५४

४८. पद्म पुराण, 'पाताल खण्ड', ७७।१६, पृ० ८५

४९. विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
—विष्णु पुराण ६।७।६१, पृ० ५३८

पूतना-वध, दामबंध, यमलार्जुन भंग, वृक-दर्शन, वृन्दावन-प्रवेश, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध, गोवर्धन-धारण, हालीसक क्रीड़ा, वृषभासुखद आदि राधा-कृष्ण के अनेक नृत्यों तथा हल्लीशक आदि क्रीड़ाओं का वर्णन है। श्रीकृष्ण के संकेत पर गोपियाँ मण्डल बना कर नृत्य करती हैं। इन्हीं हल्लीशक आदि क्रीड़ाओं का पूर्ण विकास भागवत पुराण की रासलीला में हुआ है। हरिवंश की प्रेमक्रीड़ा वस्तुतः स्थूल शृंगार की है, उसके कवित्वपूर्ण अंशों में केवल पावस-ऋतु का वर्णन है। प्रेम व्यापार का विरह वाला अंश इसमें उतना विकसित नहीं हुआ जितना विष्णु पुराण में, आगे चलकर विरह वाले अंश को ही प्रधानता प्राप्त हो गई है।

भागवत पुराण—राधा-कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रमुख प्रतिपादक 'भागवत पुराण' ही है। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों के विकास की दृष्टि से 'भागवत पुराण' और 'श्रीभाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। दोनों ही ग्रन्थ रागानुगामार्गी और वैधीमार्गी वैष्णव साधना के आश्रय हैं। इसी पुराण के प्रभाव से श्री कृष्ण की मधुर लीलाओं में अद्‌भुत मानवीय मनोरागों की अवतारणा का गई है जिसमें मधुर रस का प्रवाह अत्यधिक सुरुचिपूर्ण हुआ है।

'भागवत सम्प्रदाय' में पं० बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है—'वैष्णव धर्म के अवान्तरकालीन समग्र सम्प्रदाय भागवत के ही अनुग्रह के विलास हैं, विशेषतः वल्लभ-सम्प्रदाय तथा चैतन्य-सम्प्रदाय जो उपनिषद्, भगवद्‌गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ-साथ भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं।'[५०] इससे भागवत के अतिगूढ़ रहस्यमय माधुर्यवाद की सिद्धि होती है। भागवत पुराण में साध्य तत्त्व के अन्तर्गत लीला पुरुषोत्तम मदनमोहन श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् और अन्य अवतारी रूपों को अंशकला मात्र मानकर कृष्ण-चरित्र को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की गई है।[५१] भागवत में कृष्ण के बाल-यौवन दोनों रूपों के वर्णन में मधुरता का समावेश है।

श्रीकृष्ण का गोपियों से सम्बन्ध निश्चित रूप से प्रेम सम्बन्ध था। गोपियों के समस्त कर्म केवल मात्र कृष्ण-सुखेच्छा से प्रेरित होते थे, स्वकीय भोगेच्छा से

---

५०. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानिव्याससूत्राणि चैव हि ॥
समधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥७९॥
—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, पृ० ४९

५१. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे ॥२९॥
—श्रीमद्‌भागवत १।३।२८, पृ० ५६

नहीं । गोपियाँ समर्पण की प्रतिमूर्ति थीं । उनकी वृत्तियाँ पूर्णतः कृष्णमय थीं । वे तो देहधारण भी श्रीकृष्ण के लिए ही करती थीं । उन्हें श्रीकृष्ण का एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर प्रतीत होता है । इस वाणी का रसास्वादन कर गोपियाँ मोहित हैं ।[५२]

श्रीमद्भागवत में राधा का नाम स्पष्टतः नहीं लिया गया है, परन्तु दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध गोपियों की कथाओं से भरा है । श्रीमद्भागवत में गोपियों की विस्तृत चर्चा होने पर भी वहाँ किसी गोपी का नामोल्लेख नहीं हुआ है । गोपी, व्रजश्री, गोपवधू जैसे सामान्य शब्द ही प्रयुक्त किये गये हैं । गोपियों के पृथक्-पृथक् नाम, स्वरूप, कार्य, सेवाओं का परिचय श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता । गोपियों की सामूहिक साधना ही भागवत में अभिव्यक्त हुई है ।

श्रीमद्भागवत में दो प्रकार की गोपियों का परिचय मिलता है । प्रथम, वे गोपियाँ हैं जो दूसरे गोपों से विवाहित हैं; द्वितीय, श्रीकृष्ण को ही जो गोपियाँ अपने पति रूप में प्राप्त करने के लिए साधना करती हुई कहती हैं—हे कात्यायनी ! हे महामाये ! हे महायोगिनी ! हे सबकी एकमात्र स्वामिनी ! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिए ।[५३] पर, श्रीकृष्ण ने विधिवत् विवाह व्रज-कुमारिकाओं से किया, ऐसा उल्लेख श्रीमद्भागवत में कहीं भी नहीं मिलता । रास-लीला में ही उन्होंने समस्त गोपिकाओं की मनोकामना अपने अंग-संग और काम-क्रीड़ा से पूर्ण की थी । नन्हा-सा शिशु जैसे निर्विकार भाव से अपनी पर-छाईं के साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण कभी उन्हें अपने हृदय से लगा लेते, कभी हाथ से उनका अंग स्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवन से उनकी ओर देखते, तो कभी लीला से उन्मुक्त हँसी हँसने लगते ।[५४] भगवान् श्रीकृष्ण को अपने परम प्रियतम के रूप में पाकर गोपियाँ गान करती हुई उनके साथ विहार करने लगीं ।[५५] इस प्रकार उन्होंने व्रजसुन्दरियों के साथ क्रीड़ा की, विहार किया, अतः गोपियों का जीवन भगवान् की रति है, प्रेम है ।[५६] वे श्रीकृष्ण को अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्मा के रूप में पहचानती थीं । जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिता के रूप में श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं, वैसे ही वे पति रूप में श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं जो शास्त्रों में मधुरभाव के उज्ज्वल परमरस के नाम से कहा गया है ।

५२. श्रीमद्भागवत १०।३१।१५, पृ० ३१८
५३. वही १०।२२।४, पृ० २६४
५४. वही १०।३३।१७, पृ० ३२६
५५. वही ११।३३।१५, पृ० ३२५
५६. वही ११।३३।८, पृ० ३२५

'भागवत पुराण' जहाँ शुद्ध सत्वात्मक भगवद् तत्व का प्रकाश है, वहाँ प्रेम-निर्भर भक्तजनों की चिर अभीप्सित मधुर रस-साधना अत्यन्त प्रचारक भी है। इस प्रकार समस्त पुराणों में गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर भागवत पुराण में वह बहुत विस्तृत रूप में है। गोपियों के साथ रास-लीला, केलि-क्रीड़ा आदि का वर्णन करते हुए भागवतकार ने मधुर रस की तीव्र अभिव्यंजना की है।

ईसाइयों का आध्यात्मिक परिणय

भारतीय साधना-साहित्य के समकक्ष ही पाश्चात्य साहित्य में आत्मा-परमात्मा के मधुमय मिलन को 'आध्यात्मिक परिणय' की संज्ञा दी गई है। इस प्रतीक का प्रयोग यूनान की 'आर्फिक मिस्टरीज' से प्राप्त होता है और 'नियो-प्लेटोनिस्ट्स' से होता हुआ ईसाइयों के बीच आ जाता है।[५७] इन 'नियो-प्लेटोनिस्ट्स के गुरु 'प्लेटिनस' थे। इनकी रचनाओं में उपास्य और उपासक को दूल्हा और दुलहिन माना गया है।[५८] उपर्युक्त प्रतीक ईसाइयों के धर्मग्रन्थ 'बाइबिल' के उस अंश में मिलता है जो 'प्राचीन संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है जिसे यहूदी धर्मावलम्बी भी स्वीकार करते हैं। 'सुलेमान का गीत' अथवा 'गीतों का गीत' नामक रचना में परमात्मा के प्रति जीवात्मा का भक्तिभाव में माधुर्य भाव चित्रित किया है। 'उसे स्वयं अपने मुख से मुझे चूम लेने दो।'[५९]

'मेरे प्रियतम ने सम्भाषण किया और उसने मुझसे कहा, 'मेरी प्रेमपात्री, मेरी सुन्दरी, उठो और चली आओ।'[६०]

"मेरा प्रियतम श्वेत एवं अरुण हैं, और वह दस सहस्र में भी सर्वप्रमुख हैं।"[६१]

"मैं अपने प्रियतम की हूँ और वह मेरी ओर चाह भरी दृष्टि से उन्मुख हैं।"[६२]

---

५७. Evelyn Underhill, Mysticism (NewYork), pp. 137-138

५८. डॉ० पूर्णमासी राय, हिन्दी कृष्णभक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना, पृ० ७४

५९. The books of the old testament, The song of solomon, chapter 1/2

६०. Ibid, Chapter 2/10

६१. ibid, Chapter 5/10

६२. ibid, Chapter 7/10

ऐसा प्रतीत होता है कि ये कथन सम्भवतः कांताभाव से ही कहे गए हैं। पाश्चात्य साधकों ने साधना के लिए नारी के आत्म-समर्पण और प्रणय-निवेदन पर अधिक बल दिया है। पाश्चात्य मनीषी न्यूमैन ने कहा है, यदि आत्मा आध्यात्मिक आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहती है तो उसे नारी बन जाना चाहिए।

ईसाई सन्तों में सेण्ट बर्नार्ड, सेण्ट जॉन ऑव् रुइस ब्रोक, सेण्ट टेरेसा, सेण्ट जॉन ऑव् द क्रास, कवेंटरी पेटमोर, अण्डरहिल, सेण्ट विक्टर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सन्तों ने 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के आधार पर ही मधुर भाव की सुन्दर उद्भावना की है।

सेण्ट बर्नार्ड (१०९०–११५३ ई०)—इस सन्त ने 'उसे स्वयं अपने मुख से मुझे चूम लेने दो' वाक्य की व्याख्या करते समय अपने एक 'धर्मोपदेश' के प्रसंग में बतलाया है कि इन शब्दों को व्यक्त करने वाली 'वधू' है जो जीवात्मा का प्रतीक है, यह अपने को प्रेम के बन्धनपाश में बद्ध कर चुकी है जिसका मूल उत्स केवल परमात्मा ही हो सकता है।[६३] सेण्ट बर्नार्ड प्रेमाभक्ति के उपासक थे। उन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति किसी अलौकिक विवाह-सम्बन्ध विषयक स्थापना की कल्पना भी कर ली थी तथा उन्हें 'ईश्वरीय शब्द' के रूप में दिव्य दूल्हा स्वीकार कर उनके साथ जीवात्मा के आध्यात्मिक परिणय का उन्होंने प्रचार भी किया। यह लौकिक परिणय स्थूल जगत् की वृत्ति न होकर सर्वथा अनुभूतिपरक है। इसके पूर्ण विकास के लिए चार सोपानों की कल्पना की गई है जो क्रमशः मंगनी, विवाह, ग्रन्थिबन्धन एवं संयोग हैं। यह उस प्रेमानुभूति के परिचायक हैं जो किसी साधक की अंतरात्मा में जाग्रत होकर प्रौढ़ता प्राप्त करती हैं। इनकी चरम परिणति परमात्मा-मिलनजनित आनन्द में होती है। परमात्मा द्वारा प्राप्त गाढ़ालिंगन की उष्णता में जीवात्मा निखर कर स्वयं विशुद्ध कांचन बन जाया करती है। सेण्ट बर्नार्ड ने इसी को लक्ष्य कर कहा है, 'मेरा मेरापन स्वयं परमेश्वर है जो मेरी सत्ता एवं मेरा उल्लास भी है, मैं जीवित हूँ, किन्तु मैं नहीं, मुझमें यीशु ख्रीष्ट जीवित हैं।'[६४] इस कथन द्वारा हमें उनके प्रेमोन्माद का आभास मिलता है।

सेण्ट-जॉन आव् रुइस ब्रोक (१२९३-१३८१ ई०)—इन्होंने जीवात्मा का परमात्मा के साथ मनोवैज्ञानिक चित्रण लक्षित किया है। आध्यात्मिक विवाह

६३. Evelyn Underhill, Mysticism, pp. 137-138

६४. P. N. Srinivasachari, Mystios and Mysticism (Madras, 1951), pp. 286

को इन्होंने भी महत्त्व दिया है। आत्मा-परमात्मा की संयोगावस्था के साथ-साथ वियोगावस्था का भी उल्लेख है। सेण्ट जॉन ने विरहावस्था को अवधि को अँधेरी रात कहा है और बतलाया है कि किस प्रकार यह किसी साधक की स्थिति में निरन्तर होते रहने वाले प्रवाह एवं परावर्त्त की प्रक्रियाओं को सूचित करती है।

सेण्ट टेरेसा (१५१५-८२ ई०)—सेण्ट टेरेसा महिला साधिका हैं। अपने को दुलहिन तथा परमात्मा को दुलहा मानते हुए उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चर्चा की है। उनका यह कथन कि स्त्री-पुरुष के गाढ़ालिंगन से उन्हें न कुछ बाह्य का ही ज्ञान रहता है न कुछ अन्दर का, उसी प्रकार परमात्मा-रूपी वर के आलिंगन से जीवात्मा-रूपी वधू अपनी सुध-बुध खो बैठती है। उन्होंने यह भी बताया कि मानसिक, शान्तिपरक सम्मिलन तथा चौथी के समय स्वयं कुछ भी नहीं करना पड़ता, यह चार प्रकार की प्रार्थनाएँ हैं। हम जगत् की ओर से विमुख होकर केवल परमात्मा में ही जागृत रहा करते हैं।[६५]

सेण्ट जान ऑव् द क्रास (१५४२-८१ ई०)—सेण्ट जॉन ऑव् द क्रास सेण्ट टेरसा के अनुयायियों में प्रमुख हैं। 'अँधेरी-रात' तथा 'आध्यात्मिक उपगान' ये दो उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। प्रथम रचना में इन्होंने बताया है कि कब और किस प्रकार वह स्थिति आ जाती है जब हमें आध्यात्मिक अनुभूति आनन्दविभोर कर देती है। द्वितीय रचना में, विरह एवं मिलन की अनुभूति का वर्णन करते हुए इसे कपोत पक्षी के जीवन द्वारा भी उदाहृत किया है।[६६]

प्रियतम के साथ अभिसार में प्राणों की जो तीव्र उत्कण्ठा होती है तथा अभिसार के अन्त में मिलन का जो सुख होता है, उसे भी सेण्ट जॉन ने शब्द चित्रों में उभारने का प्रयास किया है। जीव-जीव के हृदय में जो व्याकुलता है, प्रेम की जो व्यथा है, मिलन की जो लालसा है, वह है उसी परम प्रियतम को पाने और अपनाने के लिए ही। उसके ही अंश होकर हम उससे बिछुड़ गए हैं और उसको आँख भर देखने के लिए उसके ही आलिंगनपाश में बँधने के लिए हमारे प्राणों में हाहाकार है।

अण्डरहिल ने इन्हीं प्रकार के भावों को व्यक्त करते हुए कहा है, ईसाई संतों के आध्यात्मिक परिणय का दर्शन साधक की प्रकृति को सूचित करने वाली भाषा

६५. P. N. Srinivasa Chari, Mystics and Mysticism, pp. 289

६६. E. Allison Peers, The Mystics of Spain (London, 1951); pp. 11-20

के शब्द मात्र हैं और इनका सम्बन्ध आन्तरिक अनुभूति से है। उतना किसी वस्तुगत तथ्य के साथ नहीं हो सकता है। इनके अनुसार 'संयोगावस्था' अथवा 'सम्मिलनपरक जीवन' पर विचार करें तो इनके वास्तविक रहस्य का पता चलना न तो मनोवैज्ञानिक आधार पर सरल है और न आध्यात्मिक साधकों के विभिन्न उद्गारों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इसका वह द्वन्द्वात्मक रूप और भी रहस्यपूर्ण है जिसके अनुसार साधक एक ओर जहाँ निष्क्रिय है, वहाँ दूसरी ओर सक्रिय भी दीख पड़ता है। परमात्मा की दृष्टि से देखने पर वह प्रथम रूप में जान पड़ता है, किन्तु जगत की दृष्टि से द्वितीय रहता है।[६७]

आध्यात्मिक परिणय के चार विभिन्न सोपानों की सर्वप्रथम चर्चा संत रिचार्ड ऑव् सेण्ट विक्टर ने की। परमात्मा के निकट पहुँच पाना कठिन है क्योंकि प्रेमपथ की सीढ़ियाँ अत्यन्त विकट एवं दुरूह हैं। मँगनी के सोपान पर ही साधक को प्रियतम के लिए व्याकुलता होती है। उसमें अकस्मात् परिवर्तन होता है, वह कुछ सजग हो जाता है, उसकी आतुरता बढ़ने लगती है। इस प्रकार वह द्वितीय दशा में प्रवेश करता है। अपने प्रियतम के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की वास्तविक घनिष्ठता का अनुभव होता है, वह अपने प्रियतम की झाँकी तक पा लेता है, इस दशा को उद्दीप्त मार्ग कहा है। तृतीय अर्थात् ग्रन्थिबंधन के सोपान पर पहुँचते ही जीवात्मा 'संयोगावस्था' का अनुभव करती है। अन्त में जब जीवात्मा संयोग की दशा वाले चतुर्थ सोपन पर पहुँच जाती है जिसे 'फल-प्राप्ति' का नाम दिया है, तो उसका समस्त अकथनीय आनन्द जाता रहता है और न ऐसा कोई अभिक्रम ही शेष रह जाता है जिसके कारण उसके व्यक्तित्व को किसी प्रकार का पृथक् महत्त्व मिल सके। सांसारिक दृष्टि से वह 'अपने स्तर से भी नीचे लाकर अपमानित कर दी गई' बन जाती है और उसे नये कर्तव्य अपनाने पड़ जाते हैं।[६८]

सूफियों का दाम्पत्य-भाव

सूफी-सम्प्रदाय की प्रमुख भावना परमात्मा को प्रेमपात्र के रूप में स्वीकार करना है। इसमें साधक भगवान् के साथ विविध सम्बन्ध रखता है तथा परमात्मा को ही प्रेमपात्री मानकर साधक की ओर से प्रेमी की भाँति उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इन प्रेम-गाथाओं में सर्वश्रेष्ठ है—पद्मावत। परमात्मा एवं जीवात्मा के माधुर्य सम्बन्ध का चित्रण करते हुए सूफी कवि रूमी ने कहा है—मैं तेरे होंठों पर वेणु बनकर विद्यमान हूँ तथा तेरे वक्षस्थल पर

६७. Evelyn Underhill, Mysticism, pp. 433

६८. Ibid., pp. 139-140.

एक वीणा की भाँति पड़ा हुआ हूँ। मेरे अन्दर गहरे स्वर भरो जिससे मैं उच्छ्वसित हो उठूं और मेरे तारों को इस प्रकार झंकृत करो कि मेरे आँसू चमकने लगें।[६९]

प्रेम की सत्ता तथा माधुर्य भाव की स्थापना करने वाली परमात्मा की प्रिय दुलहिन राबिया ने कहा है कि 'हे नाथ! मैं आपसे दो प्रकार से प्रेम करती हूँ। प्रथमतः, यह मेरा स्वार्थपूर्ण प्रेम है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी दूसरे की कभी कामना ही नहीं करती। द्वितीय, यह मेरा परमार्थपूर्ण प्रेम है कि आप जब मेरी आँखों के सामने से परदा हटा देते हैं तब मैं आपका साक्षात्कार कर आपकी सुरति में निमग्न हो जाती हूँ, किसी भी दशा में इसका श्रेय मुझे नहीं दिया जा सकता। यह तो आपकी कृपादृष्टि का प्रसाद है। पुनः राबिया कहती है:— हे नाथ! सितारे आसमान में चमक रहे हैं। लोगों की आँखें मुँद चुकी हैं, सम्राटों के राजद्वार बन्द हैं, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका के साथ एकान्त-सेवन कर रहा है और मैं यहाँ अकेली आपके साथ हूँ।[७०] राबिया रात के समय अपनी छत पर चली जाती थी और कहा करती थी; हे भगवान्! अब दिन का कोलाहल बन्द हो गया और प्रेमी अपनी प्रिया के साथ हैं, पर मेरे लिए तू ही एक मात्र प्रेमी है।[७१] विरह साधना सूफी भक्ति का प्रमुख अंग है, यही भक्ति का सर्वोत्कृष्ट अवलम्ब है। विरह ही प्रेम की एक मात्र कसौटी है। प्रेम की परीक्षा विरह में ही होती है। प्रेम की संयोगावस्था के सुख का महत्त्व विरह की वेदना ही करती है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि इस विरह भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से होती है। विरह साधना की दशा में ही सूफी साधक आँखों से रक्त-सरिता बहाता है। जायसी-ग्रन्थावली में प्रिय के पथ में पलकें नहीं, विरह यज्ञ में प्राणों की आहुति डालकर उसकी भस्म बिछाता है, सम्भव है, वह उड़कर प्रियतम के चरणों तले बिछ जाए जिससे उसके गुलाबी तलुओं का ही शीतल स्पर्श मिल जाए। दाम्पत्य भाव के रूप में माधुर्यभाव का अत्यन्त सरस चित्रण सूफी सम्प्रदाय में हुआ।

आलवार भक्तों में मधुर भावना

दक्षिण भारत में भक्ति का जो वैष्णव रूप प्रकट हुआ, वह आलवार भक्तों की मधुरोपासना से सम्वलित होकर उद्दीप्त हो उठा। इन आलवार भक्तों की मधुरो-

६९. रूमी 'वसंतोत्सव-विषयक' रचना के एक अंश का अनुवाद
७०. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ४४
७१. डॉ० पूर्णमासी राय, कृष्णभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० ८१

पासना में उत्तर भारत के वैष्णव भक्तों की मधुर रस साधना का रूप लक्षित होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए प्रो० रामपूजन तिवारी ने ठीक ही कहा है कि 'समस्त उत्तर भारत में धर्म के क्षेत्र में कृष्ण के ऐश्वर्य-प्रधान रूप का परिचय उस काल (८वीं तथा ९वीं शताब्दी) में मिलता है, लेकिन दक्षिण भारत में विशेषत: तमिल भाषाभाषी प्रान्त में कृष्ण के मधुर रूप का अत्यन्त ही विकास देखने को मिलता है ······· कृष्ण भक्ति का जो स्वरूप उत्तर भारत में ईसवी सन् की सोलहवीं शताब्दी में देखने को मिलता है, उसका पूर्ण प्रचार कई शताब्दियों पहले से ही दक्षिण भारत में हो गया था और यह कहना गलत नहीं होगा कि उसने उत्तर भारत को प्रभावित किया।'[७२]

भक्तिक्षेत्र में नायक-नायिका सम्बन्ध को स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले आलवार भक्त ही थे। अत: ईश्वर से जितने भी सम्बन्ध स्थापित किए गये हैं, उनमें नायक-नायिका सम्बन्ध अधिक श्रेष्ठ है। इस मधुरभाव को काव्य रूप देने के लिए लौकिक प्रेम-काव्य के क्षेत्र में प्रचलित सभी रूढ़ियों का सहारा लिया है और उसी के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है।

दक्षिण भारत के मधुरोपासकों में स्त्रीभक्तों के अन्तर्गत गोदा वा आण्डाल का नाम लिया जा सकता है। ये स्त्री थीं, अत: उनका पुरुष रूप भगवान् से सीधा प्रेम था जो स्वाभाविक भी है। इनको बचपन से ही 'मुरली माधव' ने आकर्षित कर लिया था। वे भगवान् को अपनी पहनी हुई मालाएँ अर्पित करती थीं तथा मुकुर में यह देखा करती थीं कि क्या वह लीलानायक को वरने योग्य हैं? इनका प्रेम धीरे-धीरे बढ़कर पूर्णावस्था को पहुँच जाता है जो अपने को श्री रंगनाथ की पत्नी समझती हुई, उनकी मधुरोपासना में ही सदा प्रवृत्त रहीं। आण्डाल ने अपने गुरुजनों से स्पष्ट कह दिया, 'मैं श्रीरंगम् के भगवान् श्री रंगनाथ को छोड़-कर अन्य किसी को वरण नहीं कर सकती।'[७३] वे स्वयं को कृष्ण की पत्नी के रूप में मानती थीं। वे कहती हैं, 'यौवन सुषमा से पूरित मेरा यह शरीर उस पुरुषोत्तम के लिए ही अर्पित है। उस पुरुषोत्तम पतिदेव को लक्ष्य कर उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि किसी अन्य के उपभोग्य बनाने की (अन्य के साथ विवाह होने की) बात चली तो मैं जीवित नहीं रहूँगी।'[७४] उसकी भक्ति-रसपूर्ण रचना 'तिरुप्पावइ' के नाम से प्रसिद्ध है और वह तमिल भाषा में निर्मित है। इसके अन्तर्गत नारी-प्रेम की सफल अभिव्यक्ति है जिसे गोपी-प्रेम

७२. प्रो० रामपूजन तिवारी, ब्रजबूलि-साहित्य, पृ० ५९
७३. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृ० १४
७४. भारतीय साहित्य दर्शन और तमिल साहित्य, पृ० १९१

के नाम से अभिहित किया जाता है। इन भक्तों के पद-संग्रहों का अनुशीलन करने पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। 'मध्यकालीन प्रेम साधना' में परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं, 'तिरु-मंगई आड़वार की रचना 'परिया तिरु मोडी' तथा आण्डाल की 'तिरुप्पावइ' को पढ़ने पर ज्ञात पड़ता है कि इन आड़वारों ने माधुर्य भाव के भी अनेक पदों की रचना की है।'[७५] आण्डाल अपने प्रियतम के ध्यान में इतनी डूबी रहती थीं कि उसे सब कुछ प्रियतममय दिखाई देता था। वह अपने गाँव को गोकुल, गाँव की बालाओं को गोपियं, भगवान् के मन्दिर को नन्द का घर और उनकी प्रतिमा को साक्षात् कृष्ण मान बैठी थीं। आण्डाल की दोनों रचनाएँ 'तिरुप्पाइ' और 'नावच्चियार तिरुमोली' मधुर भाव के अद्वितीय उदाहरण हैं। 'तिरुप्पाइ' में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के निमित्त गोपियों द्वारा पालित व्रतचर्या (कात्यायिनी व्रत) का वर्णन है। आण्डाल स्वयं गोपी बनकर अन्य साथियों को कात्यायिनी व्रत रखने के लिए कहती हैं। 'नाच्चियार तिरुमोली' के छठे दशक में आण्डल ने स्वप्न में माधव के साथ होने वाले अपने विवाह का वर्णन किया है।[७६] संयोग सुख की इच्छा से प्रेरित होकर शंख को सम्बोधित कर कहती हैं, लालसावश पूछती हूँ। हे सखे, शंख! जरा बताओ तो मेघवर्ण 'माधव' के अधर रस का स्वाद कैसा है? काफूर या कमल-सा सुगन्धयुक्त अथवा मधुर मिठास भरा। बताओ हे धवल! माधव के प्रवाल-सम अधर का रस कैसा है?[७७] इस प्रकार के कितने ही भावों से आण्डाल के गीत ओतप्रोत हैं। कोकिल, मयूर आदि चेतन तथा मेघ, शंख आदि निर्जीव वस्तुओं तक से प्रिय की बातें कर बैठती हैं।

आण्डाल ने श्रीकृष्ण की उपासना गोपी भाव से ही की थी। इस प्रकार आण्डाल ने मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों के सम्मुख मधुर भाव का एक उच्च आदर्श छोड़ा था।

आलवारों में भक्त स्त्री कोई अन्य नहीं हुई; किन्तु नम्मालवार अथवा नम्म-अलवार भी एक ऐसे विलक्षण महापुरुष हो गए हैं जिनकी अनेक रचनाएँ मधुरोपासना के भाव प्रकट करती हैं। आत्मा को 'नायिका और परमात्मा को 'नायक' मानकर विरहिणी की मनोदशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, हे मन्द

७५. परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम साधना, पृ० ७३

७६. डॉ० मलिक मोहम्मद, वैष्णव भक्ति आन्दोलन (नाच्चियार तिरुमोली ६-६), पृ० १९५

७७. भारतीय साहित्य दर्शन तमिल साहित्य (नाच्चियार तिरुमोलि७-१), पृ० ११३

मारुत ! अब मुझे तुम्हारे प्रति आकर्षण नहीं है। मेरे हृदय को तो प्रियतम ले गया है। अब तुम मुझे काहे को सताते हो। शीतल होकर भी जलाते क्यों हो ?......वियोग में एक-एक क्षण एक-एक युग के समान लगता है। हृदय वियोग में टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आश्चर्य है कि मैं प्रिय-वियोग में कैसे जीवित हूँ।[७८] तत्पश्चात् फिर कहती हैं, रात्रि का अन्धकार क्रमशः घना होता जा रहा है और सभी व्यक्ति नींद में पड़े हैं। गायें लौटकर घर गयीं, किन्तु ग्वाला उनके साथ नहीं लौटा। विरहिणी उसके वियोग में अकेली झूर रही है और कभी-कभी उसका भी जी चाहता है कि आत्महत्या कर ले, किन्तु फिर उसे भी स्मरण हो आता है कि उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार ही कहाँ रह गया है। केवल स्वामी ही तो उसका सब कुछ है। कण्णन ही उसका एक मात्र भोजन है, वही पेय पदार्थ है और केवल वही उसके जीवन का अकेला आधार है। फिर भी वह निर्दयी उसकी पिपासा को शान्त नहीं करता। वह चोर उसके हृदय को चुराकर भाग गया है, किन्तु वह प्रेम की अव्यर्थ पुकार को कभी रोक नहीं सकेगा।[७९] प्रेमिका के रूप में सारी सृष्टि को ही अपना आत्मीय समझते जान पड़ते हैं, विभिन्न प्राणियों से अपनी प्रेम-कहानी कहते रहते हैं, कभी-कभी भावावेश में सभी कुछ इन्हें स्वयं अपनी छाया-सा ही दीख पड़ने लगता है। सागर सदा लहरें मारता हुआ उसी की याद में बिन सोये रात-दिन जागता है। मेघ उसी के विरह में अश्रु-वर्षा कर रहे हैं। वायु उसी की खोज में सदा चलायमान है तथा पक्षी एवं भ्रमर आदि सदा उसी के स्तुतिगान में निमग्न हैं।[८०] इस प्रकार के कितने ही भाव आण्डाल के गीतों में निहित हैं। वे कोकिल, मयूर आदि चेतन तथा मेघ, शंख आदि निर्जीव वस्तुओं तक से प्रिय की बातें कर बैठती हैं।

कुलशेखरालवार की एक गोपी कहती है, 'सुन्दर सुरभित सुमनों से सदा अलंकृत वेश वाली कई सुन्दरियों से युक्त इस गाँव में जब मैंने तुम्हारे आलिंगन की लालसा प्रकट की थी तो तुमने यमुना तट पर मिलने को कहा था। तुम्हारी बात पर विश्वास कर अब इस ठण्डक में यमुना तट पर मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। हे घनश्याम ! तुमने झूठ ही कहा था।'[८१] भक्ति क्षेत्र में नायक-नायिका

---

७८. डॉ० मलिक मोहम्मद, आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य (तिरुविरुत्तम ४-५), पृ० २६६

७९. P.N. Srinivasachari, Mystics and Mysticism, p. 341

८०. श्री पूर्णसोमसुन्दरम्, तमिल और उसका साहित्य, पृ० ६७

८१. डॉ० मलिक मोहम्मद, आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य (पेरमाल तिरुमोली ६ : १), पृ० २६०

सम्बन्ध को स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले आलवार भक्त ही थे। आलवारों ने ईश्वर से जितने भी सम्बन्ध स्थापित किए हैं, उनमें नायक-नायिका सम्बन्ध ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस मधुर भाव को ही काव्य रूप देने के लिए आलवारों ने लौकिक प्रेम-काव्य के क्षेत्र में प्रचलित सभी रूढ़ियों का सहारा लिया है और उनके माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है जिसके अन्तः में भक्त और भगवान् के मध्य मधुर भावना की भक्ति दिग्दर्शित होती है। यदि यह कहा जाय कि आलवार पूर्ण तमिल के लौकिक प्रेम-काव्यों में नायक-नायिका सम्बन्ध के संयोग-वियोग दोनों पक्षों की जिन दशाओं का निर्वाह किया गया था, उन सबका आलवारों ने प्रयोग कर नायक-नायिका भाव से अर्थात् मधुर भाव से भक्त और ईश्वर के सम्बन्ध को प्रथम बार अभिव्यक्त किया था।

कन्नड़ भक्तों में मधुर भावना

कर्णाटक प्रदेश के कन्नड़ साहित्य में दाम्पत्य-भाव अथवा कांताभाव के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वहाँ के हरिदास व दासकूट सम्प्रदाय के अनुयायियों में बहुत से वैष्णव भक्त उच्च कोटि के कवि हो गए हैं जिनमें पुरंदरदास को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। इनकी रचनाओं में सभी प्रकार की शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर भक्ति साधनाओं का निदर्शन हुआ है, किन्तु मधुरोपासना-सम्बन्धी गीतों की भी कमी नहीं है। कान्ताभाव का एक उदाहरण इस प्रकार है, 'भगवान् शोर मत मचाओ, मैं तेरे चरणों पर पड़ती हूँ, यहाँ सभी सो रहे हैं। यदि तेरा मेरे पास आना विदित हो गया तो भला लोग क्या समझेंगे।'[८२] यहाँ पर भक्त पुरंदरदास किसी मुग्धा नवोढ़ा अथवा परकीया प्रेमिका की भाँति भावाभिव्यक्ति करते हुए दीख पड़ते हैं जो एक भक्त के लिए उसकी केलिप्रियता का सूचक भी हो सकता है।

पुरंदरदास से भी कहीं अधिक रसिक तेलगु के भक्त कवि क्षेत्रय्या भी जान पड़ते हैं जिनके मधुर भाव से सम्बन्धित बहुत से पद उपलब्ध हैं। इनका पूर्ण नाम 'मोव्वा वरदय्या' था और इन्हें अपने यहाँ की देवदासियों के साथ संगीत एवं नृत्यादि की शिक्षा मिली थी, किन्तु आगे चलकर उसने इनका परित्याग कर दिया। क्षेत्रय्या विशुद्ध गोपीभाव के भक्त थे और इनका विश्वास था कि इस दिशा में आ जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण से परिरम्भण का सुख प्राप्त हो सकता है। इनकी विरह-रचना का कुछ अंग इस प्रकार है, 'हे मेरे प्रियतम, ! अब अधिक विलम्ब न करो। तुमने मुझे वचन दिया था कि वहाँ विलमोगे नहीं, शीघ्र ही वापस आ जाओगे। यदि तुम शीघ्र नहीं आ जाते, तो मेरे अश्रुओं

---

८२. परशुराम चतुर्वेदी, 'भक्ति साहित्य में मधुरोपसना' से उद्धृत, पृ० ३९

की धारा बहकर उमड़ती हुई कावेरी तक पहुँच जायेगी।······हे कमललोचन! सुनो—तुम्हारे आलिंगन के बिना ज्योत्सना भी मुझे आतप के समान जलानेवाली लगती है।···हे मुब्बा गोपाल! मैं तुम्हारी शरण में हूँ।······मेरे प्रियतम! अब देर न करो, आज रात को ही दर्शन दो।'[८३] इस प्रकार सपत्नीपरक आशंका को ही सूचित करता है, अपितु इसी माया के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भी भाव व्यंजित करता है। तेलुगु कवि वेमना ने भी उत्तम योगी का परिचय देते हुए कहा है, 'आदर्श पति सदा अपने पत्नी के विषय में सोचता रहता है और आदर्श पतिव्रता के भी विचार सदा अपने पति में ही केन्द्रित रहा करते हैं। उसी प्रकार उत्तम योगी भी दिन-रात परमात्मा के ध्यान में लीन रहा करते हैं।' यहाँ सफल योगी का भी आदर्श दाम्पत्य भाव की उत्कृष्ट स्थिति को ही मानकर उसे उच्चावस्था का महत्त्व दे दिया गया है।

कन्नड़ भाषा की कवयित्री—'अक्क महादेवी' ठीक वैसी ही हैं जैसी तमिल की आण्डाल, हिन्दी की मीराँबाई वा सूफी भक्तिन राबिया हैं। अक्क महादेवी की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है मधुर भाव की सुन्दर अभिव्यंजना। इनके उपास्यदेव 'चैन्नमल्लिकार्जुन' नामधारी शिव थे जिन्हें इन्होंने अपने प्रियतम पति के रूप में माना है तथा जिनके प्रति कान्ताभाव की भक्ति प्रदर्शित की है, 'चैन्नमल्लिकार्जुन ही मेरे पति हैं, ये भवरहित, भयरहित, कुलरहित, सीमारहित और निस्सीम सुन्दर हैं।'[८४] उसको सम्बोधित करती हुई कहती हैं, 'हे प्रियतम! आओ, मैं हल्दी लगाकर स्नान कर चुकी हूँ, सुनहली साड़ी पहन चुकी हूँ। आ जाओ, तुम्हारी राह देख-देखकर थक गई हूँ।'[८५] विरहानुभूति का वर्णन भी मर्मस्पर्शी है—'हे चहचहाने वाले शुकवृन्द! क्या तुमने देखा है? तार स्वर में गाने वाले हे कोकियो! क्या तुमने देखा है? तुम क्यों नहीं कहते कि चैन्नमल्लिार्जुन कहाँ हैं?[८६] इस प्रकार प्रियतम-विरह में पागल होकर जो भी वस्तु सामने दिखायी पड़ती है. उससे अपने प्रियतम के विषय में पूछती हैं। वह पूर्णरूप से पतिव्रता नारी की भाँति प्रियतम की आज्ञा का पालन करती हैं—'तुम मेरे प्रियतम हो, इस बात के सिवाय मैं और कुछ नहीं जानती। तुम जब मुझसे बोलवाते हो, तभी मैं बोलती हूँ। जब तुम मुझसे चलने को कहते हो, तभी मैं चलती हूँ और यदि सामने न होते हो तो चेष्टाहीन बन जाती हूँ। सुनो प्राणेश्वर, तुम्हीं

---

८३. कल्याण, भक्ति अंक, गोरखपुर, जनवरी १९५८ ई०, पृ० ६८४

८४. डॉ० हिरण्मय: हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २६८

८५. वही, पृ० २६८

८६. डॉ० हिरण्मय, कन्नड़ साहित्य सौरभ, पृ० ११४

मेरी गति हो, तुम्हारी ही शपथ लेकर कहती हूँ।'[८७] इस प्रकार अक्क महादेवी के गीतों में भावोत्कर्ष, अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ मधुर पदयोजना, उत्तम कवि-जीवन का सारा संस्कार, हृदय का सारा अनुभव, रसानुभव कूट-कूट कर भरा है।

मराठी भक्ति साहित्य में मधुरा भक्ति

महाराष्ट्र में भक्तिपंथों का अधिष्ठान श्रीकृष्ण का उपदेश होने के कारण वही मधुराभक्ति का स्वतन्त्र पंथ स्थापित होकर पनप न सका। पति-पत्नी के संबंध में जो उत्कट मधुरता होती है, वही प्रेमाभक्ति में होती है। ऐसी धारणा होने के कारण मधुराभक्ति का स्वतन्त्र पंथ चल पड़ा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव ने देव और भक्त में पति-पत्नी जैसा प्रेम-सम्बन्ध अपने पदों में उद्धृत किया है, 'जिस प्रकार जल जल में मिलने से एकरूप हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री अपने पति से भिन्न नहीं दिखाई देती, जिस प्रकार आकाश में व्याप्त वायु आकाश से भिन्न नहीं कही जाती तथा उसके लिए दो की भाषा का प्रयोग नहीं होता, उसी प्रकार पति से आलिंगनबद्ध होते ही स्त्री का निजी अस्तित्व न रहकर सुरति के रूप में केवल (आनन्द की) मधुराभक्ति की अनुभूति बनी रहती है।'[८८] ज्ञानेश्वरी में दाम्पत्य-भाव के प्रतीक का उपयोग इस प्रकार किया गया है, 'हे अर्जुन! जिस प्रकार पति को पत्नी प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होती है, उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणों से बढ़कर प्रिय होता है।' यह प्रेमकथा बाह्य रूप से तथा शब्दों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। स्वानुभूत विरहावस्था का वर्णन संत ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार किया है, 'घनगर्जना हो रही है, वायु बह रही है और मेरी विरहावस्था असहनीय हो रही है। अतः भवतारक कान्हा (कृष्ण) से मेरी भेंट तुरन्त कराइए।......देवकी के पुत्र के सिवाय किसी अन्य के प्रति मेरी प्रीति नहीं है। चंदन की चोली से मेरी कोमल देह धधक रही है। अतः कान्हा से मेरा मिलाप तुरंत कराइए। ......कोयल के मधुर गान से मेरा आंतरिक दुःख शान्त होने की अपेक्षा अधिक दाहक हो रहा है।......ओह!

---

८७. डॉ० हिरण्मय, हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २६९

८८. तिये आलिंगन वेळीं, होय आये आप कवली।
तेय जल जैसे जळीं, वेगळें न दिसे॥
कां आकाशीं वायु हरपे, तेय दोन्ही हे भाषा लोये।
तैसे सुखचि उरे स्वरूपें, सुरतीं तिये॥
—प्रह्लाद नरहर जोशी, मराठी साहित्यांतील मधुराभक्ति, पृ० २२७

रुक्मिणी देवी के प्रति विट्ठल ने मुझे इस तरह क्या से क्या कर दिया है।[८९] विरहिणी द्वारा वे अपनी बेचैनी दूसरे अभंग में इस प्रकार प्रकट करते हैं, 'मेरे लिए दिन-रात एक जैसे हो गए हैं और नींद हराम हो गई है। पति के परदेश में होने के कारण उसकी स्मृति मुझे सदा जला रही है। हे रुक्मिणी के पति श्री विट्ठल ! मुझे त्वरित दर्शन दीजिए। अपनी अनुभूति की तीव्रता प्रकट करने के लिए वे अपने को स्वकीया, सती, साध्वी मानते हैं। अपने को परकीया मानने में गोपी भाव दर्शित होता है जिसमें शृंगार का स्वाभाविक निर्वाह होता है जिससे मधुराभक्ति लक्षित होती है। दाम्पत्य भाव के प्रतीकों की योजना कर संत ज्ञानेश्वर ने संयमित मधुराभक्ति की विशुद्ध धारा बहाई है।

संत नामदेव के भी अनेक अभंग 'गौलणी' (ग्वालिन) के विषय में रचे गए दीख पड़ते हैं जिनमें पति से मिलने की तीव्र उत्कंठा और विकलता भरी मिलती है। संत नामदेव के हिन्दी पदों में मधुराभक्ति की धारा प्रबलता से बही है। अपने आराध्य प्रभु राम की बावली वधू बनकर उसे रिझाने के लिए नामदेव शृंगार करना चाहते हैं—

'मैं बउरी मेरा रामु भतारू।
रचि रचि ताकउ करऊ सिंगारू॥
भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोगु।
तनु मनु राम पियारे जोगु॥[९०]

यहाँ स्वकीया सती और साध्वी प्रीति का उद्घाटन है, न कि परकीया का। भक्त प्रत्येक स्थान पर भगवान् के साथ सामीप्य रखता है—

जाहा तुम गीरिवर ताहा हम मोरा
जाहा तुम चंदा ताहा मैं चकोरा॥ १॥
जाहा तुम तरुवर ताहा मैं पंछी[९१]
जाहा तुम सरोवर ताहा मैं मच्छी॥ २॥

इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। इससे उसकी भिन्न सत्ता नहीं है। जैसे जल से तरंगें और तरंगों से जल है, ऐसी ही स्थिति परस्पर ब्रह्म-जीव की है। भले ही कहने-सुनने में वे दो हों।

जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई।
इहु परपंचु परब्रह्म की लीला बिचरत आन न होई॥[९२]

---

८९. परशुराम चतुर्वेदी, भक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० ४४
९०. आचार्य विनयमोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन, पद ४१, पृ० २५५
९१. वही, पद २, पृ० २६८
९२. वही, पद ५४, पृ० २६१

अतः जीव अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आधारित है, अन्य पर नहीं। संत नामदेव के हिन्दी पदों में कान्ताभाव स्पष्ट है। परकीया में प्रीति की व्याकुलता अधिक तीव्रता से प्रस्फुटित होती है :

जैसे विखै हेत परनारी। ऐसे नामे प्रीति मुरारी ॥[९३]

जैसे विषयी परनारी से मिलने के लिए तड़पता है, वैसे ही भक्त मुरारी से मिलने से लिए बेचैन है।

संत तुकाराम ने अनेक अभंगों की रचना की है, पर उनके अभंगों में 'विराणी' के अभंग अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'विराणी' का अर्थ है अपनी इच्छा से विहार करने वाली। इन अभंगों में अपनी इच्छा से पति का त्याग कर किसी अन्य पुरुष के साथ रमणीय होने वाली स्त्री का चोंगा पहनकर शृंगार की अवस्था में कवि ने अभंगों की सरल रचना की है। ये अभंग मधुरा-भक्ति से ओतप्रोत हैं। पहले पति द्वारा मेरे मनोरथ अपूर्ण होने के कारण मैं व्यभिचारिणी बनी। अब प्रियतम की मुझे रात-दिन चाह है। मैं उसके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती। मैं तो अब अनन्त में रममाण हो चुकी हूँ। अपने सभी संसार-पाश मैंने तोड़ डाले हैं। अब तो मुझे सर्वदा सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करना है। इसी लिए तो पति का त्यागकर मैं इस परपुरुष के साथ रत हुई हूँ। अब तो ऐसी दवा ली है जिससे न तो गर्भ रहे और न कुछ फल प्राप्ति हो।[९४] लोगों ने मुझे कुलटा भी कहा तो भी मैं उसकी चिंता नहीं करती और कान्हा से अपना विच्छेद नहीं करना चाहती।[९५] अन्य अभंग में कहते हैं, मेरे विवाहित (पहले) पति से मुझे विषय सुख प्राप्त नहीं हुआ, अतः मैं अन्य प्रियतम की ओर दौड़ती हूँ तथा मैं अकेली वन में गोविंद के साथ विहार करने गई। अपने को गोपी समझकर वे कहते हैं—

'कान्हया रे जगजेठी। देई भेटी एक वेल ॥ १ ॥
कायमोकलिलें बनीं। सावजांनी वेढिले ॥ २ ॥
येथवरी होता संग। अंगे अंग लपविले ॥ ३ ॥
तुकाह्मणे पाहिले भागे। एवढ्या वेगे अंतरला ॥ ४ ॥[९६]

इस प्रकार कांताभावपरक गोपीभाव एवं राधाभाव को संत तुकारामजी ने अधिक स्पष्टता से मुखरित किया है।

---

९३. आचार्य विनयमोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन, पद २६, पृ० २५०

९४. तुकाराम गाथा, अभंग ३४३१

९५. मराठी का भक्ति साहित्य, पृ० ३६

९६. वही, पृ० ३५-३६

संत नामदेव की दासी जनाबाई ने भी अपने को न केवल राधा एवं श्रीकृष्ण की प्रेमक्रीड़ा के समय उनकी सेवा में उपस्थित रहने वाली दासी के ही रूप में चित्रित किया है। संतिन जनाबाई ने अनेक भक्तिपरक अभंगों की रचना की है। इनके अभंगों में निजी रसानुभूति के साथ नामदेव की आर्तता और ज्ञानेश्वर की योगानुभूति का सुन्दर संगम हुआ है। अतः जनाबाई की काव्य-सरिता के एक तट पर भक्ति का माधुर्य, दूसरे तट पर योग का गुंजन और दोनों तटों के बीच प्रासादिक प्रेम का प्रवाह है।[९७] राधा-कृष्ण की क्रीड़ा का इस तरह वर्णन करती हैं, 'कृष्ण और राधा कुंजवन में क्रीड़ा कर रहे थे। उसके बाद वे अपने भवन में गए, सुमनों की शय्या पर दोनों विराजमान हो गये। वे एक-दूसरे को प्रेम से पान देने लगे और मैं दासी जनाबाई यह देखती रही।'[९८] वह स्वयं भी राधामय हो गई। वह कहती हैं कि हे देव केशव! मैं वेश्या जैसी बन गई हूँ और लोक-लज्जा को छोड़कर आपके घर में आ बसी हूँ।[९९] जो परकीया भाव की भी पराकाष्ठा कही जा सकती है।

संतिन कान्होपात्रा महाराष्ट्र की मीराँबाई हैं। इनके अभंगों में विट्ठल के प्रति शुद्ध प्रेम की भावना प्रबल है।

संतिन बहिणाबाई संत तुकाराम की शिष्या थीं। इनके अभंगों में शृंगार का बिलकुल निर्वाह नहीं है। श्रीकृष्ण और ग्वालिनों का वर्णन इस प्रकार है। गोपी का मन श्रीकृष्ण से मिलने के लिए आतुर होता है। वह सब कुछ भूलकर संकेत स्थल पर दौड़ना चाहती हैं और अपने आराध्य प्रियतम कृष्ण के साथ एक प्रकार हो जाना चाहती हैं।[१००]

संतिन प्रेमबाई ने कृष्ण के विषय में कई मधुर पदों की रचना की।

वेणाबाई और दयाबाई समर्थ रामदासजी की शिष्याएँ थीं। इन्हें श्रीराम के बिना समस्त संसार शून्यवत् प्रतीत होता था। इस प्रकार मराठी संतों तथा संतिनों के अभंगों में कांताभाव अथवा मधुर भावपरक अभंग दृष्टिगत होते हैं।

---

९७. कृष्णलाल शरसोदे, मराठी साहित्य का इतिहास, पृ० ५५

९८. मराठी का भक्ति साहित्य, पृ० ३६

९९. जनी म्हणे देवा मी झाले येसवा। निघाले केशवा घर तुझे॥
—मराठी का भक्ति साहित्य, पृ० ३७

१००. धीमा-धीमा सुनावत है हरि, वेध गयो मेरो प्रान।
बहिणी कहे सो भूल गए मेरा हरि से लगा है मन॥
—हिन्दी को मराठी संतों की देन, 'बहिणाबाई', पृ० १८०

गुजराती भक्ति साहित्य में मधुराभक्ति

नरसी मेहता एवं मीराँबाई गुजराती भक्ति साहित्य के प्रमुख कवि हैं। नरसी मेहता ने 'शृंगार माला' में इष्टदेव श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित किया तथा कहीं-कहीं उनकी लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन भी किए। इनका तो कथन है—"मैंने प्रेमलाप प्रसंग में उस गोपीवल्लभ का हाथ पकड़ लिया। मैंने किसी अन्य की चिन्ता न की··· मेरा पुरुषत्व जाता रहा है। मैं एक स्त्री की भाँति गीत गाने लग गया। मेरा शरीर ही परिवर्तित-सा हो गया और मैं गोपियों में से एक हो गया। मैं एक सखी की भाँति बीच-बचाव करने लगा और मानिनी राधा को मनाने लग गया··· उस समय मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी अनुपम माधुर्य रस का पान कर रहा हूँ।"

वह 'विहार चरित्र' का प्रत्यक्ष अनुभव अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा करते थे। इसी कारण इन्होंने सखीभाव, दूतीभाव अथवा 'प्रेयसी-भाव' का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में किया है।[१०१] ईश्वर के प्रति इनका कथन है कि उसकी आँखों में एक विचित्र जादुई आकर्षक है, जिसके कारण मैं उसके प्रति प्रेममुग्ध हो गई, मैं अब अपने घर कैसे जाऊँ? उसने तो मेरा चित्त ही चुरा लिया। मेरा स्वामी मुझसे बोल नहीं रहा है। मैं उसके वचनों को श्रवण किये बिना जी नहीं सकती, किसी प्रकार उसके विरह की ज्वाला में तड़पती हुई जी रही हूँ, किन्तु अब क्या करूँ?[१०२] इस प्रकार कवि भावातिरेकवश स्वानुभूति ही स्वयं व्यक्त करने लगते हैं!

मीराँबाई हिन्दी कवयित्री कहलाती हैं। नरसी मेहता एवं मीराँबाई के अतिरिक्त प्रेमानंद सखी भी गुजराती भक्त कवि थे, जिनके काव्य में मधुरोपासना परिलक्षित होती है। स्वामी नारायण सम्प्रदाय के वह अनुयायी थे और इसके प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द को वह श्रीकृष्ण का रूप समझा करते थे। प्रेमाभक्ति विषयक गम्भीर अभिव्यक्ति में मीराँबाई एवं नरसी मेहता के ही समकक्ष हैं।

बँगला भक्ति साहित्य में मधुरोपासना

आदिकालीन बंगला-काव्य की रचनाओं द्वारा वैष्णव सहजिया तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार हुआ, जिसमें प्रथम के प्रवर्तक चण्डीदास तथा द्वितीय के चैतन्य महाप्रभु थे।

---

१०१. केशवदास का० शास्त्री, गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन, पृ० १०३

१०२. K. M. Munshi, Gujrat and i's Literature, pp. 190-191

चण्डीदास के काव्य में एक विशिष्ट मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। अन्य कृष्ण-भक्तों की भाँति मानव चित्त को वृन्दावन की पवित्र भूमि का पद प्रदान कर युगलकिशोर श्रीकृष्ण एवं राधिका के केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन मर्मस्पर्शी है। अपनी आत्मा को राधा एवं श्रीकृष्ण का उपास्य देव माना है। युगलों की प्रेमासक्ति सम्बन्धी चित्रण और उनकी भावावेशपरक उक्तियाँ वैष्णव भक्ति साहित्य में अद्वितीय हैं। बंगला भाषा के प्रथम कवि चण्डीदास ही हैं, जिन्होंने राधा-कृष्ण की शृङ्गार लीलाओ से सम्बन्धित काव्य की रचना की एवं राधा का अत्यन्त उज्ज्वल एवं सजीव चित्रण किया है। इनकी राधा जीवात्मा का स्थान ग्रहण करती हैं तथा श्रीकृष्ण उपास्य देव का। पूर्वराग, अभिसार, प्रेम-विरह, संभोग-मिलन ये सभी प्रत्यक्ष अनुभूति की बातें हैं, जो अन्त में राधा-कृष्ण का पारस्परिक सयोग भाव सम्मिलन में परिणत हो गया।

चैतन्य महाप्रभु के उपदेशों के कारण बंगाल में एक धार्मिक क्रान्ति की लहर आई। इन्होंने राधा-कृष्ण को प्रमुख स्थान दिया और मधुर भाव की रागानुगा भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। इन्होंने राधा-कृष्ण को प्रधानता देकर उन्हीं के चरित्रों में अपनी आत्मा को परिष्कृत किया। इस सम्प्रदाय में परकीया भक्ति का समुन्नत रूप प्रतिष्ठित किया गया। व्रज के कवियों ने राधा को स्वकीया माना है, पर चैतन्य सम्प्रदाय में राधा को परकीया अथवा प्रेयसी स्वीकार किया गया है। परकीया में आत्म-त्याग और लगन की मात्रा अधिक होती है, इसलिए उनके सिद्धान्तानुसार भगवान् की भक्ति परकीया भाव से ही करनी चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु का भी कहना है, जिस प्रकार कोई नवयुवक अपनी प्रेयसी के लिए आकुल रहा करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के प्रति अपना आर्त्त भाव प्रकट करती है।[१०३] इस प्रकार वैष्णव एवं गौड़ीय भक्ति काव्य ने राधा-कृष्ण की रागानुगा भक्ति का प्रचार-प्रसार कर उनके मधुर स्वरूप को उपस्थित किया और काव्य में उनके प्रेम तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की।

उड़िया भक्ति साहित्य में मधुरोपासना

मध्यकालीन उड़िया भाषा के प्रमुख कवियों में 'पंचसखा' वा 'पंचमहापुरुष' हैं। पंचसखा अर्थात् पाँच भक्त कवियों में निर्गुण शून्य का महत्व था। पंचसखा के भक्तों में से अच्युतानंददास की 'नित्यरास' रचना में श्रीकृष्ण एवं राधा के नित्य विहार का वर्णन उपलब्ध है। योग एवं तन्त्रपरक साधनाओं का

---

१०३. Dr. D. C. Sen, History of Bengali Language and Literature, p. 536

उल्लेख इस प्रकार है—कुण्डलिनी को जाग्रत कर कृष्ण को प्राप्त करना होगा ······सहस्रसार कमल ही वस्तुतः वृन्दावन है, जो औंधी दशा में रहता है तथा जहाँ पर श्रीकृष्ण राधा के अंगों पर अपने चरण रखते हैं और उनकी कटि के ऊपर विश्राम किया करते हैं। यशोवंत दासजी ने भी योगसाधना को महत्त्व दिया है, गोपी भाव की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य माना है। त्रिकुटि के ऊपर श्रीकृष्ण एवं राधा का नित्य रास देखा जा सकता है। अनंतदास का कहना है कि मुक्ति का एकमात्र उपाय 'गोपी-प्रेम' है।[१०४] अतः प्रेम की नदी ही योग-साधना है। जगन्नाथदासजी ने अपनी एक रचना में कहा है, "मैं गोपियों की दासी हूँ। इसलिए हे प्रभु, मुझ पर कृपा करो" यहाँ स्पष्टतः सखी भाव का संकेत मिलता है।[१०५] अतः उड़िया भक्ति-साहित्य के भक्तों की योगसाधनापरक भक्ति में मधुर-भाव की भक्ति व्यंजित होती है।

बाउल सम्प्रदाय

बंगाल प्रान्त में वैष्णव सहजिया तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार हुआ। ठीक इसी भाँति एक अन्य सम्प्रदाय का उद्भव हुआ जिसका नामकरण 'बाउल सम्प्रदाय' हुआ। इनकी प्रेम साधना में भी मधुरोपासना के अनेक लक्षण उपलब्ध हैं। ये अधिकांशतः सूफियों से मिलते-जुलते हैं। पर इनके मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'मानव शरीर को एक पवित्र मन्दिर का महत्त्व देते हैं और उसमें 'मनेर-मानुष' अथवा हृदय स्थित मानव को अधिष्ठाता मानते हैं। यह 'मानुष' अथवा ईश्वरीय मानव उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस्तल में प्रतिष्ठित है, किन्तु उसे उसकी स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। इन्होंने मानव शरीर को ब्रह्मांड का एक क्षुद्र संस्करण माना है।

बाउलों की साधना प्रेम साधना है, जिसका अभ्यास वे एक निराले ढङ्ग से करना चाहते हैं। वे उस पद्धति को अन्य प्रचलित साधन-प्रणालियों से नितान्त भिन्न बतलाते हैं और उसे कभी-कभी 'विपरीत' तक कह देते हैं। इनकी प्रेम-साधना मधुरोपासना के अधिक निकट है। क्योंकि ब्रह्म या परमात्मतत्त्व के प्रति सीधे प्रेम करने की चेष्टा किया करते हैं। उसे ही अपने हृदय में विद्यमान 'मनेर-मानुष' के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। उनकी प्रेम-साधना का रूप 'आत्म-साधना' जैसा लगता है, वहाँ सहजिया प्रेम-साधना प्रेम लक्षणा भक्ति का ही एक रूप है।[१०६]

---

१०४. Prabhat Mukerji, The History of Medieval Vaishnavism in Orissa; p. 15

१०५. Ibid. p. 15

१०६. परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृ० ४५

बाउलों की प्रेम-साधना का प्रभाव उत्तरी भारत के सन्तों की सहजसाधना पर भी पाया जाता है। इनमें जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। ये सन्त अद्वैतवाद के समर्थक हैं। जब जीवात्मा को स्वानुभूति दशा का आनन्द उपलब्ध हो जाता है तब वह परमात्मा की सहज दशा में आ जाता है और जीवनमुक्त बन जाता है। वे अपने निर्गुण एवं निराकार प्रियतम का साक्षात्कार नहीं करते, किन्तु भावयोग द्वारा अपरोक्ष अनुभव का आनन्द अवश्य ले सकते हैं। अतः कभी अपने प्रियतम की विरह-वेदना से पीड़ित होते हैं और कभी उनके प्रत्यक्ष अनुभव के रंग में मग्न हो जाते हैं। बाउल अपने प्रियतम को स्वानुभूति के रूप में उपलब्ध कर अपने जीवन में काया पलट कर देना चाहते हैं। इस कारण इनकी प्रेम-साधना जहाँ साध्य का रूप ग्रहण कर लेती है वहाँ सन्तों के लिए वह केवल एक प्रमुख साधन का काम करती है।

बाउलों की साधना की तुलना बौद्ध सहजिया सिद्धों की सहज साधना के साथ भी की जाती है। सूफी लोग जहाँ इश्क मजाजी में भी इश्क हकीकी का तत्त्व ढूँढ़ा करते थे। वैष्णव सहजिया जहाँ परकीया के अनियन्त्रित प्रेम को अपने राधा एवं कृष्ण के अलौकिक प्रेम का प्रतीक समझा करते थे, वहाँ सिद्धों की 'महामुद्रा' साधना वस्तुतः एक मानसिक स्थिति-विशेष के लिए ही की जाती थी। 'मनेर मानुष' के बाउलों के लिए उक्त दोनों में से किसी भी प्रयोजन का सिद्ध करना आवश्यक नहीं था। इनकी 'समरस' भावना बौद्ध सिद्धों वाली धारणा के सन्निकट है। सिद्ध लोग जहाँ शून्यता एवं करुणा, प्रज्ञा एवं उपाय को 'समरस' की संज्ञा से अभिहित करते हैं वहाँ वे तर्क एवं भाव को दो भिन्न-भिन्न धाराओं का संगम समझा करते हैं। बाउल साधक 'समरस' को कभी-कभी 'एकरस' का नाम भी दे देते हैं। इसे प्रेम का पर्याय समझते हैं।

सन्तों की भाँति प्रियतम परमात्मस्वरूप परमतत्त्व नहीं, अपितु 'मनेर मानुष' के रूप में मनुष्य के हृदय में है, जो आदर्श मानव ही है। इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं, जिससे उसमें सगुणोपासक भक्तों के इष्टदेव 'भगवान्' का भ्रम हो जाता है। जैसे—तेरे मार्ग को मन्दिरों और मसजिदों ने रोक रखा है। हे स्वामिन्! मैं तेरी पुकार सुन लेता हूँ, किन्तु गुरु और मुर्शिद तेरे बीच में आकर खड़े हो जाते हैं। मैं तेरी ओर एक पग भी नहीं बढ़ पाता हूँ।[१०७] बाउल

---

१०७. तोमार पथ ठाकायचे मंदिरे मसजिदे,
(तोमार) डाक सुने आमी चल्ते ना पाइ।
रुकिय डांड़ाय गुरुते मुरशेदे।
—डॉ० दास गुप्त, आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स की पाद टिप्पणी, पृ० १९७

अपने 'मनेर मानुष' को समझ लेने के कारण ही किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करता है। यहाँ तक कि स्वर्ग और मोक्ष तक की भी कल्पना नहीं करता है। जमा के शिष्य गंगाराम निम्नवत् कहते हैं:—यदि तुम मुझे पार लगाना नहीं चाहते तो डूब ही जाने दो। मुझे इसमें कोई आपत्ति न होगी मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँगा अथवा भयभीत ही क्यों होऊँगा? क्या पार लग जाना, तुममें अपने को खो देने की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व रखता है।[१०८] इसी प्रकार एक अन्य बाउल सन्त ने प्रियतम से अपने प्रेम-विह्वलता को इस प्रकार व्यक्त की है:— 'नदी के उस पार से खड़े होकर तुम अपनी बाँसुरी बजा रहे हो और मैं इस पार खड़ी रह कर उसकी मधुर ध्वनि सुन रही हूँ। ऐ प्रियतम! क्या तुम जानते नहीं कि मैं आभागिन तैरना नहीं जानती। मैं वंशी के नाद को सुन कर व्याकुल हो रही हूँ। श्रीहरि का दर्शन किए बिना मैं जीवित नहीं रह सकती हूँ।[१०९] निःसन्देह इनके ऐसे मर्मस्पर्शी गान आध्यात्मिक उद्‌गारों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में स्थान पा सकते हैं, जिसमें मधुरता की भावना निहित है।

हिन्दी भक्ति-साहित्य में मधुराभक्ति

हिन्दी भक्तों में ईश्वर के निर्गुण और सगुण दो रूपों की उपासना होती है। दोनों ही रूपों में मधुराभक्ति का समावेश है। निर्गुणमार्गी भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत सहजयानी सिद्ध-साहित्य, जैन साधना-साहित्य, नाथ सम्प्रदाय साहित्य एवं सूफी प्रेम साधना साहित्य समाविष्ट होते हैं। समस्त निर्गुण भक्ति सम्प्रदायों में मधुर भावना का संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है:

(क) **सहजयानी सिद्ध-साहित्य में मधुर भाव**—सिद्ध-साहित्य को द्विमुखी कह सकते हैं; गीतिपरक तथा मुक्तकपरक। गीति-काव्य के अन्तर्गत चर्यापद, वज्रगीति और मुक्तक-काव्य में दोहे तथा अर्द्धालियाँ हैं। प्रथम में भावपक्ष की प्रधानता है, द्वितीय में नीतिपक्ष की। सिद्धों का चिन्तन और साधना की मूलभित्ति प्रज्ञा तथा उपाय है। प्रज्ञोपाय को विभिन्न रूपकों में अभिव्यक्त किया गया है। भगवान् वज्रधर को चित्तवज्र, कुलिश, मणि, शुक्र, चन्द्र तथा भगवती, नैरात्मा को खसम, कमल' पद्म, रज, सूर्य आदि रूपकों से अभिहित

---

१०८. तुमई सागर आमिई तरी तुमी खेओपार मांझि
कूल ना दिया डुबाओ यदि तातेइ आमि राजि
(ओगो) तो भा हइते कून -कि बाड़ भरम कि आमार?
—परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृ० १०४

१०९. डॉ० भुवनेश्वर मिश्र माधव, संत साहित्य, भूमिका भाग, पृ० १

किया है। इसी प्रज्ञोपाय साधना में मैथुन भावना भी है। प्रज्ञा तथा उपाय को पुरुष-नारी के रूप में परिकल्पित करने की प्रवृत्ति अति प्राचीन है। प्रज्ञोपाय रूपक को तान्त्रिक साधनाओं का आधार बना लिया गया और जहाँ पहले पारमितानय में यह युग्म केवल बोधिसत्त्वों का उत्पादक था, वहाँ मन्त्रनय के विकसित रूप वज्रयान में वह तत्त्व और शक्ति, नारी तथा पुरुष, चित्त एवं खसम, योगी और योगिनी के युग्म के रूप में समस्त सिद्धियों की प्रदायिका मानी गई। सिद्धों ने इसे उद्भूत परिकल्पना की संज्ञा प्रदान की। इस रस की उद्भावना और आस्वादन गूंगे के रस के सदृश है, जिसे बाह्य रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता, जैसे सुरंग में उठने वाली धूल सुरंग में ही विलीन हो जाती है वैसी ही यह अनुभूति है, इसे कौन कह सकता है और कौन समझ सकता है।[११०] इस महासुख रूपी अनुभूति को व्यक्त करने की असमर्थता एक कुमारी की भाँति है, जिसने प्रथम बार सम्भोग का अनुभव किया हो और जब सखियाँ उससे बार-बार पूछती हों कि अपने सुख का वर्णन तो करो, तो वह हारकर कहती है कि मैं उसके विषय में क्या कहूँ। वह वाणी से बताया ही नहीं जा सकता, उसे तो तुम तभी समझोगी जब तुम स्वतः परिणय के उपरान्त प्रिय से मिलोगी।[१११] वह तो अनुभव की वस्तु है अभिव्यक्ति की नहीं, तथा उस अनुभूति की उपलब्धि का मार्ग यही है कि हम मन को नायक रूप में और शून्यता खसम को नायिका रूप में आयोजित कर रात-दिन सहज भाव से रहें।[११२]

इस साधन में मधुर-भाव साधना के आलम्बन भगवान् तथागत नायक और भगवती नैरात्मा ही नायिका हैं। अद्वय बज्र में शून्यता को कामिनी और प्रतिभास रूपी 'बोधिचित' को नायक माना है। इन दोनों के मिलन से ही सहज मधुर रस का विकास होता है। चर्याचर्यविनिश्चय में वीर, शबर, कपाली, बंगाली आदि को नायिका कहा है। सिद्धों ने नायिका के स्वकीया रूप का वर्णन गृहणी, वधू आदि शब्दों को व्यवहृत कर किया है। अपने दोहों में भी वे प्रज्ञा, महामुद्रा को बार-बार गृहणी के रूप में ही वर्णित करते हैं और स्पष्टतः कहते हैं जैसे नमक पानी में घुल जाता है उसी प्रकार अपनी गृहणी को अपने चित्त में धारण करो।[११३] कुछ चर्यापदों में नायिका का परकीया रूप भी

---

११०. डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची, दोहाकोष, पृ० ३१
१११. वही, पृ० ११६
११२. वही, पृ० ५
११३. वही, पृ० ४६

परिलक्षित होता है। सामान्य नायिका का वर्णन चर्यापद में डुण्डिनी तथा मातंगी के रूप में मिलता है। मुग्धात्व, मध्यात्व तथा प्रौढ़ात्व तीनों ही नायिकाओं की प्रवृत्तियाँ सिद्धों की कामचेष्टा में लक्षित होती हैं। मुग्धात्व नायिका में शबरपा की शबरी संसार से दूर ऊँचे पर्वत पर, मोरपंखों से शृंगार किए अबोध प्रकृति बालिका की भाँति रहती है।[११४] मध्यात्व नायिका का वर्णन कुक्कुरिपा में इस प्रकार है—"ओ तरुणी वधू! तेरे घर में ही आँगन है। तेरे मलिन वस्त्र आधी रात के समय चोर चुरा ले गया है। सास को नींद आ गई है, बहू जाग रही है। तेरे जो वस्त्र चोरी चले गए उन्हें अब किससे माँगेगी। दिन में वधू काग से डरती है, किन्तु रात होते ही अभिसार के लिए कामरूप तक चली जाती है। काम और लज्जा मध्या नायिका के रूप को प्रदर्शित करते हैं। सिद्ध गुण्डरीपा महामुद्रारूपी नायिका से प्रणय निवेदन करते हुए कहते हैं कि "ओ योगिनी! तीनों नाड़ियों को दबाकर मुझे भरपूर आलिंगन दो। इस कमल कुलिश योग में समय बीतता जाए और हमें ज्ञान न हो। ओ योगिनी! मैं तुम्हारे बिना एक पल भी नहीं जी सकूँगा। मैं तुम्हारे होंठ चूमकर कमल रस पीऊँगा।[११५] प्रौढ़ा नायिका सम्भोगप्रिय है और नायक को पूर्णतया आनन्द दे सकने में समर्थ है।[११६] कई स्थलों पर नायिका नैरात्म की अभिसारिका, स्वाधीनपतिका आदि अवस्थाएँ दृष्टिगत होती हैं। सम्भोग शृंगार के अधिकांश स्थल नायिकारब्ध हैं। शबर भी अपने को प्रेमोन्मत्त नायक के रूप में चित्रित करते हैं और शबरी के मिलन के लिए पर्वतारोहण करते हैं। शबरपा अन्त में पूर्ण सम्भोग का चित्रण करते हुए शून्य बालिका या नैरात्म बालिका को कंठ से लगाकर सुहागशयन का वर्णन करते हैं।

सम्भोग रति में नायक को उपाय का प्रतीक माना है। प्रज्ञोपाय प्रणयलीला में उपाय को ही सक्रिय सचेष्ट माना गया है। हठयोग साधना के अनुसार भी उपाय रूप में बोधचित्त जाग्रत होकर उद्‌बुद्ध होकर, उर्ध्वगामी होता है और अवधूती को ग्रहण करता है, जिससे मधुर रस की उद्‌भावना होती है। वज्रगीति द्वितीय में नायिका की ओर से भी प्रणय निवेदन किया गया है,—"हे योगनियों के मित्र उठो। प्रिया! यह मिथ्या मान छोड़ दो तथा शून्य निष्क्रिय स्वभाव का परित्याग करो। द्विविधा भाव का परित्याग कर योगनियों की कामना करो। उनकी कामना पूर्ण करो।[११७] डाकार्णव में भी प्रज्ञारूपी नायिका वज्रधर

---

११४. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध-साहित्य, पृ० २४८

११५. वही

११६. वही

११७. वही, पृ० २५०

रूपी साधक से प्रणय निवेदन करती हुई कहती है, तुमने समस्त जगत् को निमन्त्रित किया है। प्रभु! अब तुम करुणा को भूलकर केवल शून्य स्वभाव में क्यों रम गये हो। उठो, हे मेरे करुण स्वभाव वाले स्वामी! वज्रधर तो महासुख की कामना करते हैं, तुम क्यों समागम नहीं करते? सुनो, तुम तो परोपकारगत हो फिर पशुलोक की भाँति म्रियमाण निष्क्रिय क्यों हो? मेरे सम्पूर्ण विकास की कामना करो, ताकि समस्त संसार में सुख छा जाए। मुझमें रमण करो, रमण करो। हे वज्रधर! यह प्रज्ञोपयात्मक सहज भाव अत्यन्त गहन है…… तुम यह शून्य निष्क्रियता छोड़ो।[११८] अतः प्रज्ञा नायिका नायक की करुणा को स्वतः जाग्रत करती है। बिना करुणा के शून्य स्वभाव की कोई सार्थकता नहीं है। सिद्धों ने प्रज्ञोपाय रतिभावना को लौकिक रति का रूपक देकर नायक-नायिका के रूप वर्णन में मधुर-रस की उद्‌भावना की है। इन लोगों ने प्रतीक तथा अप्रस्तुत तत्कालीन जन-जीवन ग्रहण किये हैं। प्रज्ञा को डोम्बी रूप में परिकल्पित करने के उपरान्त कारण्हपा ने डोम्बी के निवास, उसकी तन्त्री, उसकी डलिया, उसके नृत्य आदि को अप्रस्तुत रूप में ग्रहण कर इसके चित्रण को बहुत सजीव कर दिया है।[११९] इसी प्रकार शबरी के मन में एक शबर नायक और डोम्बी के मन में एक कापालिक नायक के लिए रति जाग्रत होना अत्यन्त स्वाभाविक है। जिससे मधुररस का विकास हुआ, जिसका स्पष्ट प्रभाव निर्गुण सन्तों की दाम्पत्यपरक भाव साधना पर पड़ा है, जिससे मधुरभावना का विकास हुआ।

(ख) जैन साधना-साहित्य में मधुर भाव—जैन साधकों के मठपति तथा वनवासी अथवा गृहस्था और सन्यासी दो भेद हैं। प्रथम में कठोर आचार-दर्शन की मान्यता है, तो द्वितीय में पूजा-अर्चा, उनके माहात्म्य, रूप, वेष, वाहन-यन्त्र, उपासनाफल आदि की वैसी ही कोमल उद्‌भवनाएँ हैं जैसी बौद्ध, शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों में उपलब्ध हैं। आध्यात्मिकता का साक्षात् प्रतीक जैन-साधना का उपास्यतत्त्व है। निर्मल मन में शान्त शिव का साक्षात्कार होता है।[१२०] परम देवता न तो देव स्थान में हैं, न शिला में, न चन्दनादि लेप्य पदार्थों एवं चित्र में है। वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो समन्वित में ही अवस्थित है।[१२१]

---

११८. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध-साहित्य पृ० २५१

११९. वही, पृ० २८१

१२०. श्रीमद्योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश, १२३

१२१. देवः न देवकुले नैव शिलायां नेव लेप्ये नैव चित्रे।
अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते।, - वही

मध्यकालीन अन्य साधना मार्गों के समान ही जैन साधना में भी एक ही परमसत्य की स्थापना की गई है। यह परमसत्य शरीर ही परमात्मा का आवास है। देवता कहीं बाहर नहीं है। विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सामरस्य ही वह स्व-संवेद्य रस है, जिसके अनुभव से बढ़कर अन्य आनन्द नहीं है। आत्मा इसी रस का अनुभव कर अपने परमप्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है। शरीर में जीवात्मा का मन में एकीकरण हो जाना ही समरसता है। जैन साधक योगीन्दु ने भी कहा है कि मन जब परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर जब मन से समरस हो जाता है, तो उसे दोनों का समरसी भाव अर्थात् सामरस्य कहते हैं।[१२२] इस अवस्था में साधक को पूजा और उपसाना की आवश्यकता नहीं रहती है। वह परमप्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है तथा फिर पूज्य-पूजक का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। लवण जैसे पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही यदि चित परमात्मा में विलीन हो जाय तो जीव समरस हो जाता है। यह समरसी भाव ही सार साधना है।[१२३] योगीन्दु के शब्दों में उस योगी की बलिहारी है, जो 'शून्यपद' का ध्यान करता है। परमात्मा के साथ समरसी भाव का अनुभव करता है और पाप-पुण्य से परे हो जाता है.........।"[१२४] यहीं ग्राह्य-ग्राहक, पूज्य-पूजक, और पाप-पुण्य के अतीत की महाभाव दशा माधुर्यमय रहस्यवाद का चिरन्तन स्रोत है। जैन साधना में अनुराग भक्ति, चतुर्विध ध्यान, षट्चक्र विधान, शक्तितत्त्व आदि सभी मूल बीज वर्तमान थे, जो हिन्दी के सन्त-काव्य में परिलक्षित होते हैं। जिस प्रकार सन्तों ने जीवात्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष मानकर दाम्पत्य सम्बन्ध की मधुर उद्भावना की, उसी प्रकार जैन साधकों ने आत्मा को नायक और सुमति को नायिका मानकर मधुर रस साधना की मनोरम अभिव्यंजना की है।[१२५] जैन कवियों में भी आत्मा-परमात्मा के मिलन प्रसंग में प्रेमानुभूति, विरह, मिलन आदि का वर्णन उपलब्ध

---

१२२. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, 'मधुर रस स्वरूप और विकास', भाग २, पृष्ठ २२०.

१२३. जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरस हुवइ जीवड़ा काई तमाहि करिरज्ज ।।१७६।।
—मुनिराम सिंह विरचित, पाहुड़ दोहा, पृष्ठ ५४

१२४. शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम्।
समरसीभाव परेण सह पुण्यमपि पापं न येषाम् ।।
—परमात्म प्रकाश, २/१५६, पृ० ३०१

१२५. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, 'मधुर रस स्वरूप और विकास', भाग २, पृ० २२३

है। जैन कवि आनन्दघन की विरहिणी आत्मा का सेज विरह-रूपी भुजंग ने रौंद दी है। प्रिय के बिना वह बेसुध है :

> "पिया बिन सुध-बुध खूंदी हो।
> विरह भुअंग निशा समे, मेरी सेजड़ी खूंदी हो ।।[१२६]

इसी प्रकार कवि बनारसीदास के 'अध्यात्म-गीत' में भी पत्नी पति के वियोग में इस भाँति तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली। पत्नी के हृदय में पति से मिलन की उत्कंठा निरन्तर तीव्र गति से बढ़ रही है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं इस तरह उसमें विलीन हो जाऊँगी जैसे बूंद दरिया में समा जाती है। मैं अपनत्व को खोकर पिय से मिलूंगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[१२७] ऐसी अवस्था में पति तो उसे अपने अन्तःकरण में ही मिल गया, पत्नी पति से मिलकर इस प्रकार एकरूप हो गयी कि द्विविधा तो रहा ही नहीं। उसकी इसी एकत्व भावना को सन्तों ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्ता, वह सुख सींव है और प्रिय सुखसागर, वह शिवनींव है और पिय शिव-मन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पति शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।[१२८] इस प्रकार पति-पत्नी के विलय के कारण ही पत्नी के अन्तर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है। द्वैध हट जाता है और अद्वैत उत्पन्न हो जाता है। सुमति चेतन से कहती है, "हे प्यारे चेतन ! तेरी ओर दृष्टिपात करते ही परायेपन की गगरी फूट गयी, दुविधा का अंचल हट गया और लज्जा पलायन कर गयी।[१२९] पत्नी को पति के प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। महात्मा आनन्दघन ने सुहागनियों के अन्तः में मधुर प्रेम की पूर्णता के विषय में लिखा है कि "सुहागिन पत्नी के हृदय में निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जागृत हुआ कि अनादिकाल से चली आने वाली अज्ञान की निद्रा का अन्त हो गया। हृदय के अन्तः में भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे घमण्ड स्वतः दूर हो गया और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गई है। प्रेम एक ऐसा अचूक

१२६. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, 'मधुर-रस स्वरूप और विकास, पृ० २२५

१२७. बनारसीदास, अध्यात्मगीत, पृ० १५६-१६० (जयपुर, १६५४ ई०)

१२८. बनारसीदास, अध्यात्मगीत, पृ० १६१

१२९. बालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सरम गै छूटि, बालम ।।
—बनारसीदास, अध्यात्मगीत, पृ० २२८-२२९

तीर है कि जिसको लगता है वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसी बीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मारूपी मृग तृण चरना भी भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।[१३०] भक्त प्रेयसी तथा आत्मा पति का प्रेम एकपक्षीय नहीं है, अतः भक्त के समीप भगवान् स्वयं आते हैं, जिससे भक्त पत्नी के आनन्द का पारावार नहीं रहता। आनन्दघन की सुहागन नारी के नाथ अत्यधिक लम्बी प्रतीक्षा के बाद आते हैं, इस कारण पत्नी ने विविध भाँति के श्रृंगार किये हैं, जो अद्भुत हैं। उसने प्रेम, प्रतीति, राग और रुचि के रंग में रँगी साड़ी धारण की है, भक्ति की मेंहदी रचाई है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूड़ियाँ पहनी है और धैर्य का भारी कंगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरवसी गहना वक्षस्थल पर पड़ा है, और पिय के गुण की माला गले में पहनी है। सुरत के सिन्दूर से माँग सुशोभित है और निरति की वेणी को आकर्षक ढङ्ग से गूँथा है। उसके घट में त्रिभुवन की सर्वाधिक प्रकाश्यमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहाँ से अनहद नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे निरन्तर ही पियरस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।[१३१] अतः यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार मध्ययुगीन संत कवियों ने अपनी आध्यात्मिक क्षुधा के उपशमन के लिए सिद्धों, योगियों, वैष्णवों, सहज-वादियों, सूफियों आदि से भाव सामग्री ग्रहण की, उसी प्रकार उन्होंने जैनाचार्यों के भावात्मक रहस्यवाद से भी प्रेरणा प्राप्त कर माधुर्यमय रहस्यवाद की अवतारणा की, अतः हिन्दी के निर्गुण सन्तों पर जैन कवियों की विचारधारा का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित होता है।

(ग) नाथ सम्प्रदाय में माधुर्य भाव का स्वरूप—नाथ सम्प्रदाय में हठयोग-साधना और बिन्दु रक्षा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। उपर्युक्त सम्प्रदाय विभिन्न कालखण्डों में प्रचलित योगमार्गी, शैवागमवादी और वाममार्गी जैन, बौद्ध, शैव और शाक्त सम्प्रदायों का संगम है। समस्त साधनाओं में किसी न किसी रूप में पंच-मकार दर्शन को स्वीकार किया गया है, जिसमें मुद्रा-मैथुन साधना और महारस पान को प्रधानता दी गई है। नाथ-पंथी योगियों के मधुर रस-साधना के स्पष्ट संकेत शिव-शक्ति सामरस्य, मुद्रा साधना,

---

१३०. नाद विलुद्धो प्राण कूँ, गिन न तृण मृगलोय।
आनन्दघन प्रभु प्रेम का, अकथ कहानी वोय ॥ सुहा ॥४॥
—महात्मा आनन्दघन, आनन्दघन पद-संग्रह, पद ४, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई

१३१. महात्मा आनन्दघन : आनन्दघन पद-संग्रह, पद २०, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई

सुरति-निरति, सहजत्व, चन्द्र-सूर्य-संगम, महारस-पान आदि में दृष्टिगत होते हैं। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में नाथ सम्प्रदाय के लिए सिद्ध-मत,[१३२] सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग,[१३३] योग सम्प्रदाय,[१३४] अवधूत-मत,[१३५] अवधूत सम्प्रदाय[१३६] आदि नाम व्यवहृत हुए हैं। इस सम्प्रदाय में बौद्ध-सिद्धों के सहज, शून्य, निरंजन, पंचमकार दर्शन आदि को परिवर्तित अर्थों में ग्रहण कर तथा चित्त स्थिरीकरण, प्राण-साधना, बिन्दु-धारण प्रभृति विषयों को पूर्ववत् स्वीकार कर योग प्रधान साधना का विकास हुआ। डॉ० धर्मवीर भारती के कथनानुसार "वैष्णव तथा शैव इन दोनों सम्प्रदायों की ओर से बौद्धतान्त्रिकों का घोर विरोध हुआ और सहज पद्धति के गुह्य अनुष्ठानों का दोनों ने बहिष्कार किया। सिद्धों की साधना में से मात्र योग-पद्धति और हठयोग द्वारा सहज समाधि का अंश, नाथयोगियों ने अपनाया, जो शैव थे, उन्होंने मैथुन और नारीसंग का पूर्णतः बहिष्कार किया। सिद्धों के वज्रयान के उन्मूलन में यवनों और वैष्णवों से भी अधिक उन शैव हठयोगियों का हाथ रहा है जो आदिनाथ शिव के अनुयायी थे। गोरखनाथ नामक एक महान् धर्माचार्य ने इन कुत्सित अनुष्ठानों के विरुद्ध विद्रोह किया और तान्त्रिक साधनाओं का पूर्णतया मूलोच्छेदन कर दिया।[१३७] हठयोगी नाथ-साधक, वज्रयानी या सहजयानी सिद्ध साहित्य के सदस्य थे या परम्परागत शैवमत के अनुयायी थे। इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नाथ सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक

---

१३२. अन्ये भेदरता विवादविकलास्ते तत्त्वतो वञ्चिता।
स्वस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्॥
—गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, पृ० १२

१३३. सिद्ध सिद्धान्तपद्धतौ-सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पाषण्ड मार्ग।
—गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, पृ० ५

१३४. योगसम्प्रदायं विना सर्वमते विपरीता वार्त्ता वर्त्तत कथमः।
—गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, पृ० ५८

१३५. अस्माकं मतं तववधूतमेव। परन्तु कापालिकमपि मतं कोथेनैव प्रकटीकृतम्॥
—गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, पृ० १८

१३६. अवधूत शिष्यं विनेतरसम्प्रदायकशिष्या मुग्ध वर्त्तन्ते अवधूत-सम्प्रदायस्य इयं रीतिः—गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, पृ० ५६

१३७. डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध-साहित्य, पृ० ३२०

गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तथा सम्प्रदाय के प्राचीन सिद्धों और उनके सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो मत प्रस्तुत किये गये हैं वे अनुमानाश्रित ही हैं। नाथपंथ में वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध, आजीवक, अघोर अवधूत आदि तान्त्रिक सम्प्रदायों की प्रवृत्तियाँ और साधनाएँ अन्तर्भुक्त हो गईं। अन्तर्योग अथवा हठयोग नाथपन्थियों की प्रमुख साधना है। इसमें साधक 'निश्चेष्टावस्था' को प्राप्त कर तथा कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध कर सहस्रारचक्र स्थित परमशिव से उसे मिलाना और उनके (शिव-शक्ति) सामस्यजन्य सहजानन्द का आस्वादन करना ही नाथपंथी योगियों का अन्तर्योग साधना का एक मात्र लक्ष्य है।[१३८] शिव-शक्ति की यह समरसता है, अजस्र आनन्द का स्रोत है, जिससे मधुर भावना का विकास होता है।

नाथ योगियों के अन्तर्योग साधाना की मूल प्रेरक शक्ति कुण्डलिनी है। यह आद्याशक्ति, त्रिभुवन जननी, आदि कुमारी, जगतनारी और त्रिदेवों को उत्पन्न करने वाली है।[१३९] कुण्डलिनी जागरण के लिए बिन्दु, वायु और मन इन तीनों पर अनुशासन अति आवश्यक है, जिससे ये अचंचल हो नाना-भावविनिर्मुक्त सहजानन्द प्रदायक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय के अमोघ साधन बन जाते हैं। मेरुदण्ड के मूल सूर्य और चन्द्र के मध्य योनिस्थित स्वयंभूलिंग ही नर के वीर्य और नारी के रजः स्खलन का मार्ग है। वीर्य का ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठना नाना भावविनिर्मुक्त सहजानन्द किंवा सहजसमाधि की अवस्था है जिसमें मन और प्राण सुस्थिर हो जाते जाते हैं।[१४०] यह जाग्रत आत्म-शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर अग्रसर होती हुई परमात्म तत्त्व में आत्मसात हो जाती है।

चन्द्र-सूर्य संगम की कल्पना नाथ योगियों ने वज्रयानी सहजानी सिद्धों के समान अनेक रूपों में की है।[१४१] चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी के सम्मिलन से ही प्रान और अपान की समता होती है। कर्म, काम, चन्द्र, सूर्य और अग्नि भौतिक शरीर के पाँच तत्व हैं।[१४२] इनमें रस तत्त्व चन्द्र और अग्नि तत्त्व सूर्य है। रस उपभोग्य है और अग्नि उपभोक्ता। स्थूल जगत् में अग्नि पिता के शुक्र और

---

१३८. सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह, पृ० ५-११

१३९. नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ८६

१४०. अमरौघ शासन, पृ० ७-८

१४१. चंद सुरनीं मुंद्रा कीन्हीं धरिण भस्म जल मेला।
नादी व्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरु नां चेला॥
—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोरखवानी, पृ० ११०

१४२. कर्म, कामः, चन्द्रः, सूर्यः, अग्निः, इति प्रत्यक्षकरणपञ्चकम्।
गोरखनाथ, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, 'नाथ निर्वाण व्याख्या' पृ० १९

चन्द्र माता के रज के रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार दोनों के मैथुन से ही शरीर का निर्माण होता है। नाथपंथी योगियों ने चन्द्र का इड़ा, प्राण, गंगा, शुक्र, शिव और सूर्य को पिंगला, अपान, यमुना, रज, शक्ति आदि रूप में परिकल्पित कर दोनों के संगम की अत्यन्त मधुर कल्पना की है। दोनों के संयोग से ही परमपद की प्राप्ति होती है।

नाथ योगियों की मधुर भाव साधना का प्रेरक स्रोत शिव-शक्ति का सामरस्य भाव है, जो नाद बिन्दु के सिद्धान्त पर पूर्णतः आश्रित है। शिव-शक्ति की कल्पना नाद और बिन्दु के रूप में कर शिव-शक्ति के सामरस्य को साधना का चरम लक्ष्य निर्धारित किया गया है।[143] हठयोगात्मक साधना पद्धति के कारण सुरति के दो तत्त्वों युगनद्धपरक और मैथुनपरक के अतिरिक्त उसे नादपरक में ग्रहण किया है। नाथयोग साधना में शब्द अनहद नाद है, 'सुरति' साधना में चित्त को प्रवृत्त करने वाला 'शब्द' है और 'निरति' शब्द की वह अवस्था है जहाँ 'शब्द' भी निःशब्द हो जाता है। इस अवस्था में नाद और बिन्दु का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है।[144] नाथों के विचार में साधक और शब्द का अद्वयत्व ही 'निरति' है।

नाथ सम्प्रदाय विशुद्ध योगमार्गी बिन्दुरक्षा को महत्त्व देने वाला[145] तथा नारीसंग वर्जन करने वाला निवृत्ति प्रधान साधन मार्ग था। कालान्तर में उसके अन्तर्गत मुद्रा-मैथुनपरक वज्रयानी सम्प्रदायों के मिल जाने से उसमें गुह्य तान्त्रिक प्रवृत्तियों का समावेश हो गया। पंचमकार सेवन, बाल-सुन्दरी, त्रिपुरा-सुन्दरी, त्रिपुरा-कुमारी की पूजा, लिंग और योनि की उपासना, चक्रपूजा आदि गुह्य तान्त्रिक विधानों को महत्त्व दिया जाने लगा जिसका रूप नाथपंथी सम्प्रदायों में दृष्टिगत होता है। नाथपंथी का शिव-शक्ति सामरस्य मधुर रस का संचार करता है। हठयोग के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क में स्थित सहस्र कमलदलों वाला सहस्रार चक्र या शून्यचक्र ही परम शिव का निवास स्थान है।[146] उद्बुद्धा कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के सूक्ष्म मार्ग के ऊपर चढ़ती

---

१४३. सम्पा०-हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ११८

१४४. मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० २६६

१४५. सम्पा -हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सिद्धों की बानियाँ, भरथरी, पृ० १००-१०१.

१४६. अतः उर्ध्व दिव्य रूपं सहस्रारं सरोरुहम्,
ब्रह्माण्डव्यस्त देहस्यं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।
—शिवसंहिता, पृ० १५१-१५२

है और षट्चक्रों का वेध करती हुई एवं मार्ग में मिलने वाले त्रिग्रन्थि का भी उद्घाटन करती हुई सीधे सहस्रसार-पद्म-गृह में अपने पति शिव में लय हो जाती है। यही शिव-शक्ति सामरस्य योगियों का परम धेय है। यह सामरस्य भाव कभी नाद और बिन्दु के मिलन के रूप में, कभी चन्द्र-सूर्य संगम के रूप में, कभी योनि के महाक्षेत्र में (जपा और वन्धूक पुष्पों के समान, लाल रज (देवीतत्त्व) के साथ रेतस् (शिव तत्व) के रूप में, कभी कुण्डलिनी और शिव के संयोग के रूप में, कभी पिण्ड-ब्रह्माण्ड के अद्वय-भाव के रूप में, कभी कापालिक और कपाल-वनिता के नित्य-विहार-सुख के रूप में और कभी कुलाकुल के शाश्वत प्रणय-विलास के रूप में चरितार्थ होता हुआ अलौकिक मधुर भावना की सृष्टि करता है।

(घ) सूफी प्रेम-साधना साहित्य में माधुर्य भाव—हिन्दी प्रेमगाथाओं में आलम्बन को प्रेयसी की भाव धरती से उठाकर पत्नी के गरिमा सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया गया है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेयसी रूप में मिलनोत्कंठा, प्रेम-तीव्रता, काम-कतरता, विरह-तीव्रता को सदा अधिक अवकाश रहता है, पर चिरन्तन मिलन, अटूट सायुज्य, निरन्तर एकात्मकता, अशंकित-तल्लीनता, अनन्त सम्भोग-सुख, सुगमता पत्नी में ही रहती है। भारतीय दामपत्य मात्र सामाजिक विधान ही नहीं, अध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अनुष्ठान भी है, लोक-परलोक, जन्मजन्मान्तर का अविभाज्य सम्बन्ध भी है।

इसी लिए हमारे राम में आत्मा-परमात्मा के प्रतीक रूप में भी आलम्बन (परमात्मा) पत्नी रूप में ही सूफी भक्ति के अधिक अनुकूल है। फारसी सूफी-साहित्य में अमरद (किशोर) को भी आलम्बन माना जाता है।[१४७] यह अप्राकृत तो है ही, रूप सुषमा की स्थापना भी इसमें इतनी नहीं की जा सकती, जो रति को चिरोदीप्त रख सके, उसे रति का चिरस्थायी आलम्बन बना सके। इसके सिवा इससे अमानवी व्यभिचारी का प्रचार होता है वह तो सूफी काव्य के अध्यात्म का प्रसार तो कर ही देता है।

सूफियों के अनुसार सांसारिक प्रेम (इश्कमजाजी) इश्वरीय प्रेम (इश्क हकीकी) का प्रथम सोपान है। इश्कमजाजी इश्क हकीकी की सीढ़ी है और इसी के द्वारा इंसान स्वयं को मिटाकर खुदा बन जाता है। जब इश्क मजाजी ईश्क हकीकी में परिणत हो जाता है, तब साधक आत्मानन्द पाता है। वह ध्यान द्वारा ईश्वरीय सौन्दर्य पर विस्मय विमुग्ध होता हुआ चरमसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहता है तब एक ऐसी स्थिति आती है कि प्रेम स्वयं प्रेम रूप हो जाता

१४७. चंद्रवली पाण्डेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १०३

है। प्रेम एक ऐसी रागिनी छेड़ देता है जिसके प्रभाव से प्रेमी का सम्पूर्ण व्यक्तिगत प्रेममय हो जाता है।[१४८]

सूफियों की रीति में माधुर्य के साथ-साथ मादन भाव भी रहता है, परन्तु उसमें निहित वासना को पवित्र वासना ही कहना उचित है, क्योंकि ईश्वरीय रति का आनन्द नित्य और शान्तिप्रद होता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने स्पष्ट लिखा है कि 'भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफी मत से ही आई हुई ज्ञात होती है।[१४९] मादन भाव का उल्लेख भारतीय भक्ति भावना में कहीं नहीं किया जाता। सर्वत्र उसकी जगह मधुर भावना का ही प्रयोग लक्षित होता है। भक्ति क्षेत्र में माधुर्य भाव का तात्पर्य उपास्य में उपासक की बुद्धि, रति व पति-पत्नी भाव की है। रति का समुचित परिपाक पति-पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य भाव की भक्ति में नहीं हो पाता।

शृंगार रस का माधुर्य भाव से सहज सम्बन्ध है। किसी के उपास्य में हमारी पूज्य बुद्धि भले ही न हो, पर उसकी रति तो हमारे रोम-रोम में उमड़ रही है। सूफीमत में अमृतत्व और आनन्द का एक मात्र साधन रति है। रति ही आनन्द का उत्स है, पर शाश्वत आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसका आलम्बन भी चिरन्तन हो। प्रेम ही उनकी साधना का सर्वस्व था, दिल के अन्दर अपने दिलवर के दीदार का रसपान करना ही उनका चिरसाध्य था। सूफीमत में शरीअत, तरीकत, हकीकत, मारिफत ये चार अवस्थाएँ साधक की हैं। शरीअत में प्रियतम को जानने की उत्सुकता जगती है। उपासक प्रियतम को पाने के लिए विरही बनकर प्रेम पन्थ में आरूढ़ हो जाता है। तरीकत में चंचल चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए वह नफस से जेहाद करता है। हकीकत में निरन्तर परमात्मा स्वरूप चिन्तन के फलस्वरूप विधि-निषेध से परे की अवस्था में पदार्पण करता है। इसी अवस्था में उसे प्रियतम का साक्षात्कार होता है। यही 'वस्ल' की स्थिति है, जिससे साधक 'फना' को प्राप्त कर 'ब्रह्म विहार' का अधिकारी हो जाता है। इसी अवस्था में 'अनलहक' की दिव्यानुभूति प्राप्त होती है। यही मारिफत या सिद्धावस्था है, जिससे साधक द्वन्द्वातीत 'केवल तू ही तू' का अनुभव करने लगता है। ये चारों अवस्थाएँ परमात्मा के अनुग्रह से ही हृदय के अन्तः में उपस्थित होती हैं और 'अहवाल' कहलाती हैं। इस 'अहवाल' की स्थिति में भक्त अपने को भूलकर ब्रह्मानन्द में भूलने लगता है। अतः सूफी प्रेम साधना का चिरसाध्य मधुर भावना ही है।

---

१४८. बाँके विहारी भटनागर तथा कन्हैयालाल—ईरान के सूफी कवि, पृ० ३२८

१४९. डॉ० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृ० १०१

सूफी साधक को अपने चिरसाध्य को प्राप्त करने के लिए सात भूमियों (मुकामात) को पार करना पड़ता है। सूफी साधक 'सप्त-भूमयः' के कायल हैं, किन्तु इनमें वस्तुतः इश्क की ही प्रधानता है। सूफीमत का भव्य भवन इश्क की नींव पर ही खड़ा है। सूफियों की दृष्टि में जीव को स्वतः पार लगाने वाला एक मात्र साधन प्रेम ही है। इसलिए सूफी अन्तःकरण से प्रेम के पक्के पुजारी और इश्क के सच्चे कायल हैं, यदि सूफी साधकों को 'प्रेमी साधक' कहा जाये, तो असगत न होगा। प्रेम उनके काव्य के समस्त प्रतीकों में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। रति का जो आलम्बन है वही प्रियतम का प्रतीक है। सूफी चाहे जिस किसी को प्रेम का पात्र कहें, परन्तु उनका प्रियतम परमात्मा ही है। उसी प्रियतम को वे अपने प्रेम का आलम्बन मानते हैं। वे समस्त संसार को उसी के प्रेम में निमग्न देखते हैं। प्रेम के पुल पर चल कर ही सूफी साधक भवसागर पार करते हैं। उनका अमोघ अस्त्र या परम साधन प्रेम ही है।[१५०] इन साधकों ने सामान्य नायक-नायिका को प्रेम प्रसंगों द्वारा अलौकिक परोक्ष सत्ता के प्रति अपने प्रेम का स्पष्ट संकेत दिया है। यह अलौकिक प्रेम ज्ञानजन्य होता है, अतः इससे उपलब्ध आनन्द अनिर्वचनीय, अनुभवगम्य है। प्रेमी मात्र प्रेमी ही नहीं रहना चाहता, वह प्रियतम से मिल कर तादात्म्य का अनुभव करना चाहता है। यही आत्मा-परमात्मा के प्रेम मधुरता की उच्च स्थिति तक पहुँच जाता है। वह प्रेम-पंथ पर चलने के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने को प्रस्तुत रहता है। शलभ दीपकमय हो जाना चाहता है, कमल जल के सूखने के साथ ही सूख जाता है, मछली जल के वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देती है। वास्तव में प्रेमी प्रेम की अग्नि में झुलस-झुलस कर सदैव प्राण देने को उद्यत रहता है। अलहुज्वीरी ने उचित ही कहा है कि 'प्रेम प्रियतम की प्राप्ति की विकलता का ही नाम है।'[१५१] इसी प्रेम की मधुर भावना के कारण कटु भी मिष्ट हो जाता है। प्रेमी शूल को फूल समझ लेता है। इसी प्रेमोन्माद में शूली सिंहासन और कारागार उद्यान बन जाते हैं। इस पर अग्रसर होना उतना ही कठिन है, जितना सिर पर तीन सौ सत्तर मन का बोझ उठाकर चलना।[१५२] वास्तव में इस मार्ग पर चलने वाले के लिए सबसे पहले अपना सिर हाथ में लेकर

१५०. शिव सहायक पाठक, पद्मावत का काव्य सौन्दर्य, पृ० २२०

१५१. ए० एम० ए० शुस्तरी-आउट लाइंस ऑव् इस्लामिक कल्चर, वाल्यूम २, पृ० ५०२

१५२. सम्पा०, श्यामसुन्दरदास, नूर मुहम्मद, इन्द्रावती, पृ० ४४

चलना पड़ता है। अपने आपको मिटा कर ही उस मार्ग का पथिक हो सकता है।[१५३] परमात्मा को पाने के लिए परमात्मा के प्रेमी को अपना सब कुछ न्योछावर कर देना पड़ता है। अबू अब्दल अला कुरेशी के कथनानुसार "सच्चे प्रेम का तात्पर्य है कि तुम जिस प्रियतम से प्रेम करते हो उसे सर्बस, जो तुम्हारे पास है, दे दो जिसमें कि तुम्हारा अपना कहने को कुछ भी न रह जाय।[१५४] अतः जगत् की सृष्टि के मूल कारण प्रेम की प्राप्ति ही परमानन्द है।[१५५] सूफीमत में 'खौफ़' की महत्ता के बदले प्रेम की सत्ता तथा माधुर्य भाव की स्थापना करने वाली परमात्मा की प्रिय दुलहिन राबिया ने कहा है कि 'हे नाथ ! मैं आपसे दो प्रकार से प्रेम करती हूँ। प्रथमतः यह मेरा स्वार्थपूर्ण प्रेम है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कभी कामना ही नहीं करती। द्वितीय, वह मेरा परमार्थपूर्ण प्रेम है कि आप जब मेरी आँखों के सामने से पर्दा हटा देते हैं तब मैं आपका साक्षात्कार कर आपकी सुरति में निमग्न हो जाती हूँ। किसी भी दशा में इसका श्रेय मुझे नहीं दिया जा सकता। यह तो आपकी कृपा-कोरी का प्रसाद है।[१५६] इनका सम्पूर्ण जीवन परमात्मा से ओत-प्रोत है। सूफ साधना का आदि, मध्य, अवसान प्रेम ही है। लौकिक प्रेम ही अलौकिक प्रेम का प्रतीक है। उनके प्रेम में आवेग, आवेश, उद्वेग, अमर्ष, ईर्ष्या, मद, तड़प, हाहाकार, उन्माद, मूर्च्छा आदि भावों का अद्भुत वैचित्र्य है। उनकी भक्ति भावना में मादन भाव का तीक्ष्ण, तीव्र आलोड़न है, जिससे मधुर रस की अगणित भाव लहरियाँ उठ-उठकर युग-युग के जन-मानस को अभिषिक्त एवं संतृप्त करती आ रही हैं।

सगुण भक्ति साहित्य

कृष्ण-भक्ति साहित्य में मधुरा भक्ति

हिन्दी ब्रजभाषा-काव्य मुख्यतः भक्तिपरक है। इसके मुख्य आलम्बन कृष्ण एवं राधा हैं। कृष्ण-साहित्य को मधुर रस से आप्लावित करने वाले प्रमुख

---

१५३. प्रथमहि सीस हाथ के लेई, पाछे वोही मारग पगु देइ।
—सम्पा० शिवगोपाल मिश्र, कवि मंझन, मधुमालती, पृ० ७१

१५४. रामपूजन तिवारी, सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ३११

१५५. हो प्रेमो है प्रेम की, चंचलताई पाय।
जा मन जामां प्रेमरस, भा दोउ जग को राय।।
—सम्पा०, श्यामसुन्दर-दास, नूरमुहम्मद, इन्द्रावती पृ० ६

१५६. आर० ए० निकल्सन, ए लिटररी हिस्ट्री ऑफ द अरबस, पृ० २३४

पाँच सम्प्रदाय हैं, जो वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, हित हरिवंश सम्प्रदाय के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। प्राचीनता की दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है।

निम्बार्क सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय में एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है :

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रै: परिसेवितां सदा, स्मरेम् देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥[१५७]

यहाँ युगल उपासना के साथ भगवान् की माधुर्य तथा प्रेमशक्ति रूपा राधा की उपासना पर बल दिया है, क्योंकि वे राधा में ही भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति मानते हैं। सहस्रों सखियाँ इनकी सेवा में रत हैं और अपनी इस सेवा से राधा-कृष्ण का सुख सम्पन्न करती हैं। अपने उक्त श्लोक के आधार पर निम्बार्क मधुर भक्ति के प्रवर्तक आचार्य स्वीकार किए जा सकते हैं।

श्री निम्बार्काचार्य ने राधाजी को 'अनुरूप सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। जैसे वे सर्वेश्वर हैं, वैसी राधिका भी सर्वेश्वरी हैं।[१५८] निम्बार्कीय उपासना के क्षेत्र में राधिका के बिना कोई भी उपासक श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करना तो दूर है सान्निध्य भी प्राप्त नहीं कर सकता। इनके वृन्दाविपिन-नित्य-विहार का दर्शन-सुख ही सुरसिक भक्तों का सर्वस्व है।[१५९] वृन्दावन धाम में अपार माधुर्य की मूर्ति श्री सर्वेश्वर कृष्णचन्द्र ही एकमात्र परात्पर तत्व हैं। सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र अपनी आह्लादिनीशक्ति-रूपा श्री राधारानी के साथ नित्य-विहार का सुख अनुभव करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा आराध्य किये जाने के कारण ही आह्लादिनीशक्ति 'राधा' पद से वाच्य मानी जाती हैं। इनका कभी वियोग नहीं होता है। युगल सर्वदा एक साथ विहार करते हैं तथा आनन्द सागर में सतत निमग्न रहते हैं। कृष्ण की अद्वैतता का कितना मधुर वर्णन है :

'सदा सर्वदा जुगल इक, एक जुगल तन धाम।
आनन्द अरु अह्लाद मिलि, विलसत द्वै द्वै नाम॥'
एक स्वरूप सदा द्वै नाम,
आनन्द के अह्लादिनि स्यामा, अह्लादिनी के आनन्द स्याम।
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम॥
श्री हरिप्रिया निरन्तर नितप्रति कामरूप अद्भुत अभिराम॥[१६०]

---

१५७. निम्बार्काचार्य—दशश्लोकी, श्लोक ५, पृ० २२३
१५८. बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३४४
१५९. मधुर रस स्वरूप और विकास, पृ० १०८ से उद्धृत
१६०. बिहारी शरण, निम्बार्क माधुरी, पृ० ३२

इनकी मधुर लीलाओं में प्रवेश पाने के लिए सखी भाव से श्यामा और श्याम (प्रिया-प्रियतम) की सेवा करना परमावश्यक है।[१६१]

निम्बार्क मत में राधा को स्वकीया माना गया है। इस मत के अन्तर्गत राधा को कृष्ण की विवाहिता मानकर युगल के नित्य दाम्पत्य को मान्यता प्रदान की जाती है। इस मत के श्रीभट्ट एवं हरिव्यास देवाचार्य को मधुरभक्ति के प्रचारकों में प्रमुख स्थान उपलब्ध है। 'युगल शतक और 'महावाणी' नित्य-विहार के मान्य ग्रन्थ हैं। हिन्दी के हमारे परिचित महाकवि बिहारीलाल, केशवदास, घनानंद, रसिक गोविन्द, रसखान सभी निम्बार्क मतानुयायी वैष्णव कवि हैं।[१६२] इनके अतिरिक्त रूप रसिक देवजी, वृंद्रावन देवजी, गोविन्द देवजी, नागरीदासजी, शीतलादासजी आदि अनेक भक्त कवियों ने अपनी-अपनी काव्यकृतियों में राधा-कृष्ण की मधुर प्रेम-लीलाओं की भूरिश: उद्भावनाओं द्वारा मधुर भक्ति का अपूर्व परिपाक किया है।

सखी सम्प्रदाय—स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित मत को सखी सम्प्रदाय नाम से अभिहित करते हैं। इसे निम्बार्क सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध माना जाता है, पर इस मत में रसोपासना इतनी प्रधान है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की दार्शनिकता से इसका मेल नहीं बैठता, क्योंकि इसमें दर्शन की अपेक्षा रस की प्रधानता है। युगल किशोर ही इस मत में आराध्य हैं और रसिक इनके भक्तों की छाप हैं।

हरिदासी सखी-सम्प्रदाय के रसिक भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण की मधुर प्रेम-लीलाओं के विविध रूपों—रूपमाधुरी, प्रेममाधुरी, वन-विहार, जल-विहार, रास-विहार, रास-लीला, होली, भूलन, केलि-विलास, वृन्दावन-सुषमा, मान, सूक्ष्म विरह आदि—का अत्यन्त सरस, भाव-प्रवण एवं उदात्त वर्णन किया है तथा अपनी कमनीय कृतियों द्वारा व्रजभाषा भक्ति-काव्य को मधुर रस से मंडित करने का महनीय प्रयास किया है।[१६३]

स्वामी हरिदासकृत 'केलिमाल' रसोपासना का उत्कृष्टतम ग्रन्थ है। इनके शिष्यों में विट्ठल विपुलदास विहारिणि देव, भगवत रसिक, सहचरिशरण आदि का रसोपासना साहित्य प्रमुख है। सखी भाव की उपासना माधुर्य का भण्डार है, प्रेम का आगार है तथा मधुररस का भाण्डारागार है।[१६४]

---

१६१. मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० ११० से अवतरित
१६२. पं० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० २३३
१६३. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० १२१
१६४. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैष्णव सम्प्रदाय का साहित्य और सिद्धान्त, पृ० ३२०

चैतन्य सम्प्रदाय—महाप्रभु चैतन्य ने दार्शनिक दृष्टि से श्रीमध्व के द्वैतवाद की अपेक्षा निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद को अधिक महत्त्व प्रदान किया तथा भागवत् पुराण के भक्ति तत्त्व को ग्रहण कर नृत्य-गीत समन्वित मधुरा वैष्णव भक्ति के अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार द्वारा सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी अंचलों में एक विराट् धार्मिक क्रांति का सूत्रपात किया। इस प्रकार सदियों से शैव, शक्ति और तांत्रिक विचारधाराओं से जकड़ी हुई बंगभूमि महाप्रभु के सात्विक जीवन और पूर्ण उपदेशों के कारण राधा-कृष्ण की रागानुगिका भक्ति के रङ्ग में रँग गई।[१६५]

चैतन्य महाप्रभु ने भी माधुर्योपासना द्वारा कृष्ण भक्ति में विह्वलतामूलक भक्ति की धारा प्रवाहित कर दी थी। श्री रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी आदि ने व्रज को साधनाभूमि बनाकर 'उज्ज्वलनीलमणि' और हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया और मधुर रस को एक शास्त्रीय रूप प्रदान किया। इन्हीं महानुभावों ने कान्ताभाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ रूप दिया।

चैतन्य मत के हिन्दी कवि गदाधर भट्ट, सूरदास, मदनमोहन, प्रियादासजी, रूपमंजरीदास, ललित किशोरी, ललित मोहनी, और वल्लभ रसिक के पद-साहित्य में मधुरोपासना का स्रोत परिलक्षित होता है।

चैतन्य महाप्रभु ने राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। गोपियों में राधा उत्तमा हैं' वह रूप, गुण, सौभाग्य और प्रेम में सर्वाधिक हैं।[१६६] राधा ह्लादिनी रूपा मानी गयी हैं, क्योंकि वह कृष्ण को आनन्द प्रदान करती रहती हैं और भक्तों को भी आह्लादित किया करती हैं। ह्लादिनी का सार अंश प्रेम है। इसी को आनन्द (चिन्मय) भी कहते हैं। प्रेम का परमसार महाभाव और महाभाव का चरमरूप अधिरूढ़ भाव में मिलता है। इसी लिए राधा को महाभाव स्वरूपिणी कहा गया है।

चैतन्य मत में मधुर रस साधना का स्वरूप निम्नवत् है :

(१) गौड़ीय वैष्णव मत में मधुर रस सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

(२) इस मत में परकीया भाव में रसोत्कर्ष स्वीकार किया गया है।

(३) व्रज-लीला का गान ही अभीष्ट है और गोपी भाव को अंगीकार किया गया है। श्रीकृष्ण रति ही प्रधान हैं।

---

१६५. डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, रीति कविता और शृंगार रस का विवेचन, पृ० २११

१६६. ताहू गोपीगण विषै श्री राधा जु प्रधान।
रति सुहाग गुण रूप करि सबतें अधिक प्रमान॥
—सुबल श्यामजी, चैतन्य चरितामृत, आदिलीला ४/२३

(४) मधुर रस के संयोग और वियोग द्विविध रूपों में वियोग को श्रेष्ठ माना गया है; बिना वियोग के संयोग पुष्ट नहीं होता।

(५) मधुर रस की उपासना में अष्टकालीन सेवा ही एकमात्र मार्ग है। 'गोविन्द लीलामृत' एवं 'श्रीकृष्ण भावनामृत' में इस अष्टकालीन उपासना का वर्णन है।

(६) भक्त किसी मंजीर का आनुगत्य स्वीकार करके युगल सेवा को अपना ध्येय मानता है।

इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में मधुर रस की भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ तथा परकीया प्रेमभाव को ही कृष्ण-प्रेम का आदर्श स्वीकार किया है। प्रेम-भाव की निविड़ता ही उनकी भक्ति-साधना का सार है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—"स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव में अधिक रसोल्लास होता है" अर्थात् उसके विलास-सुख का आस्वादन मधुरतर होता है। व्रज के अतिरिक्त अन्यत्र इसकी अवस्थिति नहीं पाई जाती। व्रज-वधुओं का यह परकीया भाव निरवधि है अर्थात् अनादि काल से विद्यमान है। उन व्रज-वधुओं के मध्य श्री राधा का परकीया प्रेम-भाव चरमसीमा को भी पार कर गया है। श्री राधा का परकीया भावमय प्रेम प्रौढ़ (क्षण मात्र के वियोग का भी असह्य होना), निर्मल (स्वसुख की वासना का एकान्तिक अभाव), तथा सर्वोत्तम है। कृष्ण-प्रेम की माधुरी का पूर्णतः आस्वादन इसी प्रेम-भाव द्वारा किया जा सकता है।"[१६७]

राधावल्लभ सम्प्रदाय—हित हरिवंश द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ सम्प्रदाय अपनी अनेक विलक्षण मान्यताओं और सैद्धान्तिक स्थापनाओं के कारण महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। भगवान् राधावल्लभजी की उपासना तथा उनकी प्रेमा-भक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था तथा भक्तिपक्ष में राधा-वल्लभ की मधुरोपासना था। बिना राधा-माधव की कृपा के भक्तजनों का जीवनोद्धार असम्भव है। मधुरोपासक सर्वप्रथम राधा के चरणों में अनुराग करते हैं। इस अनुराग से कृष्ण प्रसन्न होते हैं तथा अपनी प्रियतमा को प्रिय जानकर उसे कृपापूर्वक आलिंगन, चुम्बन, वनमाला तथा अपना चर्वित ताम्बूल तक प्रदान कर देते हैं। अस्तु साधक राधा को ही अपनी गति मानकर चलते हैं। पं० बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार 'राधा के चरणाविन्द की अनन्य उपासना ही भक्त के जीवन का लक्ष्य है और राधा-कृष्ण के केलिकुंज की खवासी करना, चाकरी करना ही भक्त का प्रधान कार्य है। माधुर्य रस से स्निग्ध यह उपासना

---

१६७. श्री सुबल श्यामजी, चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० १७

विषयी मानव की शक्ति तथा समझ के बाहर की बात है, इसलिए इसका अधिकारी वही हो सकता है जो गोसाईंजी के पवित्र पंथ का पथिक हो।[१६८]

इस सम्प्रदाय में मधुर भक्ति का आस्वादन करने के लिए सखी-भाव को प्रधानता दी गई है। प्रत्येक जीव प्रेम रूपा गोपी है। जीव का निज एवं सनातन स्वरूप प्रभु की प्रकृति या सखी है। इसी सखी भाव से राधा-कृष्ण की रुचि के अनुसार परिचर्या करना तथा उनकी मधुर प्रेम लीलाओं में योगदान देना ही सहचरीगण का पुनीत कर्त्तव्य है।[१६९] स्वय कृष्ण राधा से उनकी सखी बनने की प्रार्थना करते हैं। 'राधासुधानिधि' नामक ग्रन्थ में इसी लिए बार-बार उस अन्तरंग सेवा की अभिलाषा प्रकट की गई है, जिसमें वह राधा-कृष्ण की मधुर केलिरस मंदाकिनी में अवगाहन कर अमृतपान कर सके। गोस्वामी हित-हरिवंश इसी दृष्टि से कभी तो रतिश्रम से थके हुए राधा-माधव के ऊपर पंखा करने की कामना करते हैं, कभी राधा के सीत्कार श्रवण को चाहते हैं, कभी केश-पाश को बाँधने की इच्छा करते हैं, कभी रति से टूटी हुई माला को पिरोने की बात कहने लगते हैं और कभी पुनः उनके नेत्रों में अंजन लगाने की अभिलाषा करते हैं। इस प्रकार के प्रतिक्षण नूतन रहने वाले भाव ही मधुर भक्ति के आनन्द की कामना करते हैं। "निखिल सौन्दर्य-रसामूर्ति श्रीकृष्ण के साथ परमानन्द-रूपिणी, परम-प्रेम-रूपा, स्वतन्त्र परा-शक्ति राधा के विलासजन्य नित्य-विहार-लीलाओं के सखी-भाव से चिन्तन और भावना द्वारा अति दुर्लभ मधुर भक्ति का आस्वादन करना ही राधावल्लभीय रसोपासना का मूलाधार है।"[१७०]

हित हरिवंशजी के अतिरिक्त व्यासजी, ध्रुवदास, अनन्यअली, रसिकदास, चाचाहित, वृन्दावनदास आदि इस सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख कवि हैं। इन राधा-वल्लभीय प्रेमोपासकों ने राधा-कृष्ण की नित्य-विहार लीला की अत्यन्त विलक्षण कल्पना की है। इनकी मधुर प्रेम-लीला, स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर भेद रहित नित्य-विहार-रस से मण्डित है। इसी नित्य-विहार-रस का आस्वादन करना राधावल्लभीय रसोपासना का इष्ट है। राधा-कृष्ण की नित्य-विहारलीला अत्यन्त निगूढ़ एवं रहस्यपूर्ण है। उसी तरह नित्य-विहार-रस के मधुरोपासक राधावल्लभीय रसिक भक्तों की मधुर रस-साधना बड़ी रहस्यमयी है। राधाकृष्ण के मधुर रस-केलि-विलास का चिन्तन और मनन करना ही राधावल्लभ सम्प्रदाय की मधुर-भक्ति भावना का सार है। इसी लिए युगल-

---

१६८. पं० बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० ४२४

१६९. डॉ रामस्वार्थ चौधरी, मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० १४३

१७०. वही

किशोर विलासपूर्ण मधुर रस को सर्वोपरि माना गया है। इसकी सर्वाधिक विलक्षणता यह है कि ललितादिक सखियों द्वारा परिसेवित मधुर भक्ति की पिपासा कभी तृप्त होने का नाम नहीं लेती।[१७१] कोई विरला प्रेम-रस-रसिक ही इस अतिगूढ़ और रहस्यपूर्ण मधुर भक्ति भावना को जान सकता है।

वल्लभ साम्प्रदाय—वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव की ही प्रधानता थी, किन्तु शनैः-शनैः विट्ठलनाथजी के समय तक उसमें मधुर भावना का समावेश हो गया था। विट्ठलनाथजी ने 'शृंगार रस मण्डल' की रचना करके 'कान्ताभाव' की मधुरभक्ति को भलीभाँति अपना लिया, इसका प्रभाव अष्टछाप के कवियों पर भी पड़ा। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ मत में मधुर भाव के सम्बन्ध में लिखा है—'वल्लभाचार्यजी ने पहले माहात्म्य ज्ञानयुक्त वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। तदनन्तर उन्होंने अपने उत्तर जीवनकाल में तथा उनके उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ ने किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं तथा युगल स्वरूप उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।'[१७२]

वल्लभ सम्प्रदाय पुष्टिमार्गी है। इसमें बाल, दाम्पत्य और परकीया कान्तभाव की तीनों भावनाओं का भजन ग्राह्य है। वल्लभाचार्य के लघुग्रन्थों का संग्रह-ग्रन्थ 'बृहत्स्तोत्र-रत्नाहारे, में संकलित 'यमुनाष्टकम्'[१७३] और 'मधुराष्टकम्'[१७४] जैसे संग्रह में भी क्रमशः यमुना- तटवर्ती निकुंज में राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं एवं सर्वाङ्गपूर्ण निखिल मधुरता का अत्यन्त सरस वर्णन उपलब्ध है। अतः यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ तथा बालरूप उपासक वल्लभाचार्यजी ने अपनी भक्ति पद्धति में व्रज-मण्डलीय राधा-कृष्ण की मधुर प्रेम-लीलाओं को समन्वित कर मधुर भक्ति भावना के पथ को आलोकित किया।

---

१७१. सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिन्हि, मिटत न कबहुँ हुलास॥
—डॉ रूपनारायण, ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्यभक्ति, पृ० ३१६

१७२. डॉ० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग २, पृ० ५२७

१७३. वेंकटेश शास्त्री, : बृहत्स्तोत्ररत्नहारे में श्री वल्लभाचार्य का 'यमुनाष्टकम्' पृ० ८८

१७४. स्तोत्ररत्नावली में श्रीवल्लभाचार्य का 'मधुराष्टकम्,' पृ० २३४

वल्लभ सम्प्रदायी भक्त का चरम लक्ष्य है कि भक्त गोपी-भाव से भगवान् के सहवास में अखण्ड आनन्द का लाभ प्राप्त करे। इनकी भक्ति स्वकीया भाव की है पर कहीं-कहीं परकीया भाव का व्यक्तिकरण अल्परूप में है। जहाँ उन्होंने गोपियों के मान और खंडिता भाव को प्रकट किये हैं वहाँ भी उन्होंने गोपियों का स्वकीया रूप ही रखा है। सूरदासजी ने स्पष्टतः राधा का कृष्ण के साथ विवाह-वर्णन किया है। नंददास और कुंभनदासजी ने 'स्याम सगाई' लिखकर राधा के स्वकीयात्व की ओर ही संकेत किया है। गोपियों को वल्लभाचार्य ने आनन्दप्रसारिणी शक्ति श्रुति-रूप समुदायरूपा लक्ष्मी कहा है। राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्धशक्ति हैं। अतएव भक्ति का, जो रूप हमें अष्टछाप में दृष्टिगत होता है, वह किसी भी सम्प्रदाय का प्रत्यक्ष व्यक्तिगत प्रभाव नहीं है। मधुर-भक्ति भावना का समावेश तो आचार्यजी के जीवन के उत्तरकाल तथा श्री विट्ठलनाथजी के आचार्यत्व काल में ही हो गया था। इसलिए अष्टछापी कवियों में मधुर भक्ति अथवा श्रृंगार रस-सम्बन्धी पदों में निम्बार्क, चैतन्य अथवा राधावल्लभीय आदि किसी अन्य सम्प्रदाय की छाप नहीं मिलती।

कृष्ण की रूप-छटा सूर ने कृष्ण के बाल, किशोर, शैशव और यौवनादि अवस्थाओं के रूप लावण्य का वर्णन अत्यन्त आकर्षक एवं सजीव किया है। मुख पर मक्खन, घुटनों के बल चलते हुए कृष्ण की शोभा का चित्रण अत्यन्त मनोहारी है।[१७५] दैहिक रूप चित्रण के अन्तर्गत ज्योति-तरल, दंतावली, लहराती भ्रमर-सी लटें, चपल सुषमाकोश कटाक्ष, काम-धनुष विजयी, वक्र भ्रू-रेखाएँ, उनकी त्रिलकभरी चेष्टाएँ निहित हैं।[१७६] कृष्ण के किशोर और युवक रूप का भी उपमान प्रधान नखशिख-चित्रण सूरसागर में वर्णित है।[१७७] कृष्ण के नयन, दाँत अधर, स्वर, मुस्कान, हाव-भाव, कटाक्ष आदि का पृथक्-पृथक् उल्लेख विशद् रूप में मिलता है। सूर के अतिरिक्त अन्य अनेक भक्त कवियों ने भी कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करने का प्रयास किया है। मीराँबाई[१७८] तथा गोविन्द स्वामी[१७९] द्वारा वर्णित कृष्ण-सौन्दर्य सचमुच अभिराम हैं।

राधा की सुषमा-माधुरी—सौन्दर्य चित्रण की दृष्टि से कृष्णकाव्य अत्यधिक समृद्ध है, रीतिकालीन श्रृंगारकाव्य भी पिछड़ा हुआ विदित होता है। शारीरिक

१७५. सूरसागर, पद ७२२-७२८
१७६. वही, पद ७११, ७१७, ७२१, ७२३
१७७. वही, पद ७६८
१७८. मीराँबाई की शब्दावली, शब्द ६७, पृ० २८-३०
१७९. प्रभुदयाल मीतल, अष्टछाप परिचय, पद १८, पृ० १८२

अवयवों के प्रतिक्रिया स्वरूप दैहिक भंगिमाओं के सौन्दर्य भाव का विविध रूप से पृथक-पृथक् उल्लेख उपलब्ध है। राधा के नयन जादुई, तीक्ष्ण और नुकीले हैं। वह अर्धकटाक्ष से ही कृष्ण को वशीभूत कर लेती हैं। राधा की जादूभरी, मनोमुग्धकारी, जगमग सुषमा और दैहिक सक्रियता को प्रस्तुत करने वाली चेष्टाओं का चित्रण कृष्ण-काव्य में मिलता है। ये चेष्टाएँ ही राधा की रूप, सुषमा, चपलता, मुसकान, भ्रू-भंगिमा, कटाक्षाघात, थिरकन को प्राणवान् तथा मांसल रूप में मूर्त्त करती हैं। राष्ट्रभाषा कोश में नारी के सोलह शृंगारों का उल्लेख है।[१८०] उसके रूप लावण्य को जो अति उत्तेजित करते हैं। अतः कृष्ण के रूप-सौन्दर्य, राधा की सुषमा-माधुरी, राधा-कृष्ण की माधुर्य लीला आदि प्रकरणों में शृंगार और मधुर भक्ति का सांगोपांग वर्णन किया गया है। राधा-कृष्ण की अनन्त सौन्दर्य राशि हैं, जिस दिशा की ओर वे निकल जाते हैं उस ओर रूप-सुषमा, मुस्कान, ज्योति; यौवन-मद, क्रीड़ा-कौतुक, विनोद, चपलता, संगीत, स्वर-प्रवाह, आनन्द, उल्लास, सुख-सिरहन की बाढ़ आ जाती है। राधा-कृष्ण के ज्योत्स्ना पुलकित, रश्मि-रंजित, परिमल-सिंचिता, सुकुमारता स्निग्ध रूप-लावण्य को देखत ही नयन सदैव के लिए उसमें लीन हो जाते हैं।

पूर्वराग—सामाजिक बाधाओं के कारण प्रिय-प्रेयसी का मिलन कठिन है, जिससे दोनों ही काम-वेदना से तड़पने लगते हैं, यही अवस्था पूर्वराग कहलाती है। सूरदास के काव्य में भी काम पीड़ित राधा की दशा की सूचना कृष्ण को दूती आकर देती है—"कृष्ण, शीघ्र चलो तुम्हारी राधा को मदन भुजंग ने डस लिया। वह बेसुध पड़ी है।"[१८१] इसी भाँति राधा के प्रेम में कृष्ण भी बेचैन हैं—"जब से राधा को देखा, उसका नाम सुना तभी से राधा-राधा जप रहे हैं। पल में सचेत, पल में अचेत, सोते-जागते एकमात्र राधा की चर्चा है।[१८२] कृष्ण कभी पनघट पर, कभी दधि बेचते समय, कभी गोचारण के समय गोपियों से भेंट हो जाती है। किशोर कृष्ण पर व्रज की कुमारी गोपिकाओं ने अपना मन वार दिया। वे अनजाने ही उनकी रूपमाधुरी, क्रीड़ामाधुरी और सर्वाधिक मुरली माधुरी तथा उनके गुण पर अपने को निछावर कर देती हैं। अतः प्रिय

---

१८०. अंग शुचि, मज्जन, दिव्य वस्त्र, महावर, केश, माँग, ठोड़ी, माथा, मेंहदी, अरगजा (उबटन) भूषण, सुगन्ध, मुखराग, दंतराग, अधरराग, काजल, सोलह शृंगार। राष्ट्रभाषा कोश, पृ० १४१३

१८१. सूरसागर, पद १३६६

१८२. वही, पद, ११०१

से मिलने की अभिलाषा, लालसा, प्रिय का ध्यान और उसकी याद तथा प्रेम की कसक भरी उमङ्ग का उल्लेख सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों ने किया है।

अभिसार—अभिसार का तात्पर्य है, संकेत-स्थल पर नायक से मिलन। मिलन का प्रयत्न ही अभिसार कहलाता है। प्रियतम से मिलने के लिए नायिका शृंगार करके जाती है। राधा सोलह शृंगार करके अभिसारिका के रूप में अपने प्रियतम कृष्ण से मिलने जाती हैं। दूती नायिका को भलीभाँति सुसज्जित कर उसे अभिसार के लिए प्रेरित करती है और उसे संकेत स्थल तक ले जाती है। राधा के हृदय को जब प्रेम ज्वर आन्दोलित करता है तो बिना किसी पथ-प्रदर्शिका के अकेली ही कृष्ण के पास चल देती हैं। नन्ददास, परमानन्ददास और कुम्भनदास ने सखी या दूती द्वारा विलास सुख पाने की प्रेरणा का सुन्दर चित्रण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मधुरभक्ति भावना से समन्वित कृष्ण कवियों के साहित्यिक योगदान की प्रशस्ति करते हुए उचित ही कहा है—'ये कृष्ण भक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम-माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्य-क्षेत्र में समरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर महान् उपकार है।[१८३] इसी प्रकार अधिकांश मधुरोपासक कृष्ण-भक्तों ने लीला विषयक पदों को विभिन्न राग-रागिनियों में बाँधकर संगीत कला के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उपर्युक्त समस्त विवरणों से पूर्णतः स्पष्ट है कि हिन्दी के सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य में मधुर भक्ति भावना की मंदाकिनी प्रवाहित होती है।

राम भक्ति साहित्य में मधुराभक्ति

उपासना के क्षेत्र में राम और कृष्ण के अवतारों की गणना सर्वसम्पन्न तथा सर्वशक्तिमान के रूप में की जाती है। महाभारतकालीन कृष्णचरित के समान ही राम के शक्ति, शील, सौन्दर्य और ऐश्वर्य-गुण सम्पन्न लोक-रक्षक और लोक-मंगलकारी स्वरूप का परिचय मिलता है! अनेकानेक प्रेरक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण रामचरित में लोक-रक्षक तथा लोकमंगलकारी विधायक-तत्त्वों का तिरोभाव होता गया और बदले में मधुरभावों का समावेश किया गया। राम के इसी माधुर्य-भावभरित स्वरूप को लेकर सोलहवीं शताब्दी के अनन्तर अयोध्या के रामोपासक रसिक-सम्प्रदाय के साधना-साहित्य में मधुर भक्ति-भावना की स्रोतस्विनी बड़े वेग के साथ प्रवाहित होने लगी।[१८४] अतः रामभक्ति में

१८३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० १६१

१८४. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० १७८

मधुर भक्ति-भावना का प्रचलन निस्सन्देह १६वीं शताब्दी के उपरान्त हुआ। पूर्ववर्ती राम-काव्य में वाल्मीकिकृत 'रामायण' रसिकभक्त मधुराचार्य ने 'सुन्दर-मणि सन्दर्भ' ग्रन्थ में वाल्मीकि रामायण के अनेक मधुर प्रसंग व्याख्यान्वित हैं। कालिदासकृत 'रघुवंश', महाकवि भवभूतिकृत 'उत्तर-रामचरित' एवं कुमारदास प्रणीत 'जानकीहरण नामक ग्रन्थों में सीताराम के मधुर दाम्पत्य जीवन का चित्रण उपलब्ध होता है।

सीता-राम की उपासना करने वाले रसिक सम्प्रदायों पर श्रीमद्भागवत की रसमयी पद्धति का प्रभाव पड़ा। 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि कृष्णभक्तिपरक ग्रन्थों की भाँति राम की मधुर भक्ति का आस्वादन कराने वाले 'हनुमत्संहिता', 'शिव-संहिता', 'लोमशसंहिता', 'सत्योपाख्यान' आदि ग्रन्थों की रचना इस सम्प्रदाय में की गई और राम की रसमयी उपासना करने वालों को रसिक माना जाने लगा। राधा-कृष्ण की मधुर-भक्ति की अभिव्यंजना जिस प्रकार हुई ऐसा स्वच्छन्द चित्रण मर्यादा पुरुषोत्तम राम की लीला में न हो सका। डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने उचित ही कहा है कि 'रामोपासना का प्रादुर्भाव दास्य, सेवक-सेव्य भाव से हुआ है तथा 'मर्यादा' ही इसकी मुख्य प्रेरणा एवं आधारशिला रही। परन्तु क्रमशः दास्य-सख्य में, सख्य-वात्सल्य-में और वात्सल्य-माधुर्य में परिणित होता गया और आज लगभग चार सौ वर्षों से राम-भक्ति-शाखा में रामभक्ति की माधुर्यधारा उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही है, आरम्भ में तो गुप्त गोदावरी की भाँति अप्रकट रूप में, परन्तु शनैः-शनैः व्यक्त एवं प्रकट रूप में, हाँ, यह अवश्य स्वीकृत करना होगा कि कृष्ण-भक्ति-शाखा की तरह इसमें 'सखी-भाव' अत्यन्त उन्मुक्त रूप में व्यक्त नहीं हो पाया है।[१८५]

विभिन्न काल-खण्डों—आलवार युग, आचार्य युग, रामावतारयुग—के अन्तर्गत रामभक्ति-काव्य की अति रहस्यपूर्ण मधुर-भक्तिधारा कभी मन्द, कभी क्षिप्र गति से निरन्तर प्रवाहमान रही है। साम्प्रदायिक रूप से रामभक्ति-काव्य की इस मधुर-भावधारा को प्रतिष्ठित करने का श्रेय अग्रदास को है। आगे चलकर नाभादास, बालअली, मधुराचार्य रामसखे प्रभृति पूर्वाचार्यों ने अग्रदास द्वारा प्रवर्तित रसिक भाव-साधना को सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया।

रसिक सम्प्रदाय के इतिहास में उन्नीसवीं सदी का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि रामभक्ति की रसिक-भाव साधना और साहित्य का विकास इसी काल

१८५. भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० ११८

में हुवा तथा साम्प्रदायिक साधना को सुबोध, सुगम एवं सुरम्य बनाया, जिससे सहस्त्रों की संख्या में जिज्ञासु साधक इस रसात्मिका राम-भक्ति की ओर ललक पड़े।......संसारिक प्रपंचों से विरक्त होकर ये दम्पती के दिव्य शृंगार में रस लेते थे और उसे भक्ति की रस-भूमि का प्रसाद समझते थे।[१८६] रसिक सम्प्रदाय के साधना-साहित्य में रसिक-भाव साधना के सिद्धान्तों का निरूपण करना, दम्पतीवर सीताराम की मधुर लीलाओं का गान करना तथा उपास्य-युगल की बिहार लीला के प्रति जनरुचि को उत्प्रेरित करना है। रसिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक अग्रदास (१६वीं सदी का उत्तरार्द्ध) से लक्ष्मीनाथ गुसाइँ (१९वीं सदी) तक लगभग दो सौ ज्ञात रसिक भक्तों ने दम्पतीवर सीताराम की विहार-लीलाओं का बहुविध वर्णन किया है। इन लीलाओं के मधुर प्रसंगों में उपास्य-युगल की रूप-माधुरी, षोडश शृंगार, युगलकेलि, वन-विहार, वसन्त-विहार, जल-विहार, हिंडोला, अष्टयामलीला, अन्तःपुर की विलास-लीला, रस-विलास, प्रेम-विलास, रास-लीला, सखी-भाव तथा संयोग-वियोग पक्ष की बहुविध अन्तर्दशाओं के वर्णन तथा मधुर भक्ति की उत्कृष्ट अभिव्यंजना हुई है।

राम और उनकी चार रूपछटा—लीला विहारी राम के भी दो रूप हैं—प्रथम, रंजनकारी क्रीड़ारत और द्वितीय, काम प्रधान। प्रथम रूप में, राम की एकान्तिक क्रीड़ाओं का अभाव है। अतः राम सखाओं तथा सीता के साथ रास रचते, नृत्य करते,[१८७] जल विहार करते तथा सबके साथ रंग-गुलाल खेलते हैं।[१८८] द्वितीय रूप में, सीता के साथ केलिक्रीड़ा उनका अमर्यादित उत्तेजित, कामाकुल और क्रियाशील रूप निःसंकोच रूप से निरूपित है। राम रातभर विलास करते नहीं अघाते, अन्त में सीता कहती हैं कि अब तो सोने दो।[१८९] कितना स्वाभाविक वर्णन है।

राम, भक्त के आलम्बन हैं, कामिनियों में उन्माद जगाने वाले हैं। इसी लिए उनके सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यंजना रसिक साहित्य का एक बड़ा

१८६. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १३८

१८७. भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० २२२, २४७

१८८. वही, पृ० २५५; ३२५, ३५३

१८९. वही, पृ० २२४

स्रोत है। यहाँ तक कि जनकपुरी की कुमारियाँ राम चारु छवि पर मोहित हो जाती हैं, उनके सांसारिक सभी भोग-विलास छूट जाते हैं, जिससे सारी मिथिला-नगरी में प्रलय मच जाती है।

सीता की सुषमा माधुरी —क्या दैहिक और क्या आन्तरिक दोनों ही सौन्दर्य की माधुरी भगवती सीता हैं। सीता के बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य का जो चित्रण तुलसी ने किया है, इसका प्रभाव रसिक साधकों पर नहीं पड़ा। रसिक भक्तों द्वारा सीता का सौन्दर्य चित्रण अधिकांशतः परम्परागत है, रीतिकालीन काव्य से प्रभावित प्रतीत होता है। अग्रदास, रामचरण आदि कवियों ने सीता का नख-शिख वर्णन दोहों में तथा श्री सीता रामशरण, रामरस रंगमणि ने सवैयों में किया है।

सीता का माधुर्य स्वरूप उपर्युक्त भक्तों द्वारा मान्य है। सीता राम की भोग्या आह्लादिनी शक्ति हैं। वह राम की तृष्णा और तृप्ति भी हैं। जीवन की वे क्रीड़ाएँ जो आनन्द, उल्लास, विलास, शृंगार विषयक हैं उनका चित्रण इन्होंने अधिकांशतः किया है। सीता राम के साथ होली खेलने में भी अत्यन्त उत्साही हैं। फाग के अवसर पर सीता राम के कपोलों पर गुलाल मलती हैं और रंग से सराबोर कर देती हैं। फाग के अवसर पर नृत्यगान और वाद्य की झंकारों से सरयूतट या प्रमदवन मुखरित रहता है।[१९०] वन विहार, रास[१९१] नृत्य[१९२] जल विहार[१९३] आदि के मनोहर मुग्धकारी और जनमनरंजक प्रसंगों में सीता ही मुख्य आलम्बन हैं। राम से अधिक सीता को उसी भाँति महत्त्व दिया गया है जैसे राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधा को।

सीता-राम की माधुर्य-लीला—सीता-राम युगल माधुर्य लीला में केलि-विलस, अष्टयाम, नृत्य-गान, फाग, रास, झूला आदि का चित्रण है। सीता-राम की सक्रिय गति रतिक्रीड़ा 'प्रिय हँसि रस कंचुकि खोले' और 'नीवी करषत बरजत प्यारी' का वर्णन खुलकर किया है। शिव की शक्ति या कृष्ण की राधा के समान राम की आह्लादिनी शक्ति सीता स्वयं भी केलि-विलास के लिए सक्रिय होती हैं।

बहुरमणी विलास में राम के दो रूप हैं: प्रथम, परिणीता पत्नियों के साथ विहार एवं द्वितीय उन रमणियों के साथ विहार जिनसे राम का विवाह नहीं हुआ।

---

१९०. भुवनेश्वर मिश्र 'माधव,' राम साहित्य में मधुरोपासना, पृ० ३७६-३७७

१९१. वही, पृ० २४४–२४५

१९२. वही, पृ० २५८

१९३. वही, पृ० २४७

एकान्तिक विलास में भक्त राम से प्रत्यक्षतः प्रेमिका या पत्नी का सम्बन्ध मान कर मिलन विरह की अनुभूति करता है। भक्त न सखी रूप में स्वतः को व्यक्त करता है, न द्रष्टा रूप में सीता की अनुभूति को अपनी मान उसमें लीन होता है, न सपत्नी रूप में ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है, बल्कि उसकी नारी रूप आत्मा भाव-विह्वल, कामकातर, रसतृषित एवं आकुल हो प्रियतम के अप्रतिम यौवन, लोक दुर्लभ अलौकिक सौन्दर्य, शील-सुषमा, सुकुमारता पर मुग्ध हो जाती है। रसिक साहित्य में विरह पक्ष का चित्रण नहीं मिलता। उनकी मान्यता है कि सीता-राम नित्य मिलन क्रीड़ा लीन हैं। नित्य-विहार, झूलना फाग खेलना, दान-लीला, संभोग लीला, आदि ही रसिक सम्प्रदाय या मधुर-भक्ति साहित्य में उपलब्ध है। इस प्रकार रसिक परम्परा का सम्पूर्ण काव्य-साहित्य कृष्णकाव्य का अनुकरण ही है।

संत-साहित्य में मधुर भक्ति की व्याप्ति

निर्गुण तथा सगुण भक्ति-काव्य में मधुर-भक्ति की भावना का विवेचन करने के पश्चात् संत-साहित्य में मधुरा-भक्ति को जानना भी अति अवश्यम्भावी है।

मधुराभक्ति की धारा पुराणों, वेदों, भागवद् से होती हुई सन्त-काव्य में भी आई। मधुराभक्ति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। परमतत्व ईश्वर कभी 'सत्-गुरु', कभी 'स्वामी', कभी 'भरतार', कभी 'सखा' और कभी 'जननी' के रूप में स्वीकृत किया गया है। उपासक 'चेला', 'बहुरिया', 'साथी' अथवा 'बालक' की दृष्टि से परिवर्तित होता चला जाता है। पति-पत्नी का प्रगाढ़ प्रेम ही मधुरो-पासना का मूल उत्स है। परशुराम चतुर्वेदी के कथनानुसार 'दो अभिन्न हृदय मित्र वा पति-पत्नी की भाँति, जीवात्मा और परमात्मा समरसानन्द के अमृत का पान करते हैं।[१९४] अतः पति-पत्नी के विशुद्ध प्रेम में न कुछ अन्दर का ज्ञान रहता है और न बाह्य का, इसी लिए सन्तों ने आत्मा को स्त्री तथा परमात्मा को पति मानकर विशुद्ध प्रेम द्वारा मधुराभक्ति भावना की व्यंजना की है। यह मधुराभक्ति माँ की बालक के प्रति, सखा की सखा तथा सखी के प्रति, पति की पत्नी के प्रति द्रष्टव्य है। अतः यह प्रत्येक प्राणी में किसी-न-किसी रूप में व्याप्त है।

---

१९४. "भक्त्यर्थम् कल्पितं द्वैतमद्वैतादपिसुन्दरम् ॥
जातं समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योजीवात्मपरमात्मनो : ॥"
—उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ० ८४

निष्कर्ष— मधुराभक्ति जैनों, बौद्धों, सिद्धों तथा सूफियों में लक्षित होती है, जिसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी-सन्तों पर भी है। जिसमें कबीर, नानक, दादू, रैदास प्रमुख हैं। कबीर ने अपने 'राजाराम' को भरतार माना है।[१९५] अपनी साधना को भी 'प्रेम भगति' का ही नाम दिया। अपने 'प्रियतम' के प्रति पत्नी (आत्मा) पूर्ण आत्मसमर्पण कर देने को तैयार है, क्योंकि मेरा तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ तो प्रभु का है।[१९६] संत दादू ने भी अपना 'कन्त' कबीर के सदृश ही माना है।[१९७] रैदास, पीपा आदि समस्त सन्तों पर सूफी-काव्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है, क्योंकि इनका प्रेम तत्त्व बिल्कुल सूफियों जैसा है। दादू, दरिया साहब तो सूफी ही जान पड़ते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही कहा है 'भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफी मत से ही आयी ज्ञात होती है।[१९८] इस प्रकार सूफी मधुराभक्ति का अधिकांश प्रभाव संत-काव्य में परिलक्षित होता है। इस प्रकार से निर्गुण-सगुण दोनों ही संत-काव्य में मधुर भावना दृष्टिगोचर होती है।

———

१९५. डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, पद ५, पृ० ५

१९६. मेरा मुझ में किछु नहीं, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझकों सौंपता, क्या लागै मेरा ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, सखी २, पृ० १६१

१९७. जैथा कन्त कबीर का सोई वर वरिहूं।
मनसा वाचा कर्मना, मैं और न करिहूँ ॥
—दादू दयाल की वाणी, 'पिय पिछाण कौ अंग', पद ३४, पृ० २७९

१९८. डॉ० रामकुमार वर्मा—अनुशीलन, पृ० १०१.

५

सन्त-काव्य में मधुर भावना

[स]न्तों की सुरति-निरति कल्पना और माधुर्यभाव

सन्तों ने सुरति-निरति विषयक कल्पना इन्हीं नाथ-पंथी हठयोगियों के शब्द [स]ुरति योग से ग्रहण की है। किन्तु इसका अर्थ उन्होंने सर्वथा भिन्नतः लिया है। [स]न्तों की सुरति वस्तुतः प्रेमास्पद को भावाकुलता के साथ स्मरण करने की [त]ीव्रतम भावना का प्रतीक है। सिद्धों ने इसका प्रयोग निस्सन्देह 'प्रेम-क्रीड़ा' के [अ]र्थ में किया है। सरहपा ने इसे कमल-कुलिश योग के अर्थ में मैथुनक्रीड़ा का [प]र्याय माना है।[1] काण्हपा उसी को सुरत-वीर मानते हैं।[2] नाथ सम्प्रदाय में [इ]सका तात्पर्य परिवर्तित हो गया। सिद्धों के मैथुनपरक अभिप्राय का बहिष्कार [क]र नाद परक अर्थ प्रचलित किया गया[3] एव साधना में प्रवृत्त मन को सदा [स]ुरति में लगाये रखने का उपदेश दिया गया। नाथ-साधना का एक बहुत पुराना [न]ाम शब्द-सुरति योग भी बताया जाता है। 'गोरखबानी' में एक स्थल पर गोरख-[म]छीन्द्र संवाद में वर्णित है कि सुरति-शब्द वह अवस्था है, जब वह चित्त में [स्]थित रहता है, शब्द अनहद नाद है एवं ब्रह्मांडव्यापी है। निरति इन दोनों से [प]रे निरालम्ब की स्थिति है, जिसे सहज स्थिति कह सकते हैं।[4] डॉ० सम्पूर्णा-[न]न्द के अनुसार सुरत या सुरति 'स्रोत' शब्द का अपभ्रंश है। दर्शन ग्रन्थों में [स्र]ोत का अर्थ है—'चित्तवृत्तप्रवाह' अतः सुरत शब्द-योग वह पद्धति है, जिसमें [श]ब्द की धारणा की जाती है, अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय [क]िया जाता है। शब्द का किसी बाह्य मन्त्र से तात्पर्य नहीं है। शरीर के भीतर

---

१. कमल कुलिश बेवि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ विलास।
—सरहपाद, दोहा-कोश, पृ० ६८

२. डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, सन्त-साहित्य, पृ० १६०

३. सुरति समांनीं निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समांनां अलेख मैं, यौं आपा माहैं आप॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रंथावली, साखी १०, पृ० १६८

४. अबधू सबद अनाहद सुरति सोचंति।
निरति निरालम्भ लागै बंध दुबध्या मेटि सहज मैं रहै।
ऐसा विचार मछिंद्र कहै॥
—डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, 'गोरखबानी', पृ० १६६

और शरीर के बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहद कहते हैं और जो बिना किसी प्रकार का आघात किये हुए उत्पन्न हो। सन्तों ने इसे अनहद कहा है। गुरूपदिष्ट मार्ग से अभ्यास करने से इस ध्वनि की डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिका को पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधि पद में सहज ही लीन हो जाती है।[५]

सुरति-निरति शब्द सन्त-साहित्य का अति परिचित और पग-पग पर प्रयुक्त होने वाला शब्द है। हिन्दी के विद्वानों ने 'सुरति' शब्द को लेकर अपने विभिन्न मत रखे हैं। कोई 'सुरति' को 'स्मृति' कहता है, और संस्कृत के स्मृति शब्द का ध्वनि परिवर्तित रूप बतलाता है। संस्कृत में स्मृति का तात्पर्य होता है—पुरानी बातों, वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों या स्थितियों की याद, इस अर्थ में इसका प्रयोग सन्त-साहित्य में उपलब्ध है।[६] स्मरण शक्ति या याद के अर्थ में दादू ने भी इसका प्रयोग किया है।[७]

संस्कृत श्रुति शब्द भी घिसकर सुरति शब्द बन जाता है, जो श्रवण विषय या श्रवण-शक्ति का अभिप्राय प्रकट करता है, जिसका प्रयोग सन्त-काव्य में हुआ है।[८] श्रवण विषयक अर्थ दादू की एक साखी में संरक्षित है।[९] स्मृति शास्त्र के अर्थ में भी इसका बहुल प्रयोग हुआ है। अर्थ निकालने के लिए सन्तों ने इसे सुस्मित या सिस्मित बना दिया है,[१०] तो कोई इसे सु+रति अर्थात् सुन्दर प्रेम कहता है। सामान्य स्त्री-पुरुष की जड़ोन्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओं

---

५. 'सन्त मत में साधना', 'कल्याण साधनांक' खंड। अगस्त १९४०, पृ ३८०-३८१.

६. नर के संगि सुवा हरि बोलै, हरि परताप न जांनै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं बहुरि सुरति नहिं आंनै ॥
—डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद १७६, पृ॰ १०५.

७. (दादू) हूँ बलिहारी सुरत की, सब की करै सँभाल।
—दादू साहब की वाणी, भाग १, पृ॰ १८७.

८. ऐसा कोई न मिलै समझै सैंन सुजांन।
ढोल बजन्ता न सुनैं, सुरति बिहूँनां कांन ॥
—डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी ४, पृ॰ १५९.

९. सब घट स्रवना सुरति सौं, सब घट रसना बैन।
सब घट नैना ह्वै रहे, दादू बिरहा ऐन ॥ (१३५)
—दादू दयाल की बाणी, भाग १, पृ॰ ४३.

१०. डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली', पद १६८, पृ॰ ९८

एवं आकर्षणों से उत्थित प्रेमानुभूति रति है, तथा सत्-चित् आनन्द रूप परमप्रिय के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवं जड़ोन्मुख रति से विशिष्ट होने के कारण 'सुरति' है, जिससे प्रिया अपने प्रभु-प्रेम में तन-मन निछावर कर देती है।[११] एक प्रभु ही ऐसे हैं जो अपने भक्त का ध्यान रखते एवं चिन्ता करते हैं।[१२]

सुरति सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यताओं से यह प्रकट है कि उनमें कोई भी वैचारिक साम्य नहीं है, किन्तु साधना की दृष्टि से सभी मान्यताएं एक ही मूल को पकड़ती हुई दिखाई देती हैं। शब्द की निरन्तर स्मृति अथवा 'सुरति' 'श्रुति' अर्थात् शब्द का निरन्तर सुनना अथवा शब्द के प्रति प्रेम आदि, ये सभी सुरति सम्बन्धी व्याख्याएँ मूलतः एक ही भाव की द्योतक हैं।[१३] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार 'साधारणतः रति' प्रवृत्ति को कहते हैं। निरति बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति को और 'सुरति' अन्तर्मुखीवृत्ति को कहते हैं। निरति वस्तुतः अभावात्मक वस्तु है और सुरति भावात्मक। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम और निरति का अभिप्राय वैराग्य किया है। इस सम्बन्ध में 'सुरति' को अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं—'जब बाह्य-मुखीवृति अन्तर्मुखीवृत्ति में लीन होती है तो जीव को जीव और ब्रह्म के अभेद की प्रतीति होती है। कबीर-पन्थी लोग इसको अन्तिम अवस्था नहीं मानते, क्योंकि यह भी भ्रम है, जब निरति अभेद प्रतीत रूपी अहंभाव से मुक्त हो कर शब्द में लीन होती है तभी जीव अपने सच्चे रूप में स्थित होता है।' सुरति सूक्ष्म है और निरति स्थूल। सांसारिक जगत् इसी ताने-बाने से बुना हुआ है। सुरति-निरति शब्द हमारी समझ से मूलतः एक ही हैं, केवल कहने की सुविधा के लिए उनका विविध नामकरण हुआ है।[१४] क्योंकि इस नामकरण से ही यह सिद्ध होता है कि अभेद एक होते हुए भी शब्द की तीन अवस्थाएं हैं। 'सुरति' 'निरति' में प्रविष्ट हो गयी और 'निरति' निराधार। इस प्रकार सुरति-निरति का सम्मिलन होने पर ही 'स्वयम्भू' अथवा शिव

---

११. सुन्दरि सुरति सिंगार करि, सनमुख परसे पीव।
मो मन्दिर मोहन आविया, वारूं तन मन जीव॥ (१६७)
—दादू दयाल की वाणी, भाग २, पृ० ७०

१२. दरमांदा ठाढो दरबारि।
तुम बिन सुरति करै को मेरी, दरसन दीजै खोलि किंवारी॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली', पद ४५, पृ० २६

१३. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० २४३

१४. डॉ० प्रताप सिंह चौहान, 'कबीर साधना और साहित्य', पृ० १६०

का द्वार सहस्रार-चक्र उद्घाटित होता है।[१५] यह संतों और कबीर के अनुसार परमपद है। सुरति के पश्चात् ही निरति की अवस्था आती है। सन्त-साहित्य में इन दोनों शब्दों का प्रयोग इसी अनुक्रम का प्रतिष्ठापन करता है।

सुरति को चाहे असाधारण दृष्टि के रूप में स्वीकार न किया जाए, किन्तु निरति में 'नि' उपसर्ग निषेधवाचक होने के कारण निर्विकल्प अथवा शून्य स्थिति का द्योतक अवश्य है। सन्त तुलसी साहब ने एक अन्य स्थल पर सुरति और शब्द के महामिलन की अत्यन्त मधुर उद्भावना की है।[१६] धर्मदास के कथनानुसार वही प्रियतम को पहचानता है, जो सुरति-निरति के अतिरिक्त अन्य किसी भी राह में नहीं चलता।[१७] पलटू साहब के अनुसार यदि प्रियतम को देखने की अभिलाषा है तो समस्त सांसारिक बाह्य कर्मकाण्डों का परित्याग कर सुरति की डोर बाँध कर शब्द में लीन हो जाए।[१८] साजन को देखने के पश्चात् योगी लोग सुरति-निरति द्वारा ही आत्मा-परमात्मा का मिलन करते हैं। उन्होंने एक अन्य स्थल पर सुरति और शब्द के महामिलन की अत्यन्त मधुर उद्भावना की है। उसके अनुसार सुरति सुहागिन है और शब्द उसका कान्त। सुरति रूपी शक्ति जब शब्द रूपी कान्त को अपने वश में कर लेती है तब शिव का कोई वश नहीं चलता। पुनः जब शक्ति शिव में मिल जाती है तब उसका भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, अतः दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं।[१९] सुरति-निरति जब आपस में मिल जाते हैं तब उसे योग मिलन की संज्ञा देते हैं। इससे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जिससे अलौकिक रूप के दर्शन होते हैं। जीवात्मा जब परमात्मा में मिल जाती है तो वह भगवानमय हो जाती है, अतः

---

१५. सुरति समांणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयंभुदुवार॥
—डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली', साखी २४, पृ॰ १७०

१६. तुलसी साहब (हाथरस वाले), रत्नसागर, पृ॰ ८५

१७. धर्मदास की शब्दावली, पृ॰ ४१

१८. पलटू साहब की बानी (भाग २), पृ॰ ८७

१९. सुरति सुहागिन उलटी के मिली सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कान्त को बसि में कीन्हा॥
चलौ न सिव कै जोर जाय जब सत्ती लीन्हा।
पलटू सत्ती सीव का भेद गया अलगाय॥
सुरति सुहागिन उलटि के मिली सबद में जाय।
—पलटू साहब की बाणी, भाग १, पृ॰ १०१

सन्तों की सुरति-निरति भावना तथा शब्द-सुरति योग के ऊपर योगमार्ग के साथ-साथ भक्ति-भावधारा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।[२०]

सन्तों द्वारा निरूपित सुरति-निरति मिलन और शब्द-सुरति योग के अन्तर्गत मधुर रस के साधनात्मक और भावात्मक दोनों रूपों की सफल अभिव्यंजना हुई है।

सन्तों की सहज-भाव-भक्ति मधुर-रस के सन्दर्भ में

सहज शब्द की व्युत्पत्ति 'सह जायते इति सहजः' के आधार पर की जाती है। यह जन्म के साथ उत्पन्न होता है और नैसर्गिक रूप में रहता है, उसी को 'सहज' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि 'सहज' की न तो कोई व्याख्या की जा सकती है और न इसे शब्दों द्वारा व्यक्त ही किया जा सकता है। यह स्वसंवेद्य अथवा केवल अपने आप ही अनुभवगम्य है। जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में हमारा प्रवेश हो, तभी हमें स्वानुभव से ज्ञात हो सकता है कि वस्तुतः हमारे भीतर ही ब्रह्म की सत्ता है। इसी को निर्गुण सन्त सहज ज्ञान कहते हैं।[२१]

सहज शब्द का प्रयोग अति प्राचीन है। उपनिषदों में इसे ब्रह्म कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म वाणी और मन से अतीत है ठीक उसी प्रकार सहजयानी सिद्धों ने सहज को वाणी और मन से अतीत कहा है। नाथ योगियों ने पुरुष-तत्त्व और स्त्रीतत्व के समागम या शिवशक्ति के सामरस्य को ही सहज कहा है। शिव और शक्ति, नाद और बिन्दु, सूर्य और चन्द्रमा, कुण्डलिनी और परमशिव के सामरस्य को पवन-निरोध द्वारा इन्द्रियों को वश में करने से यह सम्भव है। नाथों ने इस सामरस्य साधना को ही सहज साधना या सहज समाधि कहा है। गोरखनाथ इसी को सहज का व्यापार कहकर सम्बोधित करते हैं। सन्त साहित्य में 'सहज' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों तथा रूपों में मिलता है।[२२] सन्त-साहित्य का सम्पूर्ण काव्य इसी एक शब्द में समाहित है। सन्त किसी भी व्यक्ति, वस्तु, विचार, साधना-पद्धति और अवस्था की उत्कृष्टता इसी से मापते हैं कि

---

२०. भीखा साहब की शब्दावली, शब्द ११, पृ० ८१

२१. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० १४८

२२. सहज, सहजि, सहजैं, सहजु, सहज साधना, सहज सुख, सहज-समाधि, सहज-स्वभाव, सहज-सुन्न, सहज-निरंजन, सहज-स्वरूप, सहज-सुन्दरी, सहज-सिद्धि, सहज-भाई, सहज-रहनी, सहजानन्द आदि।

—डॉ० राजदेव सिंह, 'संतों की सहज-साधना', पृ० ७१

वह कितनी मात्रा में सहज है। यह सहज साधना जितनी ही सहज होगी उतनी ही जनप्रिय तथा बोधगम्य होगी जो सभी प्राणियों के लिए उपादेय है। सहज साधना में साधक को अपने अन्तः में सहज-स्वरूप ब्रह्म के दर्शन प्राप्त होते हैं, जिससे वह आत्मविभोर और मन्त्रमुग्ध हो जाता है। इस साधना में ध्यान, धारणा आदि निःसार हैं।[२३] योगयुक्ति का लेशमात्र भी स्थान नहीं है। समस्त बाह्याडम्बर का परित्याग कर साधक उसी 'सहज पुरुष' में लीन हो जाता है।

सहज ब्रह्म की साधना भी सहज ही होनी चाहिए, इसी लिए कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास आदि समस्त सन्तों ने गृहस्थी के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सहज साधना और इस सत्यपथ का सन्देश जनता को सुनाया। सहजावस्था भी कबीरदास के मत से वह है जहाँ भक्त सहज ही भगवान् को पा सकता है। सहज भाव से एकाकार होकर राम से मिल जाता है।[२४] सहज भी ऐसा नहीं, परम प्रेमाश्रय भगवान् से सहज ही मिल रहना सहज है। रैदास के मतानुसार ईश-पूजन के लिए फूल-पत्ती अनावश्यक है।[२५] क्योंकि इस पूजा के फूल कहाँ चढ़ाये जाएँ, अनुपम ईश्वर के लिए अनूप फूलों की आवश्यकता है, जो असम्भव है। मन ही पूजा है, उसी मन में सहज भाव से भक्ति करके सहज स्वरूप के दर्शन किए जा सकते हैं।[२६] अतः सन्त रैदास ने सहज-भाव-भक्ति या मानसिक पूजा को प्रश्रय दिया है। इस सहज-भक्ति में सिद्धों एवं नाथों की विविध वीभत्स गुह्य साधना तथा जटिल यौगिक क्रियाओं का निषेध है।

कबीरदास तो अपनी सहज समाधि को श्रेष्ठ कहते हैं। सतगुरु का यह प्रताप ही कहना चाहिये। जिस दिन से यह अवस्था जागृत हुई, दिनोंदिन समाधिगत शान्ति बढ़ती ही गई।[२७] सन्त दादू के विचारानुसार रोम-रोम में

---

२३. 'सन्त दर्शन', पृ० ५५-५६

२४. सहजें सहजें सब गए, सुतबित कांमिनि कांम।
एकमेक होइ मिलि रहा, दास कबीर रांम ॥

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ ॥

—डॉ० पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली', साखी ३,२,
पृ० २४२

२५. तोडूं न पाती, पूजूं न देवा, सहज समाधि करूँ हरि सेवा।
—वियोगी हरि, 'संत वाणी', रैदास, पृ० १३२, १३३

२६. वही, रैदास, पृ० १३६

२७. साधो सहज समाधि भली, गुरु-प्रताप जा दिन सों जागी, दिन-दिन अधिक चली।
—वही, कबीर, पृ० १३४, १३५

ईश्वर का निवास है, सहज में ही उसका स्मरण होता है।[२८] जिसने सहज रूपी रस का पान किया है, उसे अन्य सभी रस फीके लगते हैं। शिवसनकादिक भी इस रस का पान करते हुए थकते नहीं हैं।[२९]

सन्त मूलतः ज्ञानमार्गी थे, इस पथ पर चलना साधारण मनुष्यों के लिए अत्यन्त ही दुःसाध्य था, अतः सन्तों ने ज्ञान के साथ भक्ति को महत्व दिया। ज्ञान पुरुष है तो भक्ति नारी।[३०] जिस प्रकार पत्नी अपने पति को तन-मन देकर एकाकार हो जाती है उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान दोनों मिलकर समरस हो जाते हैं।[३१] भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति अति ही अनिवार्य है। भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ है, जैसे पल्लव विहीन तरुवर, कमल विहीन सरोवर, बाती विहीन दीप, मणि विहीन सेज, अतः भक्ति की अनिवार्यता जीवन में असंदिग्ध है।[३२] सेवादास ने भी सहज साधना को महत्व दिया है। इनकी 'सहज-साधना' न केवल ज्ञान, ध्यान, भक्ति तत्त्व में ही व्याप्त है, करणी और कथनी अर्थात् कर्म में भी परिव्याप्त है और इनके सहजमार्ग में 'अल्प संतोष की' प्रवृत्ति का महत्त्व भी असाधारण है।[३३] इसी अल्पसंतुष्टता की प्रवृत्ति के कारण कबीर ने भी कहा है कि प्रभु मुझे उतना ही दें जिसमें परिवार का भरण-पोषण हो जाए तथा मैं भी भूखा न रहूँ न साधु ही भूखा जाए। पलटू साहब के विचार में भक्ति के अतिरिक्त सारी बातें मिथ्या हैं। सन्तों ने भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित तो किया है, पर जैसा पीछे कहा जा चुका है कि उन्होंने शास्त्र-सम्मत एवं विधि-विहित स्थूलोपासना के स्थान पर सहज भाव भक्ति या मानसिक पूजा को प्रश्रय दिया।[३४]

---

२८. दादू दयाल की बाणी, भाग १, पृ० ६३-६४

२९. बोलौं भाई राम की दुहाई

इहि रस सिव सनकादिक माते पीवत अजहु न अघाई।

× × ×

सहज सुन्नि में जिस रस चाख्या सतगुरु पै सुधि पाई।

दास कबीर इहि रस भाता कबहूँ उछकि न जाई।।

—श्याम सुन्दर दास 'कबीर ग्रन्थावली', पद ७४

३०. 'सम्पा० डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, दरिया ग्रन्थावली', पृ० ५९

३१. वही 'ग्यान मूल' पृ० ४०७

३२. डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० ३६

३३. डॉ० एस० एच० मोरे, सेवादास निरंजनी व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० ३५४

३४. 'पलटू साहब की बानी', भाग १, कुण्डलिया १६

गुरु-ग्रन्थ दर्शन में सिक्ख गुरुओं के अनुसार सहजावस्था, मोक्षपद, जीवन्मुक्ति अवस्था, चतुर्थ पद, तुरीय पद, तुरियावस्था, निर्वाण पद, तत्त्वविज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, राजयोग आदि सब लगभग एक ही हैं। इनके नामों में विभेद है, पर इन सबके भीतर की अनुभूति अथवा आन्तरिक स्थिति एक है। सहजावस्था दशमद्वार की वस्तु है, इस अवस्था में पहुँचकर साधक त्रिगुणातीत हो जाता है। तीन गुणों के प्रपञ्चों में जब तक साधक रहेगा तब तक यह अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती। इस अवस्था में न तो नींद है, न भूख। यहाँ भगवान् के नामामृत का निरन्तर वास रहता है। आनन्द का ही निवास रहता है। यह वह अवस्था है जहाँ न सुख है न दुःख। आत्मानन्द अथवा निजानन्द की यह अवस्था स्वयं अपने ही में प्रतिष्ठित है। यह स्वसंवेद्य है। यह मन, वाणी, बुद्धि, चित्त, अहंकार के परे वस्तु है।[३५]

नानक वाणी में योगी को उपदेश देते हुए वर्णित है कि योगी सहजावस्था का लंगोटा बाँध, जिससे, तू सांसारिक बंधनों से छूट जाए। गुरु के शब्द द्वारा काम, क्रोध लुटा दे। गुरु की शरण में होकर हरी को मन में बसाना यही तेरी मुद्रा हो। हे नानक राम की भक्ति से ही भक्तगण तरते हैं।[३६] सहज भाव से ही प्रभु का गुणगान करना चाहिए। अतः गुरु उपदेश देते हैं कि हे युवती बाले! तू कहीं न आ और न जा बल्कि अपने प्रियतम के संग ही रह कर उनकी दासी बन जा। क्योंकि प्रभु की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।[३७] नागार्जुन की एक सबदी में अहङ्कार-विसर्जन, सद्गुरु की शरण, योगयुक्ति और उन्मनी साधना से जिस ज्योति का मेल या प्राप्ति सम्भव है उसे ही सहज बताया गया है।[३८] अतः सन्तों ने सहज भाव-भक्ति को महत्त्व दिया है। यह भाव-भक्ति अकथनीय है, यह अनुभवगम्य साधना है, जिसके लिए सद्गुरु की कृपा अपेक्षित है। हम कह सकते हैं कि सुरति, निरति, सहज समाधि क्रियात्मक साधना से सम्बन्धित हैं। इसका

---

३५. 'श्री गुरुग्रन्थ साहिब', महला ३, पृ० १४१४

३६. सहज जगोटा बंधन ते छूटा, कामु क्रोधु गुरु सबदी लूटा।
मन महि मुद्रा हरि गुर सरणा, नानक राम भगति जन तरणा ॥
—डॉ० जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० ५००

३७. डॉ० जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० ४८७

३८. आपा मेटिला सतगुरु थापिला।
न करिबा जोग जुगुति का हेला ॥
उनमन डोरी जब खैंचीला।
तब सहज जोति का मेला ॥
सम्पा०—हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'नाथ सिद्धों की बानियाँ', पृ० ६७

सम्पूर्ण रहस्य तो अनुभव के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। इसकी समग्र जानकारी साधक के ही वश की बात है। अनुभुति के धरातल की वस्तु बौद्धिक स्वर पर स्पष्ट करना अत्यधिक दुष्कर है।

भाव-भक्ति का सर्वोत्तम रूप : प्रेम लक्षणा भक्ति

सन्तों के काव्य में परमसत्ता के प्रति गहन अनुराग एवं भक्ति की पावन भावना की सबल अभिव्यक्ति हुई है। यह अनुराग अमर-भाव है। इस मदिरा का कभी भी नशा नहीं उतरता। यह तो वह रस है, जिसे पीने के लिए देवता भी तरसते हैं। इमेनुअल स्वीडेन बर्ग के शब्दों में समस्त उत्तमता का स्रोत प्रेम है और समस्त सत्य का स्रोत ज्ञान है। प्रभु समस्त प्रेम और समस्त ज्ञान है।[३९] इस प्रेम-भाव को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपनी काम-भावना को विस्तृत करके समाप्त करना होता है, तभी उदात्त एवं आह्लादकारी प्रेम-पुष्प का विकास होता है।[४०] यदि प्रेम की दृष्टि से विचार किया जाए तो भी प्रिय और प्रेमी का मिलन होता है एक का दूसरे में विलय नहीं। सम्पूर्ण प्रेम का सार ही दो सत्ताओं का मिलन है।[४१] प्रिय दर्शन के पश्चात् संसार से साधक का कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह जाता है।[४२] अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की स्वप्न में भी कामना नहीं करता है।[४३] जिन्होंने इस प्रेम-प्याला का पान नहीं किया उनका जीवन व्यर्थ है।[४४] इस प्रेम रस को पीते हुए कबीर, नामदेव, पीपा, रैदास, दादू आदि समस्त सन्त थकते नहीं।[४५] इस रस के समकक्ष संसार की समस्त ऋद्धि-सिद्धि व्यर्थ हैं।[४६] क्योंकि इसके पान से भूख नहीं लगती, रात्रि में नींद नहीं आती, सदैव अश्रुधारा ही प्रवाहित होती रहती है। इस प्रेम-भक्ति को

३९. दि डिवाइन लव ऐंड विजडम, पृ० ३५

४०. हेवलक एलिस साइकोलॉजी ऑफ सेक्स (वाल्यूम ५) पृ० १३३

४१. दि डिवाइन लव ऐंड विजडम, पृ० १९

४२. जा दिन ते री को मुख देख्यो, ता दिन ते ममता मत भूली।
—सन्त रोहल की बानी, पृ० ३८

४३. मेरा मुझ मे किछु नहीं, जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागै मेरा ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली' साखी २, पृ० १६१

४४. मलूकदास जी की वाणी, पृ० ८०

४५. सन्त बानी संग्रह, भाग २, पृ० २५

४६. दादू दयाल, साखी ७७, पृ० १०५

कोई विरला ही जानता है।[४७] प्रेम द्वारा प्रियतम की प्राप्ति सिर सौंपने पर ही सम्भव है।[४८] जिसके हृदय में प्रेम का अंश है, उस हृदय में कलुषता का निवास आंशिक रूप से भी प्राप्त होना असम्भव है।[४९] यह प्रेम अनन्य भावना का समर्थक है। प्रियतम-प्रेमी अपने सिर को उतारकर उसके सम्मुख रख दे, क्योंकि जब तक मस्तक को सौंप न दिया जाए तब तक सच्चा प्रेम नहीं हो सकता है। प्रेमी मृत्यु की परवाह नहीं करता है। इसी कारण वह प्रेम-प्याले को पाने का अधिकारी होता है।[५०] प्रेम दिवाना अपने प्रिय से एक पल भी विलग नहीं होना चाहता है। समस्त बाह्याडम्बर का परित्याग कर अन्त में प्रियतम को दर्शन करता है। जिसे प्रेम-बाणा लगता है वही पीड़ा का अनुभव करता है।[५१] यह पंथ अटपटा है, इसे कोई विरला ही जानता है।[५२] इस प्रेम से भक्त का रोम-रोम पुलकित हो उठता है।[५३] साजन रूपी ईश्वर से प्रेम हो जाने पर सजनी रूपी भक्त निरन्तर उसके दर्शन के लिए लालायित रहती है।[५४] प्रियतम के रंग में रँग जाने पर उसे अपने तन की सुधि तक नहीं रहती है।[५५] वह अपने और भगवान् के अतिरिक्त

---

४७. यह प्रेम भक्ति जाकै घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूख तृषा नहि लागै वाकौं निशदिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैंनहुँ नीर झलावौ।
यह प्रगट चिन्ह दीसत हैं जाके, प्रेम न दुरै दुरायौ॥
——सुन्दरदास ज्ञान समुद्र, चौपय्या ४३, पृ० १४

४८. कबीर भाठी-प्रेम की, बहुतक बैठे आय।
सिर सौपे सो पीवसी, नातर पिया न जाय॥
— वियोगी हरि, सन्तवाणी, पृ० २३

४९. सुन्दरदास, 'ज्ञान समुद्र'; दोहा ४४, पृ १५

५०. दादू दयाल की बाणी, भाग १, 'बिरह को अंग', पृ० ३५

५१. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृ० ३१

५२. दयाबाई की बानी, दोहा १३, पृ० ६

५३. प्रेम मगन गद्‌गद् बचन पुलकि रोम सब अंग।
पुलकि रह्यो मन रूप में दया न ह्वै चितभंग॥
—दयाबाई की बानी, दोहा ६, पृ० ६

५४. धनी धरमदास की शब्दावली, शब्द ८, पृ० १३

५५. प्रेम दिवाने जो भये प्रीतम के रंग माहिं।
सहजो सुधि बुधि सब गई, तन की सोधी नाहिं॥
—सहजोबाई की बानी, दोहा ३, पृ० २८

संसार में और कुछ नहीं देखता है। सन्त चरनदास इसी लिए ऐसी ही मदिरा पीने का आदेश देते हैं, जिसके पीने से वह अमर होकर आवागमन से मुक्त हो जाता है।[५६] संत नानक हरि से इस प्रकार की प्रीति करने को कहते हैं जिस प्रकार जल से कमल करते हैं। वे जल की लहरों के आघात सहते रहते हैं, फिर भी प्रेम से विकसित होते हैं। उन कमलों का जीवन पानी ही है और पानी के बिना उनका मरण है।[५७] अतः ऐ मन ! हरि से इस प्रकार की प्रीति कर जैसी मछली जल से करती है तथा चातक बादल से करते हैं। प्रिया को प्रियतम का प्रेम ही अच्छा लगता है। उसके बिना जगत् में क्षण भर जीना अच्छा नहीं लगता है।[५८] उसके निमित्त ऐसी महान् तृषा है कि इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी सुहाता नहीं है। यह प्रेम लक्षणा भक्ति जिसके घट में प्रवेश करती है, उसे संसार की कोई माया रुचिकर नहीं लगती। वह भूख, प्यास तथा निद्रा के सामान्य आग्रहों से मुक्त रहता है। उसके मुखमण्डल पर पीलापन छाया रहता है। वह रह-रह कर ठण्डी आहें भरता है तथा उसकी आँखों से अश्रुजल निर्झर निरन्तर झरता रहता है। उसके बिना बताए ही इन स्पष्ट सकेतों द्वारा मन की विह्वलता आभासित हो जाती है। वस्तुतः प्रेम छिपाये नहीं छिपता। सन्त रोहल ने भी अपनी प्रेम-पिपासा का मुक्त-कण्ठ से परिचय दिया है एवं बताया है कि इस प्यास के सामने सारी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं।[५९] जब प्रेम का रंग चढ़ जाता है तब साधक उसी के रंग में रँग जाता है। अन्त में साधक कह उठता है, मेरे मालिक ! मैं तो तेरे दीदार का दीवाना हूँ। हर घड़ी, हर पल तुझे ही देखना चाहता हूँ। तेरा प्रेम प्याला पीकर अलमस्त हो गया हूँ। मुझे तो अब इस तन की भी सुधि नहीं रही, खड़ा होता हूँ तो गिर-गिर पड़ता हूँ। तेरे प्रेमरस ने कैसा मतवाला कर दिया है, न मैं मुहर्रम जानता हूँ; न नमाज। रोजा रखना

---

५६. अवधू ऐसी मदिरा पीजै।
बैठि गुफा में यह जग बिसरै चंद सूर सम कीजै ॥
× × ×
जो चाखै यह प्रेम सुधारस निज पुर पहुँचे सोई।
अमर होय अमरा पद पावै आवा गवन न होई ॥
—चरनदास जी की बानी, भाग २, शब्द १८, पृ० १७१

५७. डॉ० जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० १४८

५८. वही, पृ० १४८-१४६

५९. डॉ० दशरथ राज, सन्त रोहल की बानी, पृ० १२३

भी नहीं जानता, तथा अजान देना तो उसी दिन से भूल गया हूँ, जब से इस दिल के अन्दर तुझे खोजा है। प्रेम को मदिरा ढालकर, दिल को दिल का आशिक बना लिया है। मक्का और हज अब अन्तर के पट में ही देखता हूँ, क्योंकि मुझे पूरा सद्गुरु मिल गया है।[६०] वे पुनः दर्द-दीवाने अलमस्त फकीर की मनोदशा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वह प्रेम का प्याला पीने के पश्चात् आठो पहर मदमाते हाथी की तरह झूमता फिरता है। संगी-साथी भूल जाते हैं। उसे संसार में न कोई राजा दिखायी देता है न रंक। मोह-माया के बन्धन तोड़कर वह निःशंक भाव से विचरता है। अपने प्रेमी से मिलकर वह तद्रूप हो जाता है। इसके बाद उसकी कोई इच्छा नहीं रह जाती। जहाँ सर्वव्यापी पवन नहीं प्रवेश कर सकता, प्रेमी साधक, भगवान् के उस घर में प्रवेश कर जाता है। सन्त पलटू साहब ने राम-नाम की चढ़ी हुई भट्ठी से चूने वाले प्रेम रस की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसे ईश्वर प्राप्ति का उचित माध्यम बताया है।[६१] सन्त चरनदास के अनुसार जो इस प्रेम-सुधारस का पान करता है, वह अमर हो जाता है और आवागमन के क्रम से मुक्त होकर अमर पद प्राप्त करता है, अतः वे ऐसी ही अद्भुत मदिरा पीने का परामर्श देते हैं। इस महारस को पीने वाला अपने और भगवान् के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं देखता।[६२] ऐसे प्रेम दीवाने का मन मस्ती के आलम में चकनाचूर हुआ रहता है। प्रेमासव का पान कर वे मदमत्त हो घूमते रहते हैं। उन पर प्रियतम का गाढ़ा रंग चढ़ा होता है तथा तन-मन की सुध-बुध जाती रहती है। वे बहकती वाणी बोलते हैं, कभी हँसते हैं, कभी रोने लगते हैं। ऐसे प्रेम दीवानों के हृदय में आनन्द हिलोरता रहता है किन्तु शरीर के बाह्य अंगों से पागलपन के लक्षण झलकते रहते हैं।[६३] प्रेमी साधक मरने से भयभीत नहीं होता। यह प्रेम-घर अत्यधिक दुर्लभ एवं दूर है।[६४] प्रीति के कारण साधक का रोम-रोम पिउ-पिउ करने लगता है।[६५] यह प्रेम इतना प्रबल होता है कि उसके समक्ष विश्व की कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं ठहर सकती। वह प्रेम बरसात के उस प्रबल नाले की भाँति होता है,

---

६ . वियोगी हरि, सन्तवाणी, मलूकदास, पृ० ३६

६१. पलटू साहब की बानी, भाग २, पृ ५४-५५

६२. चरनदासजी की बानी, भाग २, शब्द १८, पृ० १७१-१७२

६३. सहजोबाई की बानी, प्रेम का अंग, पृ० ३८-३९

६४. कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम' साखी, पृ० १०४

६५. वही, 'प्रेम' साखी ११२, पृ० १०४

जिसके समक्ष कोई भी वस्तु नहीं रुक सकती। पेड़, पत्थर, झाड़, झंखाड़ सब उस प्रवाह में बह जाते हैं उसी प्रकार इस प्रेम के आगे कोई भी वासना नहीं ठहर सकती। सभी भावनाएँ, हृदय की सभी वासनाएँ बड़े जोर से एक ओर को बह जाती हैं और केवल एक भाव रह जाता है और वह है प्रेम का प्रबल प्रवाह।[६६] इस प्रेम की स्थिति बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बनकर उसका एक अंग बन जाती है।[६७] यह इस प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति है। अन्त में आत्मा डंके की चोट पर कह उठती है कि हरि मेरा पिय है और मैं उसकी पत्नी हूँ। उसके बिना एक क्षण भी जीवित रहना कठिन है। इस प्रकार प्रेम की पूर्णता पति-पत्नी सम्बन्ध में ही सम्भव है।[६८] यही प्रेम भक्ति सन्तों की मधुर रस-साधना का मूलाधार है।

सन्त साधना के विषयालम्बन निर्गुण राम

सन्त साधना में ब्रह्म के निर्गुण-सगुण दोनों रूप प्राप्तव्य हैं। ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में ये रूप स्वीकृत हैं। कबीरदास के अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी हैं जस पुष्प में सुगन्ध, मृग में कस्तूरी, तिल में तेल, नैनों में पुतली, पर मूर्ख हृदय में अन्धकार होने के कारण प्रभु को खोजते फिरते हैं।[६९] दादू दयाल के अनुसार घट-घट में गोपी, कान्ह एवं राम का निवास है।[७०] प्रत्येक हृदय में मेरे सांई का निवास है, अतः कोई भी सेज उसके बिन सूनी नहीं है।[७१] इस

६६. डॉ० रामकुमार वर्मा, 'कबीर का रहस्यवाद', पृ० १८-१९

६७. एक अंड उंकार ते सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार॥
—कबीर बीजक, रमैनी २७, पृ० १०

६८. हरि मोर पीव माई हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
—डॉ० रामकुमार वर्मा, 'कबीर का रहस्यवाद', पद ११७, पृ० ३८०

६९. कबीर वचनावली, 'सर्वघट व्यापकता', पृ० ९५-९६

७०. वियोगी हरि, सन्त वाणी, दादू दयाल, पृ० १४

७१. सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोई।
वा घट की बलिहारियाँ, जो घट परगट होई॥
—वियोगी हरि, सन्तवाणी, कबीर, पृ० १२

भेद को कोई विरला ही समझ पाता है,[७२] क्योंकि पूर्ण ब्रह्म स्वामी की महामहिमा पल-पल में दृष्टिगत होती है। अतः मेरे पूर्ण ब्रह्म स्वामी क्या कहूँ तेरी महिमा तो धन्य है। हर पलक और हर नजर में तेरा दर्शन मिल रहा है।[७३] इसी कारण नानक कह उठते हैं, अरे ! वह घटवासी अलिप्त स्वामी तो मेरे रोम-रोम में व्याप्त है। फूल में जैसे सुगन्ध बसती है, और दर्पण में जैसे परछाईं, उसी भाँति हरि का निवास तेरे अन्तः में ही है, अतः उसे तू अपने घट के अन्दर ही खोज।[७४] ज्योति रूप से यह आत्म तत्त्व हर घट में समाया हुआ है। मेरा यह परम प्यारा तत्त्व एक क्षण भी इधर-उधर नहीं जाता।[७५] ईश्वर के अनन्त रूप तो कृत्रिम अभास मात्र हैं।[७६] ईश्वर प्राप्ति का एक ही सम्प्रदाय है, एक ही पन्थ और हर घट में आनन्द-स्रोत का एक ही द्वार है। एक ही आत्मा सारी सूरतों में झलक रही है। बाकी तो सब जगत् का बखेड़ा ही है।[७७] इस निर्गुण ब्रह्म के जिसे दर्शन हो जाते हैं वह अनायास ही मति-बुद्धि पा जाता है। लालच और विषयरस में आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियों को वे ललकारते हुए कहते हैं कि जिन्होंने राम-रस का आस्वादन किया है वे इस भव सागर से पार हो गये। बकवादी तो डूब मरे क्योंकि उन्होंने राम को कभी याद ही नहीं किया।[७८] सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण का परित्याग कर जो चौथे पद को पहचान लेता है वही राम सन्तों का निर्गुण ब्रह्म है।[७९] वह समस्त ज्ञान तत्वों से भिन्न होते हुए भी सर्वमय है।[८०] समस्त दिशाओं, अन्दर और बाहर उसी प्रियतम के दर्शन होते हैं।[८१]

---

७२. वियोगी हरि, सन्त वाणी, दादूदयाल, पृ० १२
७३. वही, गरीबदास, पृ० १४
७४. वियोगी हरि, सन्तवाणी, नानक, पृ० १६
७५. वही, यारी साहब, पृ० १२
७६. वही, भीखा साहब, पृ० १८
७७. वही, पृ० १६
७८. रसनां रांम गुन रमि रस पीजे। गुन अतीत निरमोलिक लीजे।
निर्गुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि बुद्धि मत पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूड़े लालच के लागे॥
ये सब तिरे रामरस स्वादी। कहै कबीर बूड़े बकवादी॥
—हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ १२५
७९. डॉ० पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद ३२, पृ० १९
८०. वियोगी हरि : सन्तवाणी, तुकाराम, पृ० १४
८१. वही, दादूदयाल, पृ० १८

जिसकी गति अगम्य एवं अगाध है। अतः इसका आदि, मध्य, अन्त नहीं है।[८२] यह गहन गम्भीर रूप अकथनीय है।[८३] 'एकोऽहम् बहुस्यामं' एक होते हुए भी समस्त विश्व में व्याप्त है।[८४] वही ब्रह्म माया-युक्त होकर जब जीव के रूप में सामने आता है तब वह अपने आपको नहीं पहचान पाता।[८५] हमारे रोम-रोम में एक वही निर्गुण राम रमे हुए हैं। अतः उसे बाहर ढूँढ़ने और भटकने से क्या लाभ ? आवश्यकता है अन्तः में झाँकने की।[८६] यह निर्विकार निर्गुण ब्रह्म ही है जो अपने भक्तों के लिए नाना रूपों में अवतीर्ण होता है। वस्तुतः निर्गुण-सगुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों समग्र रूप से एक ही हैं।[८७] रात, दिन, तिथियों, वारों, ऋतुओं, महीनों, पदार्थों, जल, लोक, आकार के ऊपर एक प्रभु का ही राज्य है। उसका राज्य कितना बड़ा है, यह प्रतीत नहीं हो सकता। उसके कार्यों का भी वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी स्तुति तथा विचार कह-कह कर लोग थक जाते हैं किन्तु फिर भी वे बेचारे गँवार प्रभु की अनन्तता का पार तृणमात्र भी नहीं पा सके। अतः हे प्रभु जब मैं तेरा हो जाता हूँ तो सभी कुछ मेरा हो जाता है, क्योंकि चाहे मैं रहूँ या न रहूँ पर तू तो सदैव रहता है। प्रभु स्वयं ही शक्तिशाली है, स्वयं ही ज्ञानवान है। अपनी शक्ति में ही समस्त जगत् को पिरोये हुए है। यही निर्गुण ब्रह्म समस्त प्राणियों में एक भाव से व्याप्त है। क्या पंडित, क्या योगी, क्या राजा, क्या प्रजा, क्या वैद्य, क्या रोगी सबमें वह रम रहा है।[८८] वह किसी भी दार्शनिक वाद के मान-दण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है, यही कबीरदास का निर्गुण राम है।[८९] जो निश्चित रूप देने की चेष्टा करेगा अन्त में वह पश्चा-ताप करेगा। यह निर्गुण राम गुणों के वशीभूत होता है अर्थात् निर्गुण राम की

---

८२. सन्त रोहल बानी, पद ४, पृ० १४१

८३. वही, पृ० ४३

८४. वही, पद ५८, पृ० १४२

८५. माया सूँ मिलि जड़ भयो, जड़ संग हुआ जीव।
नीच करम नीचो भयो, उही जीव उहि सीव ॥

—वही, पद ८, पृ० १५८

८६. वही, पद १००, पृ० १४३

८७. सहजोबाई की बानी, चौ० १३, पृ० ४३–४४

८८. डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद १२८, पृ० ७६

८९. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १२६

प्राप्ति दैवी गुणों द्वारा होती है। निर्गुण राम सर्वव्यापक है, अतः अलक्ष्य हैं। जिस प्रकार पवन का निवास है उसी प्रकार शून्य का भी निवास है। निर्गुण हरी पवन की भाँति सर्वव्यापी है, जो प्रभु कृपा द्वारा ही प्रतीत होता है। प्रभु चिन्ह और वर्ण से परे है, न उसमें माया है और न छाया है। परमात्मा ही माया और छाया का निर्माता है।[९०] सभी घटों में प्रियतम हरी वास कर रहा है, बिना प्रियतम (हरी) के कोई भी प्राणी नहीं है। अतः वे ही जीवात्मा रूप स्त्रियाँ सुहागिन हैं, जिन्हें गुरु की शिक्षा द्वारा प्रियतम हरी से मिलन होता है।[९१] ब्रह्म का निर्गुण रूप चिन्तन के लिए है। वह दर्शन अथवा ज्ञान क्षेत्र का विषय है, उपासना के लिए उसका सोपाधि सविशेष, सगुण रूप लिया गया है। मधुरा भक्ति क्षेत्र में उसे प्रियतम और पति माना गया है। यद्यपि सान्निध्य की दृष्टि से उसे जननी-जनक, गुरु, मालिक आदि अनेक सम्बन्धों की डोर से बाँधा जा सकता है, किन्तु सन्तों में एकरूपता, सारूप्य और चरमसुख की उपलब्धि के लिए ब्रह्म को पति रूप में ही स्वीकार किया है। उसका यही रूप निर्गुण साधना में काव्य या भावपक्ष का आलम्बन है। यहाँ आकर सन्तों का निर्गुण भी सगुण हो जाता है।[९२] तभी तो आभ्यन्तर रंग महल में निर्गुण प्रियतम की बिछी सेज तक जाने और वहाँ जाकर निर्गुण छैला से 'नेह' लगाने के लिए प्रेमार्द्र सन्तात्माएँ बार-बार उत्प्रेरित हो उठती हैं।[९३] निगुण भक्ति के आलम्बन में कोई रूप रेखा है ही नहीं, अशरीरी तथा जन्म-मरण से परे का दैहिक स्वरूप चित्रित नहीं किया जा सकता, वह अनन्त है, अतः उसका सौन्दर्य भी अनन्त है। वह अलौकिक है, इसलिए उसका शीलमाधुर्य भी अलौकिक है, उस सौन्दर्य की अनुभूति आँखों का विषय नहीं, आत्मा का विषय है। सन्तों की इस प्रेम-भावना का निर्वाह केवल ज्ञानगम्य निर्गुण ब्रह्म को आश्रय करके नहीं हो सकता था। अतएव उन्हें भक्त रूपी प्रिया के लिए व्याकुल रहने वाले भगवान् रूपी प्रियतम

---

९०. डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ७७५

९१. वही, पृ० ८१०

९२. चरनदास की बानी, भाग २, शब्द १५, पृ० १३१-३२

९३. टुक निर्गुन छैला सूँ कि नेह लगाव री,
जाको अजर अमर है देस महल बेगमपुर री
जहँ सदा सुहागिन होय; पिया से मिली रहुरी।
जहँ आवागमन न होत, मुक्ति चेरी तेरी ॥

—वही, भाग २, शब्द २४, पृ० १३७

की कल्पना करनी पड़ी, जिस कारण प्रियतम रूपी भगवान् के ब्रह्मत्व को सदा सुरक्षित रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।[९४]

सन्त साधना का आश्रयालम्बन भक्त भामिनी या जीवात्मा रूपी सुन्दरी

निर्गुण सन्तों ने ईश्वर का दो रूपों में चित्रण किया है ज्ञानरूप एवं प्रेम रूप। मधुर रस साधना के सन्दर्भ में सन्तों ने स्वयं को अन्य रूप में ही प्रस्तुत किया है। इसी रूप में वे दुलहन, प्रेमिका या पत्नी बन जाते हैं, जिससे जीवात्मा रूपी सुन्दरी की भूमिका में स्वयं को प्रस्तुत कर प्रियतम राम से रागात्मक सम्बन्ध जोडते दिखाई पड़ते हैं। अतः भक्त-भामिनी अथवा जीवात्मा रूपी सुन्दरी ही सन्त की मधुर रस साधना का आश्रयालम्बन है।

सन्तों की बानियों में सुहागिन तथा असुहागिन शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। जहाँ सुहागिन के स्वकीयात्व की भूरि-भूरि प्रशसा की है वहीं असुहागिन के परकीयात्व की कठोर भर्त्सना भी।

कबीरदास के मतानुसार पतिव्रता नारी सुखी होती है, क्योंकि उसका पति एक है। इसके विपरीत व्यभिचारिणी नारी के अनेक पति होने के कारण वह दुखी रहती है।[९५]

प्रेम की पाँवरी, धीरज रूपी काजल, सील का सिन्दूर धारण करके पति-व्रता नारी प्रियतम का अनुपम सुख प्राप्त करती है।[९६] पतिव्रता नारी बाह्य रूप से भले ही सुन्दर न हो पर उनके गुणों पर सौ स्वरूप निछावर कर सकते है।[९७] क्योंकि पतिव्रता नारी के नेत्रों में एक पति का ही वास है।[९८] सन्त रज्जब उस सदा सुहागिन सतीसाध्वी को धन्य मानते हैं जिसके हृदय में

---

९४. डॉ० राम स्वार्थ चौधरी, 'मधुर-रस-स्वरूप और विकास', भाग २, पृ० ३८३

९५. पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक।
मन मैली बिभिचारिनी, ताके खसम अनेक ॥
—वियोगी हरि, सन्त बानी संग्रह, भाग १. 'कबीर', पृ० ४०

९६. प्रेम पाँवरी पहिरि कै, धीरज काजर देइ।
सील सिन्दूर भराइ कै, यों पिय का सुख लेइ ॥
—वही, साखी-१८, पृ० २०

९७. वही, साखी २, पृ० ४०

९८. नैनों अंतर आव तूं, नैन झाँपि तोहि लेवँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देवँ ॥
—वही, साखी ४, पृ० ४०

एक हरि का ही निवास है[९९] और जो तन-मन सब पिव को समर्पण कर देती है। पिव के साथ ही रंगमहल में अठखेलियाँ करती है। अपने प्रियतम के साथ ही वह सदैव रहना चाहती है। आत्मा-परमात्मा एक दूसरे से विलग रह ही नहीं सकते। अतः सती अपने पति के साथ निःसंकोच जलने को निकल जाती है।[१००] दूलनदासजी के अनुसार वही नारी सुहागिन है जिसको प्रियतम चाहता है, यह तो अपने-अपने भाग्य की बात है।[१०१] सुहागिन नारी पिया के मन को भाती है एवं अपने घर का परित्याग नहीं करती। प्रियतम के भेद को किसी से नहीं कहती। तन-मन से पति की सेवा करती है। पति के इच्छानुकूल ही शृङ्गार करती है ऐसी स्त्री दोनों ही कुलों में शोभायमान होती है।[१०२] नानक आत्मा रूपी सुहागिन स्त्री के शृङ्गार का वर्णन इस प्रकार करते हैं। श्वास रूपी सूत के धागे से मन रूपी मोती को गूँथ कर गहना बनाया जाय और उसे पहना जाय अर्थात् श्वास-श्वास में परमात्मा की जय-जयकार हो। क्षमा को शृंगार प्रसाधन बनाकर स्त्री उसे अपने शरीर पर धारण करे। हरी-हरी के नाम को कंठ का हार बनाये और उसे लेकर पहने। दामोदर के नाम का दंत मजन बनाये, हाथ के निमित्त कंगन 'कर्त्ता' को बनाकर पहने। 'मधुसूदन' को हाथ की मुन्दरी बनाकर पहने और परमेश्वर के पट को धारण करे। धैर्य को माँग की पट्टी बनाकर गूंथे। श्रीरंग के नाम का सुरमा नेत्रों में लगाये। मन रूपी मन्दिर में विवेक का दीपक जलाये; अपनी काया को सेज बनाये और जब ज्ञान के राजा परमात्मा उसकी सेज पर आएँ तभी वह प्रियतम के साथ रमण कर सकती है।[१०३] सन्त सेवादास के कथनानुसार वही सुहागिन नारी प्रियतम के मन को अच्छी लगती है जो परपुरुष के शरीर को स्पर्श नहीं करती।[१०४]

---

९९. सम्पा०—डॉ० ब्रजलाल वर्मा, रज्जब वाणी, 'पतिव्रता का अंग', साखी, ५८, पृ० १४८

१००. सन्तवाणी संग्रह, भाग १, 'कबीर', पृ० ४१

१०१. दूलन पीतम जेहि चहैं, कही सुहागिन ताहि।
आपन-आपन भाग है, साझा काहुक नाहि॥
—दूलनदासजी की बानी, पृ० ३८

१०२. वियोगीहरि, सन्त सुधाकर, द्वितीय खण्ड, पृ० १५७-१५८

१०३. डॉ जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० २७३

१०४. सोइ सुहागण पीव मनि भावै। आंन पुरुष सूं अंग न लगावै।
दुष सुष माहि रहै रस एकै, कंत रिझावै तनमन दे कै॥
धन जोबन मुपै सो नारी, ताहि पीठ न छाड़ै वा सदा पीयारी।
पीव न छाडै रहे घर आंगण, जन सेव कहींए सोइ सुहागणि॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंजनी, पृ० १८४

जो सुहागिन अपने प्रियतम को रिझा लेती है वह प्रिय समीप सोने का सुख ले सकती है। अपने पति का ही व्रत करे। शरीर के अंग-अंग की रोमावली में प्रियतम के गुणों का ही समावेश हो।[१०५] गुलाल साहब के विचारानुसार जिसका दुलहा अविनाशी है वह जन्म-जन्मान्तर ही सुहागिन है, जिसकी प्राप्ति गुरु कृपा से ही सम्भव है।[१०६] दादू के मतानुसार सुहागिन नारी तन, मन, यौवन, प्रेम, सहज सन्तोष सौंप कर प्रियतम को रिझाती है, और अपने प्रियतम का अभिन्न अंग बन जाती है, जिससे प्रिय से वियोग असम्भव है।[१०७] ऐसी पतिव्रता नारी ही सदैव प्रियतम के देश में रहती है, जरा-मरण सम्बन्धी रोग उसे व्याप्त नहीं होता है, जिससे समस्त क्लेशों का निवारण हो जाता है।[१०८] नानक के विचारानुसार वह स्त्री सौभाग्यवती है जिसने प्रियतम को पहचान लिया है। वह स्त्री महल में बुलाई जाती है और प्रियतम के साथ आनन्दपूर्वक रमण करती है, वही सच्ची सुहागिन और भली है, जो प्रियतम के गुणों पर आसक्त है।[१०९] हरी को ऐसी सुहागिन अच्छी लगती हैं। वह अपनी कृपा से (उन्हें) संवार लेता है। जो जीवात्मा रूपी स्त्री गुरु के शब्द द्वारा सँवारी गई है, उसका तन-मन प्रियतम के पास है। वह दोनों हाथ जोड़कर खड़ी रहती है तथा प्रियतम को ताकती रहती है, वह अपने लाल में अनुरक्त रहती है, सत्य में निवास करती है।[११०] भाव में रँगी और (उसके) प्रेम में सँवारी गई है। वह प्रिय की चेरी और दासी कहलाती है और (प्रियतम परमात्मा के)

---

१०५. डॉ० ओम् प्रकाश सक्सेना, प्रणामी कवि और काव्य (मुकुन्द स्वामी), पृ० ६४

१०६. गुलाल साहब की बानी

१०७. सं०—महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, दादूदयाल का सबद, शब्द ६५, पृ० २१

१०८. तुलसी साहब (हाथरस वाले), रत्नसागर, पृ० २७२

१०९. महली महलि बुलाइए सो पिरु रावे रंगि।
सचि सुहागणि सा भली पिरि मोही गुण संगि॥
—डॉ० जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० १४०

११०. हरि जीउ इउ पिरु रावै नारि।
तुधु भावनि सोहागणी अपणी किरपा लैहि सवारि॥
गुरसबदी सीगारीआ तनु मनु पिर कै पासि।
दुइ कर जोरी खड़ी तकै सचु कहै अरदासि॥
लालि रती सच भै वसी भाइ रती रंगि रासि।
—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० १३३

नाम को ही मानती है। यदि सच्चा परमात्मा अपने मेल में मिला लेता है तो उसकी सच्ची प्रीति कभी नहीं टूटती। जो सद्गुरु में समा गई है ऐसी स्त्री राँड़ स्त्री की भाँति प्रियतम से विलग नहीं होती। वह तो प्रियतम के साथ सदैव एक रहती है। उसका प्रियतम रसिक, नवीन तनवाला और सच्चा है, वह अमर है, वह अपनी सोहागिन से नित्य रमण करता है, उस पर सच्ची कृपा दृष्टि भी रखता है।[१११] नानक के मतानुसार ऐसी स्त्रियाँ सत्य की माँग काढ़ती हैं और प्रिय के कपड़े का शृंगार करती हैं। परमात्मा को चित्त में बसाना ही उस स्त्री का चंदन-लेप है। दशम दरवाजे में निवास करना उसका वास्तविक महल है। उसने शब्द का ही दीपक जलाया है और राम नाम को ही अपने गले का हार बनाया है।[११२] संत चरनदासजी ने हठयोग के अन्तर्गत पतिव्रता सती-नारी की प्रेम-साधना के लिए कुछ प्रतीकों की कल्पना की है। जीव-शक्ति कुण्डलिनी को सदा सुहागिनी स्वकीया नायिका के रूप में मधुर उद्भावना कर 'भँवर गुफा' अर्थात् शून्य चक्र स्थित सदाशिव के प्रति उसकी अनन्य शक्ति का सरस चित्रण किया है। कदाचित् इसी लिए उन्होंने ईश्वर के प्रति रसवन्ती जीवात्माओं को सती सुहागिन कह कर उनकी प्रशंसा की है।[११३] वहीं परमात्मा से विमुख जीवात्मा रूपी नायिका को असुहागिन, दुहागिन, अभागी, कुलटा, राँड आदि दुर्विशेषणों का प्रयोग किया है। यह कहलाती तो प्रियतम की पत्नी है, पर शारीरिक संयोग किसी और के साथ होता है।[११४] क्योंकि पतिव्रता स्त्री का तो एक ही पति होता है और व्यभिचारिणी के दो पति होते हैं।[११५] दुहागिन सदैव अपने पति को तन अर्पण कर देती है, पर मन में पर्दा रखती है। ऐसी स्त्री सदैव दुःखी रहती है,[११६] क्योंकि दुहागिनी का जीवन निन्दनीय है, जो द्वैतभाव के कारण नष्ट हो जाती

---

१११. डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० १३३

११२. वही,

११३. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृ० ४८

११४. नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ।।
—संतबानी-संग्रह, भाग १, 'दादू', पृ० ९१

११५. पतिबरता के एक है, बिभिचारिणि के दोइ।
पतिबरता विभिचारणी, मेला क्यों करि होइ ।।
—संतबानी-संग्रह, भाग १, 'दादू' पृ० ९१

११६. सन्त बानी-संग्रह, भाग १, 'कबीर', पृ० ४२

है। जिस प्रकार लोना लगी दीवार रात-दिन ढह-ढह कर गिर पड़ती है उसी प्रकार दुहागिन स्त्री कुढ़-कुढ़ कर काल-कवलित हो जाती है, क्योंकि बिना शब्द के सुख नहीं होता और बिना प्रियतम के दुःख नहीं जाता।[११७] दुहागिन स्त्री अन्त में कहती है कि मुझमें सभी अवगुण है, अतः मुझ जैसी अवगुणों वाली स्त्री से पति का मिलाप किस प्रकार हो सकता है? न तो मुझमें रूप है, न नेत्र ही बाँके हैं और न तो मुझ में मीठी वाणी ही है जिससे मैं दुहागिनी हूँ।[११८] मैं तो अवगुणों की खान हूँ, पर प्रभु प्रियतम आप में तो सभी गुण हैं और मुझमें सभी दुर्गुण हैं। आप सभी रातें तो सुहागिन के साथ व्यतीत करते हैं अतः मुझ दुहागिन के साथ भी कोई रात व्यतीत करें।[११९] मलिन वेश अवगुणों के कारण मैं राँड बनी हुई हूँ। क्योंकि प्रभु अवगुणी स्त्रियों से दूर रहते हैं।[१२०] बिना प्रियतम के स्त्री का शृङ्गार और यौवन व्यर्थ है, सेज पर भी उसे सुख को उपलब्धि नहीं होती। दुहागिनी को अत्यधिक दुःख होता है, क्योंकि उसके सेज का भर्ता पति घर में नहीं है।[१२१] दुराचारिन नारी प्रिय को रिझाने के लिए विभिन्न प्रकार के बनावटी भेष धारण करती है, पर पति इस बनावटी शृङ्गार से रीझता नहीं है।[१२२] व्यभिचारिणी स्त्री पति का परित्याग कर अनेक प्रकार के धक्के खाती है।[१२३] नानकजी

---

११७. नानकवाणी, पृ० ११२

११८. वही, पृ० ४४३

११९. वही, पृ ४५०

१२०. वही, पृ० ४५२

१२१. वही, पृ० १४५

१२२. भेष न रीझइ मेरो निज भरतार।
ता तें कीजइ प्रीति बिचार।।
दुराचारिनी रचि भेष बनावइ।
सील साच नहिं पिय कौं भावइ।।
कंत न भावइ करइ सिंगार।
डिंभपनहिं रीझइ संसार।।
जो पतिबरता होइहइ नारी।
सो धन भावइ पीय पियारी।।
पिय पहिचानहिं आन नहिं कोई।
दादू सोई सोहागिन होइ।।
—दादूदयाल का सबद, शब्द ६३, पृ० २०-२१

१२३. सम्पा०—डॉ० ब्रजलाल वर्मा, रज्जब बानी, 'बिभचार का अंग, साखी १, पृ० १५०

कहते है गुण-विहीन स्त्री गुणवती स्त्री से ईर्ष्या करती है क्योंकि वह पति के साथ रमण करती है। गुण-विहीन स्त्री यदि गुणवती हो जाए तो वह भी पति को भोगने के लिए जा सकती है।[१२४] अतः सन्तों की मधुर रस साधना के अन्तर्गत भक्तभामिनी अथवा जीवात्मा रूपी दुल्हन की विभिन्न भाव भंगिमाओं, चेष्टाओं और मनोविकारों का भी अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। प्रेम की मस्ती एवं उन्माद में इसका सर्वाधिक प्रकाशन है।

मधुर रस का संयोग पक्ष—सम्पूर्ण सन्त-काव्य का लक्ष्य आत्मा-परमात्मा का मिलन है। आत्मा एक क्षण भी परमात्मा से विलग नहीं रहती, क्योंकि आत्मा-परमात्मा का प्रेम अभिन्न है। आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन। इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है, जोश टपकता है। उस एकान्त सत्य से, उस दिव्य शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है। उस प्रेम में चंचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती। वह प्रेम अमर होता है।[१२५] इसलिए सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ में प्रेम की शाश्वत् ध्वनि गूंज रही है। जल और कमल, कमल और भ्रमर, कमल और सूर्य सभी प्रेम-बन्धन में बँधे हुए हैं।[१२६] यही प्रेम भक्ति-क्षेत्र में चरमावस्था में पहुँच जाता है। आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बनकर उसका एक भाग बन जाती है।[१२७] अन्तिम अवस्था में आत्मा पीव-पीव की पुकार करने लगती है, क्योंकि प्रेम की पूर्णता सम्बन्ध में है जो माधुर्यभाव में महनीय है।[१२८] रहस्यवाद में भी आत्मा-परमात्मा के प्रेम की पूर्णता ही प्रधान है। अतः

---

१२४. गुणवंती सहु राविआ निरगुणि कूके काइ।
जे गुणावंती थी रहै ता भी सहु रावण जाइ॥
—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ३६८

१२५. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० १०

१२६. प्रेम कंवल जल भीतरे, प्रेम भंवर लै बास।
होत प्रात सूपट खुलै, भान तजे परगास॥
—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी 'शास्त्री', सन्त कवि दरिया: एक अनुशीलन, त्रयोदश परिच्छेद, 'प्रेम' पृ० १२८

१२७. एक अंड उंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार॥
—डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ३६

१२८. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पद ११७, पृ० ३८०

उसकी पूर्ति तभी सम्भव है, जब आत्मा और परमात्मा में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तो आत्मा स्त्री बनकर परमात्मा के लिए तड़पती है। सूफीमत में इसके विपरीत आत्मा पुरुष बनकर परमात्मा रूपी स्त्री के लिए तड़पता है। अतः आध्यात्मिक परिणय की इस विशिष्ट भाव-दशा में आत्मा की सारी शक्तियाँ परमात्मा के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो जाती हैं।

आत्मा अपने आनन्द में विभोर होकर परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगती है। उसके जीवन में उत्साह एवं हर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। माधुर्य में ही उसकी सारी प्रवृत्तियाँ वेगवती वारिधारा के समान प्रवाहित होने लगती हैं। माधुर्य में ही उसके जीवन का तत्त्व मिल जाता है। माधुर्य में ही वह अपने अस्तित्व को खो देती है। यही आध्यात्मिक विवाह का उल्लास है। यह विवाह असाधारण है। आत्मा-परमात्मा का मिलन साधारण हो भी कैसे सकता है ? इसी लिए कबीर ने असाधारण विवाह का वर्णन किया है। राजाराम मेरे भर्तार के रूप में आ गए, अब मैं अपना तन-मन उसके प्रति न्यौछावर कर दूंगी। पंचतत्त्व बराती बन जायेंगे। मैं अपने यौवन के उमंग में उन्मत्त हो जाऊँगी। शरीर विवाह-विधि की वेदी बन जायेगा, ब्रह्मवाणी (अनाहत) उच्चरित होने लगेगी और मै अपने राम के साथ भाँवरें लेने लगूंगी। मेरा भाग्य धन्य है, क्योंकि इस विवाह-विधि को देखने तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी सहस्र मुनिवर भी उपस्थित हैं, मैं उस अविनाशी के साथ विवाह कर लूंगी।[१२९] विवाह के पश्चात् सुहागरात आती है। नायिका सोलह शृंगार करती है तथा अंक भर-भर कर भेंटती है।[१३०] गुलाल साहब ने समीप सोने के लिए अन्तः (हृदय) में ही सेज का बिछौना, प्रियतम को पंखा झलना, सुरति सखी द्वारा रसोई बनाना, प्रेम-प्रीति का भोजन करवाना, चित्त से प्रभु की सेवा का उल्लेख किया

---

१२९. दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आए राजाराम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रति करि हौं, पांचहु तत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुने आए मैं जोबन मैं माती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा।
रामदेव संगि भांवरि लेहहो धनि-धनि भाग हमारा ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पद ५, पृ० ५

१३०. अंक भरे भरि भेटिया; मन नहिं बाँधे धीर।
कहै कबीर वह क्यों मिलै जब लग दोइ सरीर ॥
—वही, साखी २६, पृ० १७०

है।[१३१] सन्त तुरसीदास निरञ्जनी की आत्मा के प्राण भी बिना राम के व्याकुल हैं। प्रत्येक जन्म में उनके साथ विछोह होता है, अतः अब मैं राम को अपना पति बनाऊँगी, घड़ी-मुहूर्त सोचकर ब्रह्मा ने लगन रखा है। तत्पश्चात् ही विवाह हुआ।[१३२] ब्याह के पश्चात् परमात्मा से मिलन का वर्णन करना अवर्णनीय है, किन्तु वह आनन्द अलौकिक काव्यानुभूति से ओत-प्रोत है। मिलन का वर्णन स्वाभाविक है। पवित्र आत्मा का स्वरूप परमात्मा से मिल रहा है, जिसके माथे पर क्षमा की खौर है और तत्त्व का तिलक है तथा अंगों में शील का आभूषण है। प्रीति के पुष्पों की वर्षा हो रही है। चारों ओर निर्मलता का प्रकाश है, अनवरत रूप से अनाहद नाद की मधुर ध्वनि ध्वनित हो रही है।[१३३] इस प्रकार आत्मा-परमात्मा में मिल जाती है और दोनों में भेद नहीं रहता।[१३४]

१३१. आजु हरि हमरे पाहुन आये करौं मैं अनंद बधावा ॥ टेक ॥
मन पवना के सेज बिछावल, बहु बिधि रचल बनाय।
ताहि पलँग पर स्वामी पवढ़लहि हम धन बेनिया डोलाय ॥
सुरति सोहागिन करहि रसोई, नाना भाँति बनाय।
घर में लवल्यों अरथ दरब सब, सके सनमुख जाय ॥
प्रेम प्रीति कै भोजन कीन्हयो, अमृत पल जेंवाय।
अनत जन्म पर पाहुन आये सन्त उधारन राय ॥
कह गुलाल साहब घर आये, सेव करब चित लाय।
अमर-महल पर बैठक पायों, अंते जाय बालाय ॥
—गुलाल साहब की बानी, शब्द १८, पृ० ३७-३८

१३२. मेरे परम सनेही रामजी तुम जीवन प्राण आधारो।
अनेक जनम बिछुर भये, मैं बहुत लिये अवतारो ॥
अबके मन मैं यूँ बनी, बरिहौं राम भरतारो ॥
घरी मुहूरत सोधि के ब्रह्मा लगन बिचारो।
मैं अबला बारह बरस की षोरस सज्यो सिंगारो।
लगन जाय हरि कूँ दियो, तब ब्याहन चल्यो मुरारो ॥
—डॉ० भागीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंञ्जनी, पृ० ७३

१३३. डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० १०१

१३४. साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई।
—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, : सन्त कवि मलूकदास, पृ० ७६

समस्त संत तथा साधुओं ने हरि के साथ सगाई जोड़ना, लगन धराना, गुरु द्वारा ही ग्रन्थि-बन्धन आदि का वर्णन किया है जो अनुपम है। क्योंकि शून्य शिखर पर विवाह का मण्डप सजाया गया, सखियों ने मंगल-गीत गाया और ब्रह्मा ने वेदोच्चार किया। इस प्रकार दुलहा तथा दुल्हन दोनों ही विवाह के परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं।[१३५] पाँचों सखियों ने मिलकर मंगल-गान किया जिससे सहज रूपी हवा के झकोरे उठने लगे। काली घटा पर शिव और शक्ति परस्पर मिल गए। उनका प्रेमरस निर्झर बनकर झरने लगा। इसी समय सद्गुरु ने दमकते सौन्दर्य वाले वर के साथ दुल्हन का ग्रन्थि-बन्धन कराया। इस प्रकार प्रियतम की सुहागिन वह सुन्दरी अचल सौभाग्य की अधिकारिणी बन गई।[१३६] इस विवाह में पिया की अटारी पर मंगल-वाद्य बजने लगे। मोतियों की चौक पूरी गई। तारी दे-देकर भाँवर ली गई। ऐसे समय में दुलहा की सुन्दरता अवर्णनीय है। दुलहन प्रियतम के अन्तः में समा गई।[१३७] सन्त शिव नारायण की सखियों ने भी अनुपम विवाह के अवसर पर मंगल-गीत गाए और सुन्दर कोहबर बनाया, जहाँ पर वर-वधू एक साथ बैठे, जिसने दुलहा के रूप को देखा है उसे और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।[१३८] पलटू साहब की जीवात्मा का ब्याह अविनाशी प्रियतम से बिना मँगनी के ही हो जाता है। दरिया साहब की जीवात्मा का विवाह सद्गुरु कृपा से ही सम्भव है, क्योंकि उन्होंने ही उत्तम वर को ढूँढ़ा। उन्हें शर्म आएगी, तो मुझे स्वयं अपने चरणों में आश्रय देंगे। वे मुखर हैं और मैं बोलना

१३५. गुलाल साहब की वाणी, शब्द १०, पृ० ३४

१३६. पाँच सखिन मिलि मंगल गावहिं, सहजे उठै झकोरा।
सिव सक्ती मिली स्याम घटा पर नीझर झरत हिलोरा।
धधकि धधकि सुन्दर वर राजित सतगुरु कियो गठजोरा।
कह गुलाल पिय संग सोहागिनी अचल है सेंदुरे मोरा।।
—गुलाल साहब की बानी, शब्द २६, पृ० ४१

१३७. गुलाल साहब की बानी, शब्द ६, पृ० ४८

१३८. प्रेम मगल आलि सब मिलि गाई ।। टेक ।।
घर घर कोहवर रचित बनाई
जहाँ बैठे दुलहिन दुलहा सोहाई।
सब सखियाँ मिलि मन मतलाई
दुलहा के रूप देखि कछु न सोहई
दुख हरन गुरु सब सुधि पाई
देस चन्द्रवार से सुरति लगाई ।।
—परशुराम चतुर्वेदी, सन्त-काव्य, 'सन्त शिव नारायण' पृ० ४८३

भी नहीं जानती, वे साक्षात् परब्रह्म हैं। इसके विपरीत मैं आत्मा रूपी कुँवारी कन्या हूँ। उनकी मर्म-वाणी मैं कैसे समझूँ।[१३९] सन्त तुरसीदास निरञ्जनी ने भी राम को पति बनाने का निश्चय किया है, जिससे घड़ी मुहूर्त्त को देखकर ब्रह्मा ने लगन धराई। मैं बारह वर्ष की अबला हूँ, सोलह शृंगारों से सजी हुई हुई हूँ, अब हरि से मेरा विवाह होगा।[१४०] प्रियतम से मिलने के बाद अत्यधिक सुख की प्राप्ति होती है। आत्मा पिय को अलौकिक सौन्दर्ययुक्त देखती है।[१४१] सन्त केशवदास ने भी अविनाशी दुलहा के साथ अपनी आत्मा के परिणय का

---

१३९. सतगुरु मेरे किरपा कीन्ही, उत्तम वर परनाई।
अब मेरे साँई को सरम पड़ेगी, लेगा चरन लगाई॥
थे जान राम मैं बाली भोली, थे निर्मल मैं मैली।
वे बतराएँ मैं बोल न जानूँ भेद न सकूँ सहेली।
थे ब्रह्म भाव में आतम कन्या समझ न जानूँ बानी॥
दरिया कहैं पति पूरा पाया, यह निस्चय कर जानी।
—दरिया साहब मारवाड वाले की बानी, पृ० ५७-५८

१४०. मेरे परम सनेही राम जी तुम जीवन प्रान आधारो।
अनेक जनम बिछुरे भये मैं बहुत मिले अवतारो।
अबकै मन मैं यूँ बनी बरि हौं राम भरतारो।
घरी मुहूरत सोधिकै, ब्रह्मा लगन बिचारो।
मैं अबला बारह बरस की, षोरस सज्यो सिंगारो।
लगन जाय हरि कूँ दियों, तब व्याहन चलो मुरारो॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरंज्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० ७३

१४१. अब पीव मिले हो परम सुषदाई,
नैननि स्वांति (शांति) भई सुन सजनी,
बहुत दिनन की मेरी तपनि बुझाई।
प्रेम प्रीति के बसन पहिरि कै, निरति सुरति कांचू गहि आई।
षिया षवरि तिलक ततुराजे सील अभूषन की छवि छाई।
षोरसि षभ लगे मन्दिर कूँ द्वादस दल तहाँ सेज बनाई।
बिरहिन पीव परसि पद राचे प्रीति पहुप बरसे अधिकाई।
निरमल जोति भई चहुँ ओरा अनहद धुनि तहाँ टेर सुनाई।
जन तुरसी आनंद आरति सूँ सलिला होय सुष सिन्धु समाई॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी' पृ० १०१

अनूठा चित्रण प्रस्तुत किया है।[१४२] सन्त पलटू साहब की आत्मा का आध्यात्मिक रूप से गंगा-जमुना के मध्य परिणय होता है। अतः सौभाग्य से ही पति की प्राप्ति होती है।[१४३] इस प्रकार सम्पूर्ण सन्त साहित्य में आत्मा-रूपी सुन्दरी और परमात्मा रूपी पति के आध्यात्मिक परिणय की मधुर भक्ति भावना पग-पग पर मिलती है।

संसार-रूपी नैहर से आत्मा रूपी वधू का गौना

जीवात्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक परिणय का द्वितीय महत्त्वपूर्ण प्रसंग 'नैहर' को महत्त्वहीन मानना तथा प्रियतम की अनदेखी नगरी को महत्त्व देना है। नैहर में उसका मन नहीं लगता इसलिए वह ससुराल जाएगी, क्योंकि नैहर के लोग बड़े अरियार हैं, यहाँ उसने अत्यधिक दुःख-सुख झेले हैं, अतः अब प्रिय के देश जाएगी। यहाँ वह भोली भाली है। वहाँ उसका दुलार होगा, माँग में सत्य का सेंदुर भरेगी जिससे अमर पति की प्राप्ति होगी। प्रियतम की सेज बहुत भाग्य से मिलती है।[१४४] अतः सुहागिन अपने उपास्य पतिदेव से मिलने की उत्कृष्ट अभिलाषा प्रकट करती है, अब वह नैहर में न रहकर ससुराल जाएगी। कवि ने अपने को सुहागिन की भूमिका में रखकर कहा है, मायिक संसार रूपी नैहर में जीवात्मा रूपी स्त्री बहुत आज्ञानिनी रहती है।[१४५] यहाँ उसे अपने पति की सूचना नहीं मिलती। ससुराल में परमात्मा के यहाँ सारी वस्तुओं में जीवात्मा रूपी स्त्री का साझा हो जाता है, किन्तु नैहर मायिक प्रपंचों में आत्मिक धन पृथक् ही रहता है।[१४६] अतः अन्त में अपनी माँ से

---

१४२. अविनासी दूलह मन मोह्यो, जाको निगम बतावे नेति,
निरंकार निरअंक निरंजन निर्विकार निरलेस।
अगह अजोनि भवन भरि पायो, सतगुरु के उपदेश॥
सुरति निरति के बाजन बाजे, चित चेतन संग हेत।
पाँच पचीसी एक संग खेलहि, निर्गुन के यह खेत॥
—केशवदास 'अमीघूंट', शब्द ३, पृ० ४

१४३. पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ४, ५, पृ० २३

१४४. डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी 'शास्त्री', 'सन्त कवि दरियाः एक अनुशीलन', पृ० १३४

१४५. नानकवाणी, पृ० २६८

१४६. साहुरड़ी वधु सभु किछु साझी पेवकड़ै धन वरवे।
आप कुचजी दोसु न देऊ जाण नाही रखे॥
—वही, पृ० ७०६

स्पष्ट रूप से कह देती है कि हे मेरी माँ, बिना हरि दर्शन के मैं कैसे जीवित रहूँ ? बिना हरि के मेरा जी क्षण भर नहीं रह सकता, सतगुरु ने मुझे समझ दे दी और परमात्मा से मिला दिया।[१४७] अन्तिम अवस्था में जो स्त्री अपने ससुराल तथा नैहर में अगम अथाह प्रभु परमात्मा की प्यारी होती है, वह स्त्री धन्य है।[१४८] नैहर से उसका जियरा फट गया है वहाँ उसका मन नहीं लगता। इस नगरी में लख दरवाजा है, बीच में समुद्र का घाट है, अतः हे सजनी कैसे पार उतरूँ, क्योंकि यह पंथ अत्यधिक कठिन है। आत्मा हँस-हँस कर माता-पिता से पूछती है कि मैं प्रातःकाल ससुराल जाऊँगी वहाँ अपनी इच्छानुकूल कार्य करूँगी। ससुराल में ही प्रियतम से पूर्ण मिलन की आशा है।[१४९] सोते जागते, दिन-रात उसके हृदय-सागर में पिय-समागम की कामना हिलोरें लेने लगती हैं। उसे दृढ़ विश्वास होने लगता है कि नैहर में उसका रहना उपयुक्त नहीं है, यहाँ आकर वह अपना लक्ष्य भूल गई है।[१५०] नैहर में प्रियतम के साथ होली खेलने में डर लगता है, क्योंकि यहाँ पर मैं बाह्य परपंच में फँस जाती हूँ, प्रियतम से मिलने के लिए अपने सिर तक का परित्याग करना पड़ता है। नैहर में प्रियतम के संग सोने का भी सुख नहीं प्राप्त कर सकी हूँ।[१५१] वह अपनी माँ से अपने मन की सारी बात कह देती है कि हे अम्मा ! मेरा दिल प्रियतम से लगा हुआ है। अब तो बिना उन्हें देखे रहा नहीं जाता। यदि वे चाहें तो मैं उनके लिए अपना प्राण निछावर कर सकती हूँ। मैं इस समय जानलेवा रोग से ग्रस्त हूँ। उसका एक ही उपचार है—प्रिय समागम।

---

१४७. बिनु दरसन कैसे जीवउ मेरी माई।
हरि बिनु जीअरा रहि न सकै खिनु सतिगुरि बूझ बुझाई ।।
—नानक वाणी, पृ० ४७६

१४८. ससुरे पेईए कंत की कंतु अगमु अथाहु।
नानक धंनु सोहागणी जो भावहि वेपरवाह ।।
—वही, पृ० ६६७

१४९. वियोगी हरि, सन्त सुधा सार, शब्द १००, पृ० १००-१०१

१५०. नइहरवाँ आय सुधि बिसरी, सुधि बिसरी मोरी सुरति हरी
का नइहरवाँ फिरहुँ भुलानी. जैहौं ससुरवा परिहै जानि।
काह कहौं कहि नाहीं जाइ, मोहिं बपुरी को सुधि न आइ।
जोगिन भइ अँग भसम चढ़ाइ बिनु पिया भेंट रहा नहि जाइ।
ए सखि सूरति देहु बताइ, देखि दरस मोर हियरा जुड़ाइ।।
—जगजीवन साहब की बानी, भाग २, शब्द २४, पृ० ६

१५१. जगजीवन साहब की बानी, भाग २, शब्द २४, पृ० ८१

इस प्रकार प्रियतम से मिलने के लिए वह निर्लज्जता का बाना पहन लेती है, प्रिय के बुलाने पर शीघ्र ही चली जाती है।[१५२] ससुराल से प्रियतम ने एक ऐसी अमोल चोली भेजी है जो अवर्णनीय है। नैहर अब मेरे लिए स्वप्न सदृश्य है।[१५३] ससुराल में सास दुःख, नन्द दुःख को सहा जा सकता है पर प्रियतम के दुःख को सहना अति कठिन है।[१५४] तुलसी साहब (हाथरस वाले) की आत्मा रूपी वधू भी नैहर के स्नेह का परित्याग कर ससुराल में रहना ही गुरु का प्रमुख उपदेश मानती है। ससुराल में अत्यधिक सुख होने के साथ ही साथ सांसारिक जन्म-मरण के चक्कर से भी छुट्टी मिल जाती है।[१५५] इस

१५२. पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ६३, पृ० २६

१५३. साहेब मोरे पठई चोली अनुमोल ।।टेक।।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई,
चोलिया पहिरि हम भई अतोल ।।
यह चोलिया में सहस बँद लागे,
चोलिया के बँद मोरे सतगुरु खोल ।।
चोलिया पहिरि धनि चली है गवनवा
सेत पितम्बर लागे हिंडोल ।।
धरमदास बिनवै कर जोरी ।
नैहर सुपना भयल अब मोर ।।
—धर्मदास की शब्दावली, शब्द ८, पृ० ६९-७०

१५४. ज्ञान की चुनरी धुमल भइ सजनी, मन की न पुरइल आसा हो।
बारहि बार जीव मोर लरजै, कैसे कटै दिन राता हो ।।
सास दुख सहलौं नन्द दुख सहलौं पिय दुख सहल न जाई हो।
जागो हो मोरि सासु गोसाँई, पिय मोर चलल बिदेसवाँ हो ।।
पाइयाँ परि परि ननदि जगावै, कहै न पावै सनेसवा हो।
मोर मुख ताको मत जा विदेसवाँ, हौं मैं चेरि तुम्हार हो ।।
बहियाँ पकरि स्वामी सेजिया बिठावै, जनि रोवो धनियाँ हमार हो।
कहैं कबीर सुनो धर्मदास, जुगन जुगन अहिवात हो ।।
—धर्मदास की शब्दावली, शब्द ४, पृ० ६८

१५५. सोहागिन सुन्दरी तुम बसहु पिया के देस ।।
नैहर नेह छाँड़ि देवौ री, सुन सतगुर उपदेश ।।
कोटि करो इहाँ रहन न पैहो, क्या धनि रंक नरेस ।।
प्रभु के देस परम सुख पूरन, निरभय सुनत सँदेस ।।
जरा मरन तन एक न व्यापै, सोक मोह नहिं लेस ।।
सबसे हिल मिल बेर बिसन तज, परम प्रतीत प्रबेस ।।
कम पर दम हर दम प्रीतम सँग, तुलसी मिटा क्लेस ।।
—तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग २, पृ० २७२

प्रकार सन्तों ने आत्मा रूपी नववधू के गौने से सम्बन्धित अनेक मधुर कल्पनाएँ की हैं।

नव-वधू के परिधान

सन्तों ने ससुराल में प्रियतम से मिलने को समुत्सुक नव-वधू के शृंगार प्रसाधनों एवं परिधानों से सम्बन्धित विषयों की भूरिशः उद्भावनाएँ की हैं। इनमें प्रमुख चुनरी, चोली, लहँगा, घुँघरू, नथ, बाजूबन्द आदि आभूषण-परिधान प्रमुख हैं। प्रणयतत्पर मुग्धा वधू ज्ञान-ध्यान के घुँघरू बाँधकर, सुमति की अँगिया, प्रेम की साड़ी, विवेक का घाघरा, शील का अंजन, आनन्द का बाजूबन्द, शब्द का सिंदूर लगाकर सुरति सुहागिन इस प्रकार के केलि विलास का सुख लेकर फिर सांसारिक भवसागर में नहीं आएगी।[१५६] आत्मा रूपी नव-वधू की अन्तरंग सखी चुनरी को रँगीले रंग में रँगने का उपदेश देती है। कोई ऐसा चतुर रँगइया मिले जिससे चूनर का रँग चटक हो, चूनर का सुन्दर सूत तथा सुरति का धागा चूनर की बुनाई करने वाले सतगुरु से प्राप्त किया। चूनरी को धोते-धोते माड़ छुड़ा दी, मजीठ रंग चढ़ाया जाय क्योंकि इसे पहनकर प्रियतम को रिझाना है।[१५७] यह चुनरी अद्भुत है क्योंकि यह चुनरी पाँच तत्त्व से बनी है जिसे सतगुरु ने आकर दी है।[१५८] इस चुनरी को प्रियतम ने स्वयं अपने हाथ से रँगी है। उन्होंने स्याही के कच्चे रंग को छुड़ाकर मजीठा रंग रँगा है, धोने से यह रंग छुटता नहीं, वरन् और पक्का हो जाता है, क्योंकि भाव के कुण्ड में, स्नेह के जल में, प्रेम रंग रँगा है जिससे दुःख रूपी मैल का नाश हो जाता है। इस सीतल चुनरी को

---

१५६. पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ११५, पृ० ७८

१५७. तुलसीसाहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग २, पृ० २५६

१५८. सन्तो चूनर मोर नई।
पाँच तत्त्व के बनल चुनरिया, सतगुरु मोहिं दई॥
रात दिवस के ओढ़त पहिरत, मैली अधिक भई॥
अपने मन संकोच करत है, किन रँग बोर दई॥
बड़े भाग हैं चूनर के रे, सतगुरु मिले सही।
जुगन जुगन की छुटि मैलाई, चटक से चटक भई॥
साहिब कबीर यह रंग रचो है, सन्त कियो सही॥
जो यह रंग की जुगत बतावै, प्रेम में लटक रही॥
—कबीर साहेब की शब्दावली, भाग ३, शब्द ८, पृ० ४४

ओढ़कर मैं निहाल हो गई हूँ।[१५९] नैहर में इस चुनरी में अत्यधिक दाग लग जाते हैं, क्योंकि चुनरी को धोने वाला वहाँ कोई धोबी नहीं मिला। जब इस चुनरी को पहनकर ससुराल चली तो गाँव के लोगों ने फुहरी कहा, बिना सतगुरु की कृपा के कोई भी सुधरा नहीं।[१६०] सन्त चरनदास ने प्रणयातुर आत्मा को योग का उबटन लगाकर कर्म की मैल उतारने, वेणी में मोती गूँथने और माँग में लाज का सिंदूर तथा आँखों में प्रीति का काजल लगाने को कहा है।[१६१] इसी भाँति सन्त पलटू साहब की आत्मारूपी नव-वधू की अन्तरंग सखी उसे अपनी चुनरी पक्के प्रणय रंग में रँग लेने का परामर्श देती है ताकि वह फिर छूट न सके।[१६२] शृंगार प्रसाधन सम्बन्धी आत्मा रूपी नव वधू के अनेक पद प्राप्त होते हैं।

---

१५९. साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रँगडारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटे नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग ।।
भाव के कुण्ड नेह के जल में, प्रेम रँग दई बोर।
दुख देइ मैल छुटाया दे रे, खूब रँगी झकझोर ।।
साहिब ने चुनरी रंगी रे, पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर वार दूँ रे, तन मन धन औ प्रान ।।
कहैं कबीर रंगरेज पिया रे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे, भई हौं मगन निहाल ।।
—वियोगी हरि, सन्त सुधार, शब्द ११७, पृ० १०८-१०९

१६०. वियोगी हरि, सन्त सुधासार, 'कबीर', शब्द १३२, पृ० ११६

१६१. सखि सजनी हे जोग उबटनो लगाव।
अरी बौरी कर्म को मैल उतारिये जी ।।
सखि सजनी हे करनी कंग ही बहाव।
अरी बौरी वेनी मुक्ता गुथाइये जी ।।
सखि सजनी हे लाज सिंदूर निकासी।
अरी बौरी खोलि सिंगार बनाइये जी ।।
सखि सजनी हे प्रीति को काजल आंज।
अरी बौरी प्रेम की माँग संवारिये जी ।।
—चरनदास की बानी, भाग २, पृ० १४६-१४७

१६२. रँगि ले रंग करारी है, फिर छुटै न धोये।।टेक।।
ज्ञान को माठ ताहि बिच बोरो, मन बुधि चित रँग डारी है ।।
तन मन धन सब देइ रँगाई, रंग मजीठी भारी है ।।
रंग बहुत यह सोखि लाइगी, बहुत दिनन की सारी है ।।
सतसंगति में बैठि रँगावै, सोइ पतिबरत नारी है ।।
पलटूदास पहिरि के निकरै, अपने पिय की प्यारी है ।।
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ५९, पृ० ३३

सखी द्वारा नव-वधू का उद्बोधन

पूर्व ही कहा जा चुका है कि सखी का नैहर में मन नहीं लगता, ससुराल में ही वह आन्तरिक आनन्द का अनुभव करती है। यद्यपि आत्मा रूपी नव-वधू वहाँ के रीति-रिवाज से पूर्णतः अनभिज्ञ है जिससे उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि नैहर में उसने एक भी गुण नहीं सीखा, अतः ससुराल में वह फूहर बन गई है। अपने विचार से कुलवन्ती होती हुई भी उसकी पात्रता पर वहाँ किसी ने विश्वास नहीं किया।[१६३] नववधू अनदेखे प्रियतम का दर्शन करने के लिए लालायित है, अतः अपनी सखी से कहती है, 'हे सखी मुझे मेरे प्रिय से मिला दो, बिना उन्हें देखे मैं व्याकुल हो रही हूँ। उनकी 'सूरति' कैसी है ? उनका दर्शन सुलभ कर मेरी आँखें तृप्त करो।[१६४] सद्गुरु रूपी सखी, जीवात्मा रूपी नव-वधू को परम पुरुष के साथ व्यवहार करने की रीति स्पष्ट करती हुई कहती है, 'जिस प्रकार फूल के मध्य गंध, शरीर के अन्दर जीव, काष्ठ के भीतर अग्नि, मेंहदी के मध्य लाली, भांड़े के मध्य मिट्टी, दूध के मध्य घी अन्तर्भुक्त है।[१६५] उसी प्रकार हे सजनी तेरा प्रियतम भी तेरे ही समीप है, अतः अपने अन्दर सुरति-निरति के माध्यम से पहचानो। मान का परित्याग कर, नहा धोकर समस्त साज-श्रृंगार करके प्रियतम से मिलो।[१६६] अतः रस-विलास का अखण्ड सुख अद्भुत नगरी में प्राप्त करो। प्रियतम की यह नगरी रात-दिन, पाप-पुण्य, चन्द्र-सूर्य, धरती-

---

१६३. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० २४

१६४. जगजीवन साहब की शब्दावली, भाग २, शब्द १७, पृ० ७

१६५. चरनदासजी की बानी, भाग २, पृ० १४०

१६६. सखि सजनी है तेरो पिया तेरे पास।
अरि बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै जी॥
सखि सजनी है सुरति निरति करि देख।
अरी बौरी अपने महल रंग मानिये जी॥
सजनी हे मान अहं सब खोय।
अरी बौरी यह जीवन थिर ना रहै जी॥
सखि सजनी हे बालम सन्मुख होय।
अरी बौरी पिछली अर सब खोइये जी॥
सखि सजनी हे पिया मिलन को साज।
अरी बौरी न्हाय सिंगार बनाइये जी॥
—चरनदास की बानी, भाग २, पृ० १४६

आकाश, वायु-जल, निद्रा-जागरण, जंगल-बस्तियाँ, गुरु-शिष्य, आदि सर्वगुणों से विहीन हैं।[१६७] अन्त में नव-वधू रूपी सखी कह उठती है कि मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की चेरी हूँ। इस बार मुझे क्षमा कर दो, मैं अबला हूँ। प्रपंचों के साथ लग जाने के कारण मुझे कर्त्तव्य बोध न हो सका, मेरे प्राण भी अनाथ हो गए।[१६८]

नव-वधू का संकल्प-विकल्प

मुग्धा नव-वधू विभिन्न मनःस्थितियों के हिण्डोले पर झूलती हुई प्रतीत होती है। प्रवासी प्रियतम बहुत दिनों के पश्चात् स्वदेश आने का समाचार भेजते हैं, जिसे सुनकर आत्मा-रूपी नव-वधू अपने प्रियतम के स्वागत के लिए विभिन्न प्रकार का आयोजन करती है। वह कल्पना करती है कि मेरे प्रियतम सिंहासन पर बैठेंगे, तब मैं उस पर आसन बिछाऊँगी तथा उन्हें पंखा झलूँगी, इससे मुझे अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होगी। भोजन करने के पश्चात् जब वह लेट जाएँगे तो मैं उनके कोमल चरण अपने हाथों से सहलाऊँगी। नित्य मैं चरणामृत पान करूँगी और नित्य निरन्तर उन्हीं के आगे सेवा-भाव से खड़ी रहूँगी, अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगी।[१६९] नव-वधू की कल्पनाएँ साकार होती हैं, आज उसके घर सचमुच आनन्द बधावा होता है। इस वातावरण में उसका हृदय

---

१६७. चलहु सखि वहि देस, जंहवा दिवस न रजनी।
पाप पुन्न नहिं चाँद सुरज नहिं, नहीं सजन नहिं सजनी॥
धरती आग पवन नहिं पानी, नहिं सूतै नहिं जगनी॥
लोकबेद जंगल नहिं बस्ती, नहिं संग्रह नहिं त्यगनी॥
पलटूदास गुरू नहिं चेला, एक राम रम रमनी॥
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ८२, पृ० ४६-४७

१६८. अबरिक बार बकसु पिया मोरो, जनम जनम की चेरि हौं।
चरन कमल हम हिदे लगाइब, कष्ट कागज सब फारि है॥
मैं अबला बल कछुवो न जानो, परिपंचिन के साथ हे॥
पिया मिलन बेरि इन्ह मोहि रोकल।
तब जिउ महले अनाथ हे॥
—मधुर रस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० ४०७ से उद्धृत

१६९. धरनीदासजी की बानी, शब्द १, पृ० १

हर्षातिरेक के कारण प्रफुल्लित हो उठता है,[१७०] पर कभी-कभी उसके मन में दुविधा उत्पन्न हो जाती है। वह विकल्प करती है कि प्रियतम के रंगमहल में कैसे चलूं? मुझे लोग दुतकारते हैं, मेरी बाँहें छोड़ दो। अतः मेरी मानसिक अवस्था में असन्तुलन उत्पन्न हो गया है। इसका प्रमुख कारण मेरे साथ के कपटी लोग हैं, अतः पहले इन्हें यहाँ से हटा दो। तत्पश्चात् मैं स्वयं स्वच्छन्द भाव से दौड़कर पिया की ऊँची अटरिया पर चढ़ जाऊँगी और उनके साथ सुरति सुख प्राप्त करूंगी।[१७१] इस प्रकार हम देखते हैं कि नव-वधू के संकल्प-विकल्प का अत्यधिक स्वाभाविक चित्रण सन्तों ने किया है।

आत्मा-परमात्मा का प्रणय विलास

सन्त-साहित्य में प्रेम-भाव पूर्णतः आध्यात्मिक तथ्यों से युक्त रहता है, अर्थात् जैसे स्वच्छ जल से शराब मिलकर एक हो जाती है वैसे ही उसकी आत्मा और उसके प्रियतम की आत्मा मिलकर समरस हो जाती है। आत्मा रूपी नव-वधू को सर्वत्र दिव्य सौन्दर्य-चेतना और परम-प्रेम की अलौकिक झाँकी दृष्टि-गोचर होने लगती है। इसी महाभाव-दशा में, "जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन होता है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ लेती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता।"[१७२] आत्मा और परमात्मा में

---

१७०. आजु मोरे अनंद बधावा जियरा कुहकैला
सुनत सुनत सुख पाय ।।टेक।।
पाँच पचीस, तिनि चांचरि गावहि,
जो सुख बरनि न जाय ।।
गगन मण्डल में रस रचो है
झमक रहो है छाय ।।
प्रेम पियारा प्रगट भयो अब
ब्रह्म पदारथ पाय ।।
—गुलाल साहब की बानी, शब्द ३, पृ० ३०

१७१. साहिब के घर बिच जावोंगी, जावोंगी सुख पावोंगी ।।
प्रेम भभूत लगाय के सजनी, सन्तन केहै रिझावोंगी ।।
अचरा फारि करौ मैं कफनी, सेल्ही सुरति बनावोंगी ।।
धूनी ध्यान अकास में दैहौं, नाम को अमल चढ़ावोंगी ।।
पलटूदास मारि कै गाता भक्ति अभय लै आवोंगी ।।
—पल्टूसाहब की बानी, भाग ३, शब्द ३८, पृ० २०-२१

१७२. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर रहस्यवाद, पृ० ८

पति-पत्नी के सम्बन्ध की स्थापना का मुख्य कारण है—दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत प्रेम की पूर्णता। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "प्रेम की सारी व्यञ्जनाएँ और व्याख्याएँ एक पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही निहित है। इसलिए प्रेम की स्वतन्त्र व्यञ्जना को प्रकाशित करने के लिए बड़े-बड़े रहस्यवादियों ने ऊँचे-से-ऊँचे सूफियों ने आत्मा और परमात्मा के पति-पत्नी के सम्बन्ध को संसार के सामने रख दिया है। रहस्यवाद के इसी प्रेम में आत्मा स्त्री बनकर परमात्मा के लिए तड़पती है, सूफी मत के इसी प्रेम में जीवात्मा पुरुष बनकर परमात्मा रूपी स्त्री के लिए तड़पता है। इसी प्रेम के संयोग में रहस्यवाद और सूफीमत की पूर्णता है। प्रेम के इस संयोग को ही आध्यात्मिक विवाह कहते हैं।"[१७३] गुलाल साहब ने परम पुरुष की मादक छवि बसाने वाली और शरीर सँभालने की सुधि-बुधि भुलाकर डगमग चलने वाली प्रेम पुजारिन आत्मा का सुन्दर चित्रांकन किया है।[१७४] मर्मी सन्तों के इस दाम्पत्य समागम में सास और ननद बाधक सिद्ध होती हैं। मिलनोत्सुक वधू अपनी चतुराई से उन्हें परे कर अपने पिया को रूप जाल में बाँध लेती है।[१७५] प्रणयिनी आत्मा रूपी वधू को एकान्तिक सुरति लीला का

---

१७३. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६६

१७४. लागलि नेह हमारी पिया मोर ॥ टेक ॥
चुनि-चुनि कलियाँ सेज बिछावौं करौं मैं मंगलचार।
एको घरी पिया नहिं अइलैं होइला मोहिं धिरकार ॥
आठो जाम रैन दिन जोहौं, नेक न हृदय बिसार।
तीन लोक में साहब अपने फरलहिं मोर लीलार ॥
कहैं गुलाल पावौं भरि पूरन, सौजे मौज हमारा ॥
—गुलाल साहब की बानी, 'प्रेम' शब्द २, पृ० २६-३०

१७५. मैं कुलवन्ती खसम पियारी,
जाँचत तूँ ले दीपक बारी ॥
गंध सुगंध थार भरि लीन्हा
चन्दन चर्चित आरति कीन्हा ॥
फूलन सेज सुगन्ध बिछायों
आपन पिया पलंग पौढ़ायों ॥
सेवत चरन रैनि गइ बीती
प्रेम प्रीति तुमहीं सों रीती ॥
कह दरिया ऐसो चित लागा
भई सुलछनि प्रेम अनुरागा ॥
—दरिया साहब बिहार वाले के चुने हुए शब्द, शब्द ५, पृ० ७

सुख निर्बाध रूप से लूटने का सुयोग प्राप्त हो जाता है। सास जो ओबरि में है और ईर्षालु ननद आँगन में सोती है, वह उनकी पहुँच से दूर महल के ऊपरी प्रकोष्ठ में अपने प्राण-प्रिय के साथ सारी-सारी रात जमकर केलि विलास करती है। "ऐसी अवस्था में आत्मानन्द से पूर्ण होकर ईश्वर का गान-गाने लगती है। उसे परमात्मा की उत्कृष्टता ज्ञात हो जाती है, अपनी उत्सुकता की थाह मिल जाती है। उस उत्सुकता में सारा जीवन एक चक्र की भाँति घूमता रहता है। आत्मा अपने आनन्द में विभोर होकर परमात्मा की दिव्य शक्तियों का तीव्र अनुभव करने लगती है। उसकी उस दशा में आनन्द और उल्लास की एक मत-वाली धारा बहने लगती है। उसके जीवन में उत्साह और हर्ष के सिवाय कुछ नहीं रह जाता। माधुर्य में ही उसकी सारी प्रवृत्तियाँ वेगवती वारिधारा के समान प्रवाहित हो जाती हैं, माधुर्य में ही उसके जीवन का तत्त्व मिल जाता है, माधुर्य में ही वह अपने अस्तित्व को खो देती है। यही आध्यात्मिक विवाह का उल्लास है।'[१७६] 'आत्मा परमात्मा का जब से मिलाप हो गया तब से वह एक क्षण भी विलग नहीं होती, अतः आत्मा परमात्मा में मिल जाती है, अंश एवं अंशी एकाकार हो जाते हैं। फिर उन्हें पृथक् करना कठिन है।'[१७७]

आध्यात्मिक होली

फागुन की ऋतु में लोग होली खेलते हैं, यह उल्लास मनुष्य जीवन में ही मिल पाता है। मटकी में रंग भर कर पिचकारियों से रंग खेला जाता है और गुलाल उड़ाया जाता है। प्रिय केसर घोल कर प्रेम सहित अपनी प्रिया पर

---

१७६. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७१

१७७. मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी।
भँवर गुफा के बीच उठत है सोहं बानी।।

देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी।
जब से भया मिलाप मिले पर ना अलगानी।।

प्रीति पुरानी रही लिया हमने पहिचानी।
मिलीं जोत में जोत सुहागनी सुरत समानी।।

पलटू शब्द से सुनत ही घूंघट डारा खोल।
मेरे तन तन लग गई पिय की मीठी बोल।।

—पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ५६, पृ० २७

छिड़कते हैं, इस उल्लास के शुभावसर पर प्रिय की मनोनुकूल नारियाँ तन-मन-धन निछावर करती हैं। अनेक ताल, मृदंग, झाँझ, डफ आदि वाद्य बजते हैं। अतः चतुर्दिक दिशा में आनन्द का वातावरण छाया रहता है। वसन्त ऋतु के मादक वातावरण में यह उत्सव लोक मानस को सर्वाधिक आकर्षित करता रहा है।[१७८] सन्तों ने इसको या तो माया के आकर्षण के रूप में अंकित किया है अथवा आध्यात्मिक प्रेम के आनन्दोल्लास के वातावरण के रूप में।

सन्तों ने होली खेलने की यौवनपूर्ण मादक अवस्था मानी है। तरुणाई में प्रेमी जितने रंग सकते हैं उतने अन्य उम्र में नहीं। इन उत्सवों के अवसर पर अनेक प्रकार के बाजे भी बजते हैं। होली खेलकर प्रभु से प्रीति की जा सकती है। इसी कारण काया नगर में ही होली खेलना, प्रेम की पिचकारी द्वारा रंग डालना, नौबति दे-दे कर गाना, दसों दिशाओं में चाचरि ध्वनि-ध्वनित होना, तत्त्व अबीर का उड़ना, इड़ा-पिंगला दोनों सखियों का रास होना, इस सुख को वर्णित नहीं किया जा सकता, क्योंकि होली खेलकर प्रभु से गठबन्धन हो जाता है।[१७९] इसलिए हे मन! होरी के इस आनन्द को अवश्य ही ग्रहण करो। तत्त्व रूपी अबीर को उड़ाओ तथा त्रिविध रंग बहाओ जिससे फाग के फल की प्राप्ति होए।[१८०] गुलाल साहब उस अलख पुरुष के साथ होली खेलने को कहते हैं, जिससे गुरु के नाम का डंका बजता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव इस खेल को खिलाते हैं तथा शब्द का फाग रचते हैं। दसों दिशाओं में अबीर उड़ता है तथा प्रेम पिचकारी से भिगो देते हैं। मनमोहन रास खेलते हैं, सुखमन सखी नृत्य करती है। प्रिया-प्रियतम का यह फाग अनुपम है।[१८१] यह होली काया नगर के अन्दर

---

१७८. भीखा साहब की शब्दावली 'होली' शब्द ३, पृ० ४३

१७९. गुलाल साहब की बानी, शब्द १८, पृ० १०१

१८०. अहो मन होरी मौज ले आव ॥
दम दम जान तपावो, चित धरि ठाम ठमाव ॥
तत्त अबीर समूह उड़ावो, तिरविध रंग बहाव ॥
काया नगर में रास रचो है, पहुचहिहँ नूर जमाव ॥
गगन मंडल में चांचरि उठत, उघट ताल भरिगाव ॥
कह गुलाल प्रभु आयसु दीन्हो, फागु नाम फल पाव ॥
—गुलाल साहब की बानी, शब्द २३, पृ० १०३

१८१. वही, शब्द १०, पृ० ९८

ही होती है। रंग खेलना, प्रेम की पिचकारी, अबीर का उड़ना, प्रेम का मारु बजना, समस्त क्रिया-कलाप सुहागिन प्रिय के साथ अपने अन्तःकरण में ही करती है।[१८२] यह सदा बहार होली नित्य निरन्तर चलती रहती है। प्रणयिनी के सुख का कोई अन्त नहीं, क्योंकि उसे इस माध्यम से पिया को रिझाकर उनके अधर रस के पान का सुयोग प्राप्त होता है।[१८३] पलटू साहब अपनी आत्मा रूपी वधू को समझाते हैं कि बहार बीती जा रही है। तू फाग की क्रीड़ा में संलग्न क्यों नहीं होती। डफ बजाकर इस आनन्दोल्लास में भाग लो, मनुष्य शरीर प्राप्त करने का यही तो फल है। फागुन में लाज छोड़कर घूंघट खोलो। जो लाज करेगा उसका स्वप्न में भी काम नहीं चलेगा। यही तो शुभ अवसर है, जब प्रेम के रंग की मटकी भराकर सुरति की पिचकारी से रंग खेला जा सकता है, ज्ञान का अबीर उड़ाया जा सकता है, तथा नाम की गाली दी जा सकती है। यह संसार स्वप्नवत् है, बहार बीती जा रही है, अतः तू फाग क्यों नहीं खेलती।[१८४] सन्त सहजोबाई प्रभु के साथ रंगभरी होली खेलती हुई उनके सर्वव्यापी रूप को निहारने का सुयोग प्राप्त करती हैं। लम्बी प्रतीक्षा के बाद प्रिय संयोग का सुअवसर सुलभ होता है और इसके साथ ही सांसारिक आवागमन के बंधन टूट जाते हैं। अमरलोक में फाग लीला का सुख प्राप्त कर उन्हें जन्म-मरण के संकट से छुटकारा मिल जाता है। सन्त तुरसी साहब (हाथरस वाले) सुहागिन नारी को प्रियतम के संग होली खेलने का उपदेश देते हैं। घड़े में केसर का रंग तथा ज्ञान रूपी गुलाल को भरो। पाँच तत्त्व तथा पचीस प्रवृत्तियों को प्रेम की पिचकारी बनाओ जिसमें त्रिगुणों को भरो। हृदय में सांसारिकता रूपी भ्रम में आशा रूपी अबीर उड़ेलो। कुमति रूपी रंग को बाहर फेक दो तथा लोभ-मोह का छिड़काव करो। अतः अपने लौकिक गुणों का अन्त करके ही

---

१८२. गुलाल साहब की बानी, शब्द ७, पृ० ६८

१८३. मैं तो खेलौंगी प्रभु जी से होरी ।।टेक।।
प्रेम पिचुकारी भरि-भरि डारत, तत्त अबीर भरी झोरी ।।
निसु बासर को फागु परो है, घूमल लागल ठगौरी ।।
लागो रंग सोहंग गुन गावहिं, निरतत बाँहा जोरी ।।
कह गुलाल सुख बरनि न आवे, चाखत अधर कटोरी ।।
—वही, शब्द २८, पृ० १०५

१८४. पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ४२, पृ० २०

अलौकिक प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है।[१८५] होली के शुभावसर पर प्रेम का संचार तथा उमंग की तरंग उद्वेलित होती है। केसर के रंग को घोलकर, मन चन्दन को घिसकर, पिया को पहचानो तथा उसी पर रंग डालो। पाँच रंग तथा पंचतत्त्व की बनी हुई पिचकारी परखकर भर लो तथा अपने प्रियतम से फाग खेलो।[१८६] यह होली साधारण होली नहीं है। सूरति रूपी रंग और मन रूपी केसर से रँग कर पंच विका काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, को निकाल दो। अरगजा आसा, कुमकुम द्वारा कुमति को भूलकर तुरीयावस्था को प्राप्त हो, शरीर में जितना भी कूड़ा है उन सबको निकाल कर कर्म रूपी कीचड़ को धो डालो। यह होली अंग-भंग करने वाली है, समस्त साज-सज्जा द्वारा ही ईश्वर से मिला

---

१८५. होरी खेले सोहागिल नारि, पिय सँग ले झकझोरी,
केवल माट भरो रँग केसर, ज्ञान गुलाल भरो री।
पाँच पचीस प्रेम पिचकारी तीन गुनन मद मोरी।।
भव कर भरम भाव भव डर को, आस अबीर उड़ोरी।
कुमति को काढ़ि कढ़ाव भरो रँग लोभ मोह छिड़कोरी।
आपन अंत पंथ पिया मारग, प्रीति प्यार पकड़ोरी।
प्यारी प्यार यार प्रीतम बस, छिन छिन बोड़ि धरो री।।
प्रीति के पान चित्त कर चूना, लौ की लौंग धरो री।
करमन काढ़ि करो मन कत्था, सुरत सुपारी धरो री।।
तुलसी फाग लाग लग लारे, छड़ियन लार लड़ो री।
करि असनान धूर धरि धोई, सन्त सरन पकड़ोरी।।
—तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग २, पृ० १६८

१८६. उठत प्रेम रस भीनी होरी की तरंग मोरे हिये बिच,
केसर घोरि घिसो मन चन्दन, डारो पकरि पिया चीन्हीं।
पाँच रँग पाँच तत्त पिचकारी, प्यारी परखि भरि लीन्हीं।।
भारो गैल गुना गिर गागर, सागर घसि जस भीनी।।
तुलसी सूर मूर गति गवना, पिया से फागि रचि कीन्हीं।।
—वही, भाग २, पृ० १८९

जा सकता है।[१८७] वह स्त्री धन्य है जो अपने प्रियतम से फाग खेलती है, यदि प्रियतम नहीं होते तो चिन्तित रहती है, जिससे रंगों का स्पर्श तक नहीं करती।[१८८] प्रेम मतवारी पतिपरायणा नायिका होली खेलती हुई सोलह कलाओं से युक्त छविमान अपने पिया के रूप पर बलि जाती है। जब से अविनाशी के दर्शन हुए हैं तब से उस पर उनके सौन्दर्य का जादू चल गया है। आँखें उसी प्रियतम पर लगी हैं। रसना उन्हीं का नाम रटती रहती है। मैं हरि की भक्ति करती हूँ, अतः जिसको जो कहना हो कहे।[१८९] बुल्ला साहब की आत्मा रूपी वधू अन्त में कह उठती है ऐसा सुहावना समय फिर प्राप्त नहीं होगा, अतः समस्त नर होली खेल लो। यह कथन अत्यधिक सत्य है, क्योंकि तरुणाई में प्रेमी जितने रँग सकते हैं, उतने अन्य उमर में नहीं।[१९०] प्रेयसी प्रियतम को पाकर

---

१८७. अहो आली होरी लख बौरी हो ।।टेक।।
सूरति रंग रँगो मन केसरि, ले पच पांच निकारि।
सखियाँ पचीस पकरि पिचुकारी, मारो मन को मुख गोरी ।।
भरम अबीर गुलाल गुनन को, करि सतसंग उड़ाई।
ज्ञान को छान छरी भरि सूरति, सनमुख नैना नितजोरी ।।
चोया चित्त अरगजा आसा, कुमकुम कुमति बिसार।
घर घर धूर कूर सब काढ़ो, करमन कर कीचर धोरी ।।
नर तन नगर बिंद बिंद्राबन, तन मन चीन्ह बिहार।
होरी अंग भंग कर जानो, तुलसी सज साज मिलोरी ।।
—तुलसी साहब (हाथरस वाले) 'घट रामायण' भाग २, पृ० ३०७

१८८. भीखा साहब की शब्दावली, 'होली', पृ० ४६

१८९. हौं तो खेलौं पिया संग होरी ।।
दरस परस पतिबरता पियकी, छवि निरखत भइ बौरी ।।
सोरह कला संपूरन देखौं, रबि ससि में इक ठौरी ।।
जब तें दृष्टि परो अबिनासी, लागो रूप ठगौरी ।।
रसना रटत रहत निस बासर, नैन लगो यहि ठौरी ।।
कह यारी भक्ती करु हरि की, कोई कहै सो कहो री ।।
—यारी साहब की 'रत्नावली' शब्द २, पृ० ९

१९०. होरी खेलो रंग भरी, सब सखियन संग लगाई ।।टेक।।
फागुन आयो मास अनँद भो, खेलि लेहु नर-नारी ।।
ऐसा समय बहुरि नहिं पैहो, जैहो जनम जुवा हारी ।।
—बुल्ला साहब का शब्द सार, शब्द ४, पृ० १८

जब उससे फाग खेलती है तथा प्रिय अपने रंग से पिचकारी भरकर उस पर बरसाता है तो उसका तन-मन-आत्मा सब उसी में डूब जाते हैं।[१९१] वह सदैव के लिए उसमें एकरूप हो जाती है। इस प्रिय दर्शन के पश्चात् संसार से साधक का कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह जाता।[१९२] जिससे सांसारिक लज्जा का परित्याग वह कर देती है। मैं प्रियतम के संग होली खेलती हूँ, मेरा कोई क्या कर सकता है? तन की भट्ठी पर मन की मदिरा चुवाती है और नयन चषक में भरकर वह प्रिय संयोगसुख का आसव पान करती है। जिससे सास और तूफानी ननद के दिल पर छुरियाँ चलती हैं तो चला करें, क्योंकि प्रियतम घर आ गए हैं, निन्दा भी भाड़ में पड़े।[१९३] क्योंकि प्रिया को दृढ़ विश्वास है कि हमारे राम आएँगे, जिससे नया उत्साह उत्पन्न हो गया। मेरे समस्त दुःख दूर करेंगे, रात-दिन मैं उनके पथ को निहारती रहती हूँ। मैं अपने प्रियतम से उस प्रकार मिलती हूँ, जैसे समुद्र में बड़ी-बड़ी नालियों का जल। हृदय में प्रभु मिलन की आशा ही प्रमुख है।[१९४]

---

१९१. प्रेम पिचकारी मारी, भीनी पिया संग प्यारी।
कबहूँ ना होवे न्यारी, ऐसी प्रीति जिनकी॥
—सन्त रोहलबानी (शास्त्र मन प्रबोध), पृ १२६ से उद्धृत

१९२. जा दिन ते पी को मुख देख्यो।
ता दिन ते ममता मति भूली॥
—वही, पृ० ३८ से उद्धृत

१९३. पलटूसाहब की बानी, भाग ३, शब्द १११, पृ० ७६

१९४. आवैंगे वे राम हमारे, उपजा नवल उसाहा।
नष सष भ्रम दुष दुरि करैंहिंगे, अब सिब निरगुन नाहा॥
निसु बासुर ठाढ़ी मग जोऊँ, करि करि प्रीति उमाहा।
जानौं जौ यूँ मिलौं पीव कूँ, ज्यूँ समुद्र के बाहा॥
पीय जीय संधि रहै न कोऊ, घुले कनक लौं काहा॥
जन्म जन्म अरु जुग जुग के, मिटहैं हमारे दाहा॥
यहु अभिलाषु अंति हमारै' और न कोऊ चाहा॥
और चाह चितवनि सब त्यागी, तुम आवौ उर माहा॥
तुम तेज पुंज परकास अपरमति, हौ सुषसिंध अथाहा।
जन तुरसी कौ मिलौ महाप्रभु, अरु पावौं यहु मललाहा॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० १५४

अतः हे सखी अब आनन्द की ऋतु आ गई है। पाँच सखियाँ मिलकर मंगल-गान करती हैं। ज्ञान का गुलाल उड़ता है। ग्वाल, गोप, इन्द्रीजन सब एक स्थान पर आ जाते हैं। अन्त में पिय से होली खेल कर सर्वाधिक आनन्द होता है। गन, गंध्रप, सुर, देवता सभी जय-जयकार करने लगते हैं। जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती है आनन्द ही आनन्द है। इस अनुपम सुख की महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता।[१९५] वही विवेकी सन्त होली खेलते हैं, जिनको अपने गुरु पर दृढ़ विश्वास होता है। कान, आँख और जिह्वा समस्त इन्द्रियाँ राम के समीप जाती हैं। ताल, मृदंग, झाँझ, डफ आदि विभिन्न प्रकार के वाद्य इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के संगम घाट में बजते हैं। दिन-रात आनन्द ही आनन्द होता है जिससे प्रेम एवं उत्साह बढ़ता है। अगर, अबीर, कुमकुम, केसर, सुगन्धित पदार्थों का छिड़काव हो रहा है। इस प्रकार यह होली जो सहज तथा स्वाभाविक है अवर्णनीय है। आत्मा रूपी सुहागिन नारी बार-बार होली मिलन के लिए अविनाशी प्रियतम के शरीर को अर्पित करती है तथा फगुवा का दान प्रियतम प्रभु के दर्शन को माँगती है एवं बार-बार बलिहारी जाती है।[१९६] पलटू साहब कहते हैं कि इस अनुपम होली में लज्जा करना व्यर्थ है। इसलिए अब मुख पर से घूँघट हटा लो, प्रेम के पात्र में प्रणय-केलि का रंग भर कर, सुरति की पिचकारी से उसे पिया पर डालो, ज्ञान की अबीर लगाओ और नाम की मीठी गालियाँ देकर होली का भरपूर आनन्द लूटो। संसार स्वप्नवत् है, वापस जा रही रंगों पर इस बहार को गले लगा लो। अब लज्जा

---

१९५. सषी आनँद की रति आई।
उलटि लग्यौ वा उनमन सूंमन, तन की बिथा गंवाई॥
राग बसंत होई रह्यौ अंतरि, बाजै अनहद ताला।
पंच सषी मिलि मंगल गावै, उड़त विज्ञान गुलाल॥
गुन गन ग्वाल गोप इन्द्रीजन, आइ भए एक ठौरा।
मैं षेलत फागअभिअंतरि पीव सूं आनँद बढ़यौ अपारा॥
जै जै कार करै सब कोऊ, गन गंध्रप सुर देवा।
दीन लीन आमँद बिनोद सूं, लागि रहे हरि सेवा॥
आनँद ही आनँद रहत सषी, जहाँ तहाँ जित कित सोई।
जन तुरसी वा सुष की महमां, बरनि सकै का कोई॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० ३३

१९६. केशवदासजी की 'अमीघूंट', शब्द ४, पृ० ४-५

करने का समय नहीं हैं।[197] इस अद्भुत होली में पृथ्वी और आकाश सब प्रेम के रंग से आप्लावित हो रहे हैं, क्योंकि जीवात्मा राधास्वामी के साथ होली खेल रही है। सुषुम्ना से प्राणवायु ऊर्ध्वमुख होकर पिचकारी के समान छूट रही है, इस समय अन्य जीव भी इस रस में सराबोर हैं।[198] जीवात्मा ने आशा तथा इच्छा की पिचकारी बनाकर गुणरूपी गुलाल शरीर में ही घोलकर, अहंकार और सांसारिक माया-मोह को धूल के समान उड़ा दिया। प्रेम रूपी अबीर झोली में भर लिया। समस्त सांसारिक विभूतियाँ और विपत्तियाँ आश्रय न मिलने के कारण वेश्या के समान इधर-उधर भटकती हुई नृत्य कर रही हैं।[199]

आध्यात्मिक हिण्डोला

ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् वर्षा का स्वागत लोक-जीवन में विशेष उत्साहयुक्त होता है। इस दृष्टि से सावन के माह का महत्त्व है। इसमें तीज, नाग पञ्चमी तथा श्रावणी जैसे कई त्योहार मनाये जाते हैं। इस मास में आनन्दोल्लास का प्रवाह रहता है, जो हिण्डोला या झूला-झूलने के साथ व्यक्त होता है। सन्तों ने लोक की इसी भावना को ग्रहण किया है। उन्होंने दो खम्भों के मध्य डोरियों से डाले गए झूले का और उस पर पटरी डाल कर मादक भाव से झूलने की क्रीड़ा का विस्तृत उल्लेख किया है। इन प्रसंगों की मुख्य भावना आनन्दोल्लास ही है। कबीर ने हिण्डोले के खम्भों (दो), मेरु (ऊँचा भाग) जिस पर डोरी लपेटी जाती है, मरुआ (खम्भों के बीच लकड़ी), भँवरा (लोहे का घेरा), डांडी (रस्सी के साथ बाँधे जाने वाले बाँस या डण्डे) तथा पटली का उल्लेख कर उसका पूरा ढाँचा प्रस्तुत किया है।[200] सन्त गुलाल साहब, शब्द के हिण्डोले पर

---

१६७. पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ४२, पृ० २०

१६८. अब खेलत राधा स्वामी संग होरी।
धरन गगन बिच शोर मचा री॥
सागर कूप भरे सब रंग से।
मेरुदंड पिचकारी छोड़ी॥
भींज रहीं सखियाँ सब संग की।
बार बार रंग प्रेम निचोड़ी॥
—डॉ० सरल कुमारी, राधास्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० १५८

१६६. वही, पृ० १५८

२००. डॉ० शुकदेव सिंह, 'कबीर बीजक', पृ० १६२

झूलने का उपदेश देते हैं, जहाँ झूलने से अत्यधिक सुख की प्राप्ति होती है। पाँच सुहागिन नारी गाती हैं। आनन्द के हिण्डोले में झूलते हैं, जहाँ मंगलचार होता है। प्रिया अपने प्रियतम के संग झूलती है जो अवर्णनीय है। इस सुख को न दृष्टि से प्रगट किया जा सकता है न वाणी से ही।[२०१] सन्त दरिया साहब (बिहार वाले) विवेक-विचार द्वारा मुक्ति के हिण्डोलने में झूलना, सत-सुकृत दो खम्भे, सुरति की डोरी, प्रेम पटरी में बैठकर झूलने को कहा है।[२०२] यह हिण्डोला योग मुक्ति का होता है जहाँ अनहद नाद ध्वनित होता है, जो इसमें झूलता है वही करतार से मिल पाता है।[२०३] इस योग-मुक्ति रूपी हिण्डोले को गुरु ने सहज ही दिखला दिया। सन्त सुन्दरदासजी की आत्मा रूपी वधू अपने प्रियतम के साथ हिण्डोलने में झूलती है। उन्होंने उत्तम वस्त्र तथा आभूषण धारण किए हैं।[२०४] गुलाल साहब की मतवाली आत्मा परमात्मा के साथ गाँठ

---

२०१. शब्द के परल हिंडोलवा हो झूलब ताहि अधार।
झुलत झुलत सुख उपजै हो उठै सहज झनकार ॥
हिंडोलवा गुरुमुख झूलब झुलत झुलत जाइ पार।
गावहिं पाँच सोहागिनि हो छूटल झुलब हमार ॥
आनंद के झुलब हिंडोलवा हो तिहुँपुर मंगलचार।
पिय के सँग हम झुलब हो निस्चै प्रिय करतार ॥
निरखत निरख न आवै हो बरनत बरनि न जाय।
जो यहि झुलहिं हिंडोलवा हो चरनन चित लाय ॥
कह गुलाल हम झूलब हो सतगुरु के परताप।
चरन कमल मन रावल हो तहवाँ पुन्न न पाप ॥
—गुलाल साहब की बानी, शब्द ३, पृ० ७७

२०२. मुक्ति के हिंडोलना, झूलहिं बिबेक विचार ॥टेक॥
सत सुकृत दोउ खंभ गाड़े, सुरति डोरी लगाय।
प्रेम पटरी बैठि के, यह झुलहिं सन्त समाय ॥
इँगल पिंगला सुखमना, जहँ चले पवन सुधारि।
अर्ध उर्ध आवै दुवादस, चरन चित्त सम्हारि ॥
—दरिया साहब बिहार वाले की शब्दावली, पृ० ३८

२०३. जोग जुक्ति के हिंडोलवा, अनहद झनकार।
जो यह झुलहि हिंडोलवा, ताहि मिलहि करतार ॥
—भीखा साहब की शब्दावली, पृ० ३९

२०४. सुन्दरदास, 'सुन्दर ग्रन्थावली' प्रथम काण्ड, पृ० ३७९

जोड़कर सुरति डोर से बँधे निर्गुण हिण्डोले पर झूलने का दृढ़ संकल्प व्यक्त करती है।[२०५]

मिलनोद्दीपन

सन्तों ने परम्परागत षट्ऋतुओं एवं बारहमासे का सहारा लिया है। जिससे नायक-नायिका के रतिभावोद्दीप्त हो उठते हैं जो उसकी प्रणय-पिपासा को तीव्र कर देते हैं।

पावस ऋतु—पावस ऋतु का आगमन हो गया है। आकाश से सुहावनी बूँदे रिमझिम-रिमझिम बरस रही हैं। बादल गरज रहे हैं। पपीहा 'पी-पी' पुकार रहा है। चारों ओर ताल-तलैयों में जल भर गया है। सागर उमड़ आया है। ऐसे रससिक्त मादक वातावरण में अनुरागिनी प्रिया शय्यासीन अपने बाँके पिया की छवि निहार-निहार कर पुलकित-रोमांचित हो रही है।[२०६] बादलों की गरज सुनकर मेरा मोर रूपी मन शीतल हो गया है। अतः हे घन, तू बरस, जिससे मेरा (मोर रूपी) मन भीगे, आनन्दित हो। हृदय में अमृत की बूंदें अच्छी लग रही हैं।[२०७] अतः हे बादल ! तू बरस, क्योंकि मेरा प्रियतम घर आ गया है। इस पावस ऋतु में परमात्मा के प्रेम रूपी अमृतधारा की वर्षा होती है, ये अमृत वर्षा की बूंदें बड़ी सुहावनी होती हैं, सुन्दर वर्षा हो रही है, जो मेरे तन और मन को प्रेम सुख दे रही है।[२०८] इस अवस्था में जल की बूंदें बड़ी सुहावनी लग रही हैं। काली घटाओं ने चारों ओर से आकर आकाश

---

२०५. गुलाल साहब की बानी, शब्द १०, पृ० ८१

२०६. आजु झरि बरखत बुंद सुहावन,
पिया के रीति प्रीति छवि निरखत, पुलकि पुलकि मन भावन।
सुखमन सेज जे सुरत संवारहिं, झिल-मिल झलक दिखावन
गरजत गगन अनंद शब्द धुनि, पिया पपीहा गावन ॥
उमग्यो सागर सलिल नीर भरी चहूँ दिसि लागत सोहावन।
उपज्यो सुख सन्मुख तिरपित भयो सुधि बुधि सब बिसरावन।
—गुलाल साहब की बानी, शब्द ५, पृ० ३१-३

२०७. करउ बिनउ गुर अपने प्रीतम हरि वरु आणि मिलावै।
सुणि घनघोर सीतलु मनु मोरा लाल रती गुण गावै ॥
बरसु घना मेरा मनु भीना
अमृत बूंद सुहानी हो अरे गुरि मोहि मनु हरि रसिलीन ॥
—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ७४५

२०८. नानकवाणी, पृ० ६७३-७४

मण्डल ढँक लिया है। घने अन्धकार के मध्य में चपला चमक कर दीपों की कल्पना साकार कर रही है। मयूर मस्ती से नाचने लगे हैं। यह सारा वातावरण कामिनी के हृदय में प्रणय हिलोर उठाने के लिए पर्याप्त है। उसका मन तरंगित हो जाता है तथा वह मदमस्त हो प्रियतम के साथ आनन्द केलि-विलास में डूब जाती है। जिससे सुख के अमृतफल का अनुभव करती है।[२०९] आज का दिन बहुत ही सुहावना है, क्योंं वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है। राम-नाम रूपी बादल चारों ओर छाये हुए हैं। जिससे तन-मन में शीतलता आ गई है। जो मैंने प्रभु से माँगा उसने वही दिया।[२१०]

वसन्त-ऋतु–चैत में वसन्त अत्यधिक सुहावना लगता है। भौरों की गुञ्जार भी बड़ी सुहावनी प्रतीत होती है। वनों में वनराजि फूल पड़ती है।[२११] ऐसी ऋतु में यदि मेरा प्रियतम मेरे घर आ जाए तो आनन्द ही आनन्द हो जाए। इस ऋतु में कामिनी का मन उल्लसित हो उठता है और उसका चित्त प्रियतम की ओर उमंग से उमड़ पड़ता है। उनके साथ मिलकर प्रणय-क्रीड़ा करने का

---

२०९. हरि संग लागत बुंद सोहावन।
चहुँदिसि तें घनघोर घटा आई, सुख पावन डर पावन॥
बोलत मोर सिखर के ऊपर, नाना भाँति सुहावन।
आनन्द घट चहुँ ओर दीप बरे, मानिक जोति जगावन॥
रीझ रीझ पिया के रँग राते, पलकन चंवर डोलावन।
मंडो प्रेम मगन भइ कामिनी, उमंगि उमंगि रति भावन॥
—गुलाल साहब की बानी, शब्द ६, पृ० ३२

२१०. देखौ भाई आज भलो दिन लागत।
बरिषा रितु को आगम आयो बैठि मलारहिं रागत॥
राम नाम के बादल उनए घोरि घोरि रस पागत।
तन मन माँहि भई शीतलता, गेए विकार जु दागत॥
जा कारनि हम फिरत वियोगी निशदिन उठि उठि जागत।
सुन्दरदास दयाल भए प्रभु सोइ दियो जोइ माँगत॥
—सुन्दरदासजी कृत सुन्दरसार, पृ० २९२

२११. चैतु बसंतु भला भवर सुहावड़े।
बन फूले मंझ बारि मैं पिरु घरि बाहुड़ै॥
—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ६७४

अवसर प्रदान करने वाली यह ऋतु धन्य है।[२१२] इस ऋतु में पेड़ों में फूल सुशोभित होते हैं, जिस पर रस लोभी भौंरे गुञ्जार करते हैं। आम की डाल पर बैठे कोयल और तोते मधुर-मधुर गाने लगे हैं। चातक, मयूर, चकवा, चकोर समस्त पक्षी कलरव की ध्वनि गुञ्जित करते हैं।[२१३] कबीरदासजी के अनुसार तो इस ऋतु के फूलों पर समस्त जीव-जन्तु मोहित रहते हैं। फूलों में जैसे सुगन्ध रहती है ठीक उसी प्रकार घट-घट में ईश्वर है। मन अत्यधिक आनन्दित है, क्योंकि परमानन्द प्रभु से मिलन हो जाता है।[२१४] यह वसन्त ऋतु अनुपम है। कोकिला की बोली आनन्दरस उड़ेलती है।[२१५] इस वसन्त ऋतु में राधिका क्रीड़ा करती हैं। अनेक प्रकार के वाद्य बजते हैं जिससे सभी वृन्दावन के नर-नारी उल्लसित होते हैं। यह सुख अवर्णनीय है, क्योंकि वह

---

२१२. खेलत वसंत मन मगन मोर। उमँगि उमँगि चित प्रभु की ओर।।
आतम फूल्यो भयो भोर। रितु वसन्त मिलो मनुवाँ घोर।।
धन्य भाग अस मिले बसन्त। आपहि अपने खेलत संत।।
कह गुलाल नहि भाग थोर। प्रान प्रिया संग मिलल जोर।।
—गुलालसाहब की बानी, शब्द ४, पृ० ८८

२१३. सहज फूल फर लाग्ल बारह मास।
भँवर करत गुंजारनि विविध बिलास।।
अम्ब डार पर बैसल कोकिल कीर।
मधुर-मधुर धुनि बोलत सुख कर सीर।।
अंबर अनेक बिहंगम चातक मोर।
चकवा कोकिल केकिम प्रकट चकोर।।
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ३७८

२१४. वनमाली जानै बन की आदि, राम नाम बिन जनम बादि।
फूल जु फूले रितु बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत।।
फूलनि में जैसे रहै तबास, यूं घटि-घटि गोबिन्द है निवास।
कहै 'कबीर' मनि भया अनंद, जगजीवन मिलियौ परमानन्द।।
—भक्तिकालीन काव्य में राग और रस, पृ० १८६

२१५. आयो बसंत-रितु अनूप, कंत नूत भोरे।
बोलत बन कोकिला, मानों कहू रस ढोरे।।
—वही, पृ० २१३ से उद्धृत

रोम-रोम में समाहित हो गया है।[२१६] सेवादासजी ने आध्यात्मिक पक्ष पर बल देते हुए वसंत उत्सव के वर्णन में अनहद तूर के बजने की कल्पना, इसी प्रभाव के कारण की है।[२१७] इस ऋतु में कामिनी का मन उल्लसित हो उठता है और उसका चित्त प्रभु प्रियतम की ओर उमंग पड़ता है। प्रिया-प्रिय को केलि-विलास का अवसर मिलता है अतः इनका भाग्य वसन्त ऋतु में धन्य है।

बारहमासा—प्राचीन काल से ही बारहमासा एवं ऋतुओं का वर्णन सन्तों ने किया है। संयोग से जब सच्चा प्रियतम सहजभाव से आकर मिल जाता है तो बारह महीने, छह ऋतुएं, पन्द्रह तिथियां और सातों दिन, तथा घड़ी-मुहूर्त, पल सभी कुछ अच्छे लगते हैं, क्योंकि हरि मिलने का उल्लास प्रत्येक क्षण बना रहता है। प्यारे प्रभु के मिलने पर समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जिन जीवात्मा रूपी स्त्रियों ने शुभ गुणों और सदाचरण से अपना शृंगार किया है, वे ही प्रियतम हरि की प्यारी हैं। प्रियतम हरि से मिलन हो जाने से वे निरन्तर आनन्द मनाती हैं। जब प्रियतम हरि उन्हें भोगता है तो उनके घर और सेज सुहावनी हो जाती है।[२१८] पूस के आगमन पर घर-घर, नगर-नगर,

---

२१६. बसन्त खेलत राधिका प्यारी।
गावत, नाचत, वेनु बजावत, अंशभुजा धरि कुंज बिहारी॥
साखि, जवादि, कुमकुमा, केसरि छिरकत मोहन भूमक सारी।
उड़त अबीर, पराग, गुलालहि, गगन न दीसै, दिनु भयौ भारी॥
ताल, रबाव, मुरज, डफ, बाजत, मुदित सबै बृन्दाबन-नारी।
यह सुख देखत नैन सिरावैं 'व्यासहि' रोम रोम सुखकारी॥
—भक्ति कालीन काव्य में राग और रस, पृ० २२०-२२१

२१७. सषी हौ भाग हमारे पूरा।
बेलू सरस बसंत पीव संगि बाजै अनहद तूरा॥टेक॥
इला पिंगुला समि करि रखूं मधि सुषमनां आंनी।
पांच सखी मिलि षेलन लागी, सुनि मण्डल कै छाड़ो॥
परमात्मा सूं आतममेला बेणि मधुर धुनि बाजै।
मन निहचल निरभै सुष लागा, परमसुष मन पाया॥
जन सेवादास आनंद सुष विलसै, सतगुर अलष लषाया।
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुलसीदास निरञ्जनी, पृ० २००

२१८. नानकवाणी, पृ० ६७६

सर्वत्र दु:ख-द्वन्द्वों के निवारण के साथ ही सुख का साम्राज्य छा जाता है।[२१९] इस माह में अत्यधिक शीत होती है। हरि रूपी ओढ़ने को ओढ़ लेने पर अत्यधिक आनन्द का अनुभव होता है।[२२०] माघ में ज्ञान तीर्थ को अपने अन्तर्गत ही जानकर मैं पवित्र हो गई। सहज भाव से मुझे साजन मिल गए। उनके गुणों को मैंने अपने अन्त:करण में धारण कर लिया। इसमें हरि का जप ही महा अमृत रस है, और यही अड़सठ तीर्थों का स्नान है।[२२१] माघ तथा वसन्त ऋतु में समस्त वन-झाड़ियां फूल उठती हैं। इसी भाँति इसी ऋतु में देव मुरारी प्रियतम से संजोग होता है।[२२२] फागुन में जिन्हें हरि का प्रेम प्राप्त हो गया उनके मन में प्रसन्नता है। अपनेपन को नष्ट करने से अहर्निश आनन्द प्राप्त हो गया। उस प्रभु को अच्छा लगने पर मन के मोह समाप्त हो गए। प्रियतम हरि के चाहने पर मैं हार, डोर, पाट, पाटम्बर से सजाई गई। हे नानक! गुरु ने जीवात्मा रूपी स्त्री को अपने में मिला लिया जिसके फलस्वरूप स्त्री रूपी जीवात्मा ने अपने घर रूपी हृदय में ही परमात्मा को पा लिया।[२२३]

---

२१९. पूस पलटि प्रभु आयऊ, प्रगटेव परम अनन्द।
घर घर नगर नगर सुखी, मिटेव दुसह दुख-द्वन्द।।
—धरनीदासजी की बानी, पृ० ५०

२२०. पूस जु मास हवाल है, जाड़-जाड़ नियराय।
ओढ़न जब हरि मिलन को, आनन्द प्रेम अघाय।।
—भीखासाहब की शब्दावली, पृ० ३७

२२१. माघि पुनीत भई तीरथु अन्तरि जानिआ।
साजन सहजि मिले गुण गहि अंकि समानिआ।।
प्रीतम गुसाअंके सुणि प्रभु बंके तुधु भावा सरि नावा।
गंगु जमुन तह बेणी संगम सात समुन्द समावा।।
पुंन दान पूजा परमेसुर जुगि जुगि एको जाता।
नानक माघि महारसु हरि जपि अढ़साठ तीरथ नाता।।
—नानकवाणी, पृ० ६८५-७६

२२२. माघ मास जू बसन्त रितु, फुल्यो काया बन झारि।
सगुन संजोग विविध तन, मिलि हैं देव मुरारि।।
—भीखा साहब की शब्दावली, पृ० ३७

२२३. फलगुनि मनि रहसी प्रेम सुभाइआ।
अनदिनु रहसु भइआ आपु गवाइआ।।
मन मोहु चुकाइआ जा तिसु भाइआ करि किरपा घरि आओ।
बहुते बेस करी पिर बाझहु महली लहा न थाओ।
हार डोर रस पाट पटम्बर पिरि लोड़ी सीगारी।
नानक मेलि लई गुरि अपणै घरि वरु पाइआ नारी।।१६।।
—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ६७६

वैशाख ऋतु श्रेष्ठ है। इस महीने में वृक्षों की शाखाएँ खूब वेश बनाती हैं अर्थात् फूलती-फलती हैं। स्त्री अपने द्वार पर खड़ी होकर प्रियतम हरि की प्रतीक्षा करती है और कह उठती है "हे प्रियतम! दया करके अब घर आ जा और इस दुष्कर संसार सागर से तार। तेरे बिना मेरा कौड़ी मात्र भी मूल्य नहीं है। यदि मैं तुझे अच्छी लगूँ तो मेरी कीमत कौन पा सकता है। हे प्रियतम! मैं तुझे दूर नहीं मानती, अपने अन्तर्गत ही मानती हूँ, अतः मैंने हरि का निवास-स्थान पहचान लिया। हे नानक, इस प्रकार वैशाख में सुहागिनी स्त्री को प्रभु अच्छा लगता है।[२२४] जेठ के सुन्दर महीने में प्रियतम को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। स्त्री अपने प्रियतम से विनय करती है। स्त्री परमात्मा के गुणों को स्मरण करती हुई विनती करती है कि हे प्रभु! मैं तेरे गुणों को याद करती हूँ, ताकि मैं तुझे अच्छी लगूँ। जेठ में उस प्रभु के जानने से जीवात्मा रूपी स्त्री उसी के समकक्ष हो जाती है।[२२५] भादों माह में स्त्री पूर्ण-यौवन युक्त है। इस ऋतु में वर्षा हो रही है और लोग रंग मना रहे हैं। बिना प्रियतम के ऐसे समय मे स्त्री को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? मेढ़क और मोर बोल रहे हैं। पपीहा 'पी-पी' कहकर बोल रहा है। साँप प्राणियों को डसते फिरते हैं, मच्छर डंक मारते हैं, सरोवर लबालब भरे हैं। ऐसे समय में स्त्री बिना प्रियतम हरि के कैसे सुख पा सकती है?[२२६] भादों मास में बिना पति के जीवित रहना कठिन है, अतः सहेली उसे मान त्याग कर प्रिय को अपना लेने का आग्रह करती है।[२२७] हे प्रियतम! आश्विन के महीने में मिलो क्योंकि मेरे और तुम्हारे मध्यस्थ सदगुरु हो गये हैं। जीवात्मा रूपी स्त्री प्रियतम हरि से तभी मिलती है, जब प्रभु स्वय कृपा कर मिलते हैं। कोकाबेली और कास आदि फूल गये हैं। दसों दिशाओं में शाखाएँ हरी-हरी दिखाई पड़ रही हैं। वृक्षों में लगे हुए फल सहज भाव से पक कर मीठे हो रहे हैं।[२२८] कातिक में

२२४. डॉ० जयराम मिश्र, नानक वाणी, पृ० ६७४
२२५. वही
२२६. वही पृ०, ६७५
२२७. भामिनि भइल जोबन तन, भजि लेहु भादौं मास।
पत न रहहि निज पती बिनु, ह्वैहैं जग उपहास॥
—धरनीदासजी की बानी, पृ० ३९
२२८. असुनि आउ पिरा साधन झूरि मुई।
ता मिलिए प्रभ मेले दूजे भाइ खुई॥
झूठि विगुती ता पिर मुती कुकह काह सि फुले।
आगै घाम पिछै रुति जाड़ा देखि चलत मन डोले॥
दह दिसि साख हरी हर आवल सहजि पकै सो मीठा।
नानक असुनि मिलहु पिआरे सतिगुर भये बसीठा॥
—नानकवाणी, पृ० ६७५

उसी को फल प्राप्त होता है जो उस प्रभु को अच्छा लगता है। वही दीपक सहज भाव से जलता है, जो ज्ञान-तत्त्व से जलाया जाता है। इस दीपक में प्रेम रस का तेल है। उस दीपक के प्रकाश में स्त्री और पति जीवात्मा तथा परात्मा का मिलाप होता है, अतः जीवात्मा रूपी स्त्री मिलने के उत्साह से आनन्दित हो जाती है।[२२९]

मधुर रस का वियोग पक्ष—साहित्य में शृङ्गार को रसराज कहा गया है। जिसमें विप्रलम्भ शृंगार प्रमुख है। गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है कि नारद ने भक्ति सूत्र में भगवान् के प्रति जिन एकादशसक्तियों का विवेचन किया है उनमें परमविरहासक्ति को प्रमुख माना है तथा विरह को राजमार्ग और प्रेम करने की एक शैली मानी है। यह प्रेम का वह राजपथ है जिस पर चलकर प्रेमीजन अपनी मंजिल तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। विरह को प्रत्येक साधना-साहित्य में प्रेम के उद्दीपक तत्त्व के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। विरहावस्था में ही भक्त को भगवान् के अद्भुत मधुर लीला विलास का वास्तविक अनुभव होता है।

विरह अनुभूति साधना की एक पहुँची हुई अवस्था है। सन्त तुरसीदास-निरञ्जनी के विचार से जिस हृदय में यह विरह वेदना उत्पन्न होती है, वह जन बड़भागी है।[२३०] कबीरदासजी भी इस विरह का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहते एवं विरह को प्रिय संजीवनी मूरि मानकर उसे अपारशक्ति का स्रोत कहा है। विरह विरहित 'घट' को 'मसान' कहकर उसकी भर्त्सना की है।[२३१] क्योंकि विरह के पश्चात् ही प्रेम की उत्पत्ति होती है।[२३२] बिना विरह

---

२२९. करति किरतु पाइआ जो प्रभ भाइया।
दीपकु सहजि बलै तति जलाइआ॥
दीपक रस धन पिर मेलो धन ओमा है सरसी।
—नानक वाणी, पृ० ६७५

२३०. जा उसमें उतपन भया, बड़ भागी जन सोय।
तुरसी या विरहा किधौ, मेरी जीवनि जोय॥
—निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० ६६

२३१. विरह विरह मत कहो, विरहा है सुल्तान।
जा घट विरह न संचरै, सो घट जानहु मसान॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४३

२३२. पहली आगम विरह का, पीछै प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन, तहाँ मिलन की आस॥
—सन्त काव्य, पृ० २६२

के प्रियतम से मिल पाना असम्भव है।[२३३] प्रेम की जो गहनता, अनुराग की जो तरलता, भावावेगों की जो तीव्रता और रस की जो संवेद्यता विरह दशा में पायी जाती है वह मिलन दशा में नहीं। इसी लिए विरह को प्रेम की जागृत गति कहा गया है। प्रेम को सतत् जागृत रखने के लिए विरह की पीर को आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी मानते हैं। जिसके शरीर में विरह की पीड़ा नहीं है, वह शरीर निर्जीव अस्थिपंजर ही है।[२३४] सन्त दरिया साहब (मारवाड़ वाले) कहते हैं कि प्रभु कृपा से ही विरह का आगमन होता है, इस विरह ने ही मुझ सोते हुए को जागृत किया।[२३५] विरह का क्षेत्र अत्यधिक विकसित होने के कारण सन्तों ने विरह के तीन चरण स्वीकृत किये हैं :—

(१) प्रवर्त्तक दशा (२) साधक दशा (३) महाभाव दशा।

प्रवर्त्तक दशा—इस अवस्था में साधक विरहिणी नारी के सदृश अत्यन्त विह्वल होकर प्रियतम प्रभु के समागम की कामना करता है तथा सांसारिक माया-मोह से मुख मोड़ लेता है, समस्त स्थान में प्रभु को ही देखता है, समस्त सुखों को हेय दृष्टि से देखता है।[२३६] हरि की कृपा से ही साधक के अन्तर्मन में विरह-भाव का उदय होता है। प्रियतम राम के बिना मन मन्दिर सूना

---

२३३. दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहाँ मिलै सों पीव।।
—सन्त सुधासार, रज्जबजी, पृ० ५२७

२३४. विरह की पीर जिस गात गूदा नहीं,
बीझ पिंजर गया अस्थि सूखा।
उनमुनि रेखा धुन ध्यान निःचल भया।
पाँच जहूद तन ठीक फूंका।।
लगैगी दाह जब बाहै देता फिरै।
बिरह के अंग में रोवता है।
पलक आँझू झरै ध्यान विरहन धरै।
प्रेम रस रीत तन धोवता है।।
—गरीबदासजी की बानी, पृ० ११०-१११

२३५. दरिया हरि किरपा करी, विरहा दिया पठाय।
यह विरह मेरे साथ को, सोता लिया जगाय।।
—दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, 'बिरह का अंग', साखी, पृ० ११

२३६. निरञ्जन सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० ६८

हो जाता है। उसे घर-बार कुछ भी अच्छा नहीं लगता है विरह बाण हृदय के अन्तः में लग गया है जिससे घायल जैसी गति हो गई है।[२३७] यह वियोग दिन-रात मुझे सताता है, जिससे निद्रा नहीं आती, विरह रूपी तरु को काटा भी नहीं जा सकता, क्योंकि स्वयं ही इस बीज को बोया है।[२३८] हरि दर्शन की आशा प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। इन नयनों से मैं कब अपने प्राण स्नेही को देखूंगी। एक पल या आधी घड़ी भी प्रभु को विस्मृत नहीं किया जा सकता है, एक-एक साँस में उसका स्मरण करते हैं। उन्हें न घर शान्ति मिलती है न बाहर, इस चिन्ता में शरीर सुख कर काँटा हो गया है। उसमें न रक्त रह गया है न मांस। इतना दुःख पाते हुए भी साधक को संयोग की अपेक्षा वियोग अधिक सर्वश्रेष्ठ लगता है।[२३९] समस्त सन्तों ने एक स्वर से इसकी महत्ता को स्वीकृत किया है।

साधक दशा—यह विरहानुभूति की द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था में साधक अपने को स्वयं विरहणी की अवस्था में रख लेता है। प्रियतम दर्शन बिना उसे एक क्षण भी शान्ति नहीं मिलती। विरहणी के हृदय में एक कल्पना करुणा के सौ वेष बनाकर आँसू बहाया करती है। विरहिणी प्रतीक्षा करती है, प्रिय की बातें सोचती है, गुण वर्णन करती है, विलाप करती है, आशा रखकर मन को सन्तोष देती है, याचना करती है। कबीर की जीवात्मा भी ऐसी विरहिणी से कम नहीं है। इनकी जीवात्मा ने स्वयं ऐसी विरहिणी का वेश धर लिया होगा जिसे बिना प्रियतम के दर्शन के एक क्षण भी शान्ति न मिलती होगी। जिस प्रकार विरहिणी के हृदय

२३७. म्हारो मंदिर सूनो राम बिन, विरहिण नींद न आवै रे।
पर-उपकारि नर मिलैं, कोइ गोविन्द आन मिलावै रे॥
चेती विरहिण चित न भाजे, अविनासी नहिं पावै रे।
यहु वियोग जागै निशि बासर, विरहा बहुत सतावै रे॥
विरह बियोग विरहिणी बींधीं, घर बन कछू न सुहावै रे।
दह दिसि देखि भयौ चित चकरित कौन दसा दरसावै रे॥
ऐसा सोच पड़या मन माहीं, समझि-समझि धुंधावै रे॥
बिरह बान घटि अंतर लाग्या, घाइल ज्यूं घुमावै रे।
विरह-अग्नि तन पिंजर छीनां, पिव कूं कौन सुनावै रे॥
जन रज्जब जगदीश मिले बिन, पल-पल बज्र विहावै रे।
—सन्त सुधासार, रज्जबजी, पृ० ५१५

२३८. सन्त बानी-संग्रह, भाग २, सुंदरदासजी, पृ० ११०

२३९. सन्त बानी-संग्रह, स्वामी सुन्दरदासजी, पृ० ६५३

में एक कल्पना करुणा के सौ-सौ वेश बनाकर आँसू बहाया करती है उसी प्रकार कबीर के मन का एक भाव न जाने करुणा के कितने रूप रखकर प्रकट हुआ है।[२४०] वह परमात्म की याद सौ प्रकार से करती है, उसके विरह में तड़पती है। अपनी करुणाजनक अवस्था पर स्वयं विचार करती है और हजारों आकांक्षाओं का भार लेकर उत्सुकता और अभिलाषाओं का समूह लेकर याचना की तीव्र भावना एक साथ ही निकालकर कह उठती है।[२४१] विरहिणी की रग-रग में प्रेम की पीर समा जाती है, आत्मा परमात्मा के दर्शन के लिए तलफती है, उसे परमात्मा के दर्शन पाने के अतिरिक्त और कुछ भी सुहाता नहीं है। संसार में खान-पान, भोग-विलास यहाँ तक भोजन और वस्त्र तक विरहिन आत्मा को झुलसाने वाले प्रतीत होते हैं, उसके सुख का आधार केवल परमात्मा का दर्शन ही है।[२४२] ब्रह्म साक्षात्कार के बिना रात-दिन दुःख से ही जाते हैं। प्रियतम के दर्शनों से मैं दूर ही हूँ, उनका चरणस्पर्श मुझे नहीं मिल रहा है, न वे कुछ मुझे समाचार ही सुना रहे हैं। मेरे हृदय में भयंकर पीड़ा हो रही है, यह प्रसिद्ध शत्रु विरह हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर देगा। जिस चिन्ता से शरीर सूखता जा रहा है। प्रियतम प्रभु के बिना विरहाग्नि की सूक्ष्म ज्वालायें मेरे चारों ओर उठ रही हैं। वह प्रभु दर्शन के बिना किसी प्रकार भी अन्य उपाय से नहीं बुझती। विरहिणी आत्मा प्रिय दर्शन के बिना बावली हो जाती है, उसे भोजन, सिंगार करना भी अच्छा नहीं लगता।[२४३] पल-पल में उठकर प्रियतम पंथ को निहारती है। देह की दशा अवर्णनीय है, यदि प्रियतम को प्राप्त कर लूँ तो सहजानन्द के आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।[२४४] विरहिणी

२४०. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६७

२४१. नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
पपिहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कब रे मिलहुगे राम॥

वही, पृ० ६७

२४२. डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० ७१

२४३. रज्जबवाणी पृ० ११०५-६

२४४. भई कंत दरस बिनु बावरी
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की, मूरख जानै आवरी।
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि, बिसरि गयो चित चावरी।
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूति अभाव री॥
खिन-खिन उठि-उठि पंथ निहारों, बार-बार पछितावरी।
नैनन अंजन नींद न लागै, लागै दिवस विभाव री॥
देह दसा कहु कहत न आवै, जस जल ओछे नाव री।
धरनी धनी अजहुँ पिय पाओं, तो सहजै अनन्द बधाव री॥
—धरनीदासजी की बानी, शब्द १, पृ० १४

विरहाग्नि में निरन्तर जलती हुई मनमोहन प्रियतम के मधुर दर्शन के लिए उत्कंठित है। विरह की व्यथा ने उसे आकुल-व्याकुल कर दिया है, वह रात-दिन उनकी प्रतिक्षा करती है। यह वियोग जन्म-जन्मान्तर तथा युग-युगान्तर का है। अनन्तकाल से विरह की तीव्र ज्वाला में वियोगिनी को जलाते रहने में भला उन्हें क्या मिलता है? एक पल भी उन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता। बौराई हुई वह प्रभु के राह को निहारती रहती है, कभी उठती है, कभी गिर पड़ती है। अपने मन को कहती है, सुन्दर स्याम के बिना एक क्षण भी जीवित रहना व्यर्थ है।[२४५] सन्तों ने विरह की साधक दशा के अन्तर्गत वियोगिनी आत्मा के अन्तर्मन में जागृत विरह व्याथा की बड़ी ही मार्मिक व्यञ्जना की है।

महाभाव दशा—यह विरह की अन्तिम तथा तृतीय अवस्था है। यह विरह की सिद्धावस्था है, इसमें आत्मा-परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। आत्मा अपने में ही परमात्मा का अस्तित्व मानती है। उसी के गुणों का वर्णन करती है, तथा उसी के रंग में रँग जाती है। सन्त पलटू साहब इसी महाभाव दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह अपने पिया को ढूंढ़ने निकली थी पर स्वयं ही खो जाती है। मैं जिस प्रियतम के ध्यानस्थ थी उसी के अनुरूप हो गई। अग्नि में जो वस्तु पड़ती है वह अग्नि हो जाती है, मृगी कीट को अपने अनुरूप बना लेता है। शक्ति शिव से मिलने के बाद फिर शक्ति नहीं रह जाती।[२४६] इसी भाव का कदबीरदासजी ने उल्लेख किया है कि प्रभु को जहाँ देखो वहीं है, उस सर्वव्यापी प्रियतम को मैं खोजने गई कि मैं स्वयं भी प्रियतम के अनुरूप हो गई।[२४७] यह नेत्र प्रभु रूप दर्शन में, रसना रसपान में और श्रवण मधुर ध्वनि में विभोर हो गए तब फिर उस आनन्द का वर्णन कौन करे? अतः 'जिन पाया तिन बिलसिया' ही कहना पड़ता है।[२४८] डॉ० रामकुमार वर्मा के कथना-

२४५. दयाबाई की बानी, पृ० ६-७
२४६. पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ६०, पृ० २७-२८
२४७. लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल॥
सन्त-सुधासार, कबीर साहब, साखी १२, पृ० १२८
२४८. री भाई कासूं कहूँ, हरि सुष की बातें।
जिन पाया तिन बिलसिया बिसरे दुष तातें॥
नैन थके रंग रूप में रसना रस भूली।
मन तन में फिर आइया, भ्रमना बिसराई।
जा घरते बिछुरे हुते सो ठाहर पाई॥
बिलीमान भई बासना, उपज्यो ब्रह्म ग्याना।
जन तुरसी सुष पाइया सुमिरत निरबाना॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र, निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, पृ० १०२-३

अनुसार माया के वातावरण में आत्मा और परमात्मा दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं, पर जब दोनों आपस में मिलती हैं तो परमात्मा के गुणों का प्रवाह आत्मा में इतने वेग से होता है कि आत्मा के स्वाभाविक निज के गुण तो लुप्त हो जाते हैं और परमात्मा के गुण प्रकट जान पड़ते हैं। यही अभिन्नत्व रहस्यवादियों की चरमसीमा है।[२४९] अतः इस विरह की अन्तिम महाभाव दशा में आत्मा-परमात्मा की भिन्नता लेशमात्र भी नहीं रहती है।

विरह-भेद—पूर्वराग, मान, प्रेम वैचित्र्य, प्रवास ये चार प्रमुख भेद काव्य-शास्त्रीय तथा वैष्णव रसशास्त्र के अनुसार हैं। प्रेम वैचित्र्य का सन्त-साहित्य में पूर्ण अभाव है। प्रिय के निकट रहते हुए भी दुःख का वर्णन करना ही प्रेम वैचित्र्य है जो सन्तों को मान्य नहीं है। संयोग में वियोग का वर्णन करना अस्वाभाविक है। पूर्वराग एवं प्रवास विरह का आधिक्य है। मान से सम्बद्ध विरह यदा-कदा है। अतः इन तीनों विरह का वर्णन करना आवश्यक है।

पूर्वराग—पहले कभी जिनका मिलन न हुआ हो इस प्रकार के प्रिय-प्रिया का अनुराग पूर्वराग कहलाता है। यह अनुराग विलक्षण है, इसे वही जान सकता है जिसके हृदय में प्रेम बाण लग चुका है।[२५०] राम स्नेही के हृदय में ही विरह ज्वाला उत्पन्न होती है एवं परमात्मा को देखने की उत्सुकता भी बढ़ती है।[२५१] प्रिय दर्शन के लिए हृदय व्याकुल रहता है।[२५२]सोते-जागते सदैव हरि का ही स्मरण करती है।[२५३] सन्त सुन्दरदासजी की विरहिणी आत्मा दुःख भरी वाणी से कहती है कि प्रिय के मार्ग को देखते-देखते आँखों में आँसू आ जाते हैं तथा शरीर भी सूख गया है। प्रियतम विरह में भोजन,

---

२४९. डॉ रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० २२

२५०. प्रेम बान जाके लगा सो जानेगा पीर।
सो जानेगा पीर काह मूरख से कहिए॥
—पलटू साहब की बानी, भाग १, पृ० ३१

२५१. विरह ज्वाल उपजी हिये राम सनेही आय।
मन-मोहन सोहन सरस, तुम देखन दा चाय॥
—सन्त बानी-संग्रह, भाग १, दयाबाई, पृ० १७१

२५२. बिरह बिथा सूं हूँ बिकल, दरसन कारन पीव।
'दया' दया की लहर कर, क्यों तलफावो जीव॥
—वही, पृ० १७

२५३. बहुतक दिन बिछुरें भये प्रीतम प्रान अधार।
सुन्दर बिरहनि दरद सौं निसदिन करै पुकार॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, साखी २४, पृ० ६८५

शयन, निद्रा का भी परित्याग कर दिया है। विरहिणी को तब सुख की प्राप्ति होगी जब प्रभु के दर्शन हो जायँगे।[२५४] उसका चित्त तो प्रणय पिपासा के कारण शिथिल हो चला है। उससे अब बोलते भी नहीं बनता। अपने घर की देहली पर्वत-सी दुर्लंघ्य और अपना ही आँगन परदेश-सा प्रतीत हो रहा है। प्रियतम वियोग में एक क्षण भी युग सदृश प्रतीत हो रहा है। वह पराये हाथ बिक चुकी है, अतः लाचार है। स्वामी के प्यार में लिप्त हो जाने के पश्चात् उसका पृथक् अस्तित्व उसी तरह मिट गया जैसे नमक पानी में मिलकर अस्तित्वहीन हो जाता है।[२५५] सन्त बावरी साहब के मतानुसार यह मन तो पतंग बनकर भँवरें ले रहा है, क्योंकि साँवली सूरति के लिए मैं बावली हो गई हूँ।[२५६] पूर्वराग विरह में सन्त गरीबदास की आत्मा कह उठती है कि जब-जब प्रिय की याद आती है तब-तब विरहाग्नि प्रज्वलित होने लगती है। चातक, मोर, कोकिला की बोली कर्कश लगती है, पावस ऋतु में धरती में हरियाली छा जाती है, पर हमारा हृदय प्रभु विरह में अति दुःखी है, जो हरि दर्शन से ही दूर होगा।[२५७] प्रभु प्रियतम राम की दर्शनाभिलाषी विरहिणी

---

२५४. हो बैरागी राम तजि किहि देश गये।
ता दिन ते मोहि कल न परत है परबसि प्रान भये॥
भूखँ पियास नींद नहीं आवै नैननि नेम लये।
अंजन मंजन सुधि सब बिसरी नख शिख बिरह तपे॥
आपु कृपा करि दरसन दीजै, तुम कौन रिझये।
सुन्दर बिरहनि तब सुख पावै, दिन दिन नेह नये॥
—सुन्दर दर्शन, पृ० २६७-२६८

२५५. पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ८६, पृ० ४९-५०

२५६. बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरे नित भाँवरी।
भाँवरी जानहि संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दर साँवरी॥
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, देकरि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरी सौंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी॥
—परशुराम चतुर्वेदी, संत-काव्य, 'सन्त बावरी साहिबा',
पृ० ३१४-३१५

२५७. जब-जब सुरति आवती मन में, तब-तब विरह अनल परजारै।
नैननि देखौं बैन सुनौं कब, यह वेदन जिय मारै॥
चातक मोर कोकिला बोलत मानो करवत नख-सिख सारै।
पावस रितु रंगति सब वसुधा, दारुन दुख उर दोनों धारै॥
चन्दन चन्द सुगन्ध सहित सब, कोमल कुसुम सार की आरै।
रितु बसन्त मोरे द्रुम सबहीं मानों डसै भुवंगम कारै॥
सुन री सखी यह विपति हमारी, बिन दरसन अति विरहा बारै।
गरीबदास सुख तबहीं लेखो, जबहीं जोति हि जोति बारै निहारै॥
—स्वामी गरीबदास सन्त सुधासार, पद ४, पृ० ५०५

प्रियतम राम के लिए निर्निमेष जागी रहती है। दशों दिशाओं में खोजती है तथा राह देखती रहती है। चातक जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र की कामना करता है वैसे ही मैं तुम्हारी एकनिष्ठ अनुरागिनी हूँ।[२५८] इस प्रकार सन्तों का पूर्व-राग विरह निर्गुण होते हुए भी हृदयस्पर्शी है।

मान-मोचन—मान विरह वास्तव में प्रेम को तीव्र रूप देने के साधन हैं। जब स्नेह उत्कर्षता को प्राप्त होकर भक्त को प्रेम विषय (श्रीकृष्ण) की माधुरी का एक नवीन अनुभव करता है एवं स्वयं भी अपने भाव के गोपन करने के लिए कुटिलता धारण करता है, तब प्रेम की उस स्थिति को मान कहते हैं। स्नेह की अपेक्षा मान में ममता बुद्धि अधिक है। मान की कुटिलता स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता नहीं, किन्तु प्रीति का ही एक रूप है।[२५९]

वैष्णव रस साधना में नायिका मान करती है और नायक उसके उपशम के निमित्त प्रयास करता है। सन्त साहित्य में ऐसा मान नहीं है, क्योंकि सन्तों ने नायिकारम्य मधुर रस की योजना की है। प्रिय समागम हेतु भक्तभामिनी स्वयं सचेष्ट रहती है। अतः मान विरह अल्पमात्रा में सन्तों के काव्य में उपलब्ध है। सखी अपनी सहेली को समझाती है कि ऐ अज्ञानिनी (स्त्री) मान क्यों करती है? अपने घर (मन) में हरि के प्रेम का रस क्यों नहीं लेती? हे मूर्ख स्त्री! तेरा पति परमात्मा तेरे पास ही है, फिर बाहर क्यों ढूँढ़ती फिरती है? हरि के भय के सुर में सलाइयाँ अपनी आँखों में लगा और प्रेम का शृंगार कर।[२६०] दरिया साहब (मारवाड़े) की सखी प्रियतम से रूठी-कामिनी को समझाती हुई कहती है,—'हे सखी! बिना गुरु ज्ञान के इस संसार रूपी वन में भटकना व्यर्थ है। ऐसे जीने को तो बार-बार धिक्कार है। स्वर्णाभूषणों एवं बहुमूल्य परिधानों से अलंकृत शरीर एक दिन मिट्टी में मिल जायेगा एवं पानी के बुदबुदों के समान क्षणभंगुर है। बिना प्रियतम के नैहर में भटकना व्यर्थ है, अतः ससुराल समस्त सुखों की खान है। मान का परि-त्याग कर प्रियतम की बहारों भरी नगरी में जाकर अखण्ड सुहाग का अमृत-फल चख।[२६१] सन्त धरनीदासजी की मानवती आत्मा को भी ऐसी ही सीख मिलती है। अरी सखी! देख बैसाख का महीना आ गया। यह सँवरने का

---

२५८. परशुराम चतुर्वेदी, सन्त-काव्य, 'सन्त रामचरन', पृ० ५०६-५०७

२५९. डॉ० रूपनारायण, ब्रज भाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति, पृ० २६८-२६९

२६०. नानकवाणी, पृ० ४३०

२६१. मधुररस स्वरूप और विकास, भाग २, पृ० ४३१ से उद्धृत

मौसम है। मेरी सीख मान ले और तू झटपट अपना शृंगार रचाकर सज-सँवर ले और आकर्षक रेशमी वस्त्र पहन ले। अरी पगली ! आज भी सँभल जा, गले में हार डाल ले और व्यर्थ का मान त्याग कर प्रिय समागम के लिए तत्पर हो जा।[२६२] बैसाख के पश्चात् जेठ का महीना आ गया, यौवन के गर्व में भटको नहीं। समस्त छल-बल का परित्याग कर उनका मधुर सहवास प्राप्त कर ले। भादों का महीना आ गया। इस महीने में बिना पति के प्रतिष्ठा नहीं मिलती, अतः स्वामी के स्नेह बंधन का स्मरण कर मान का परित्याग कर दे और उन्हें अपने हृदय में धारण कर ले। पलटू साहब के कथनानुसार हे बावली ! वायु रूपी वसन्त चली जा रही है, पर कंत रूपी प्रभु घर नहीं आते, अतः धिक्कार है तुम्हारे जीवन को जिसने कंत के बिना जीवन व्यतीत कर लिया। यौवन रूपी वसन्त आयु में तू खेल ले नहीं तो बाद में पश्चात्ताप करना पड़ेगा।[२६३] सखी अन्त में समझाती है कि उन सुहागनियों ने परमात्मा रूपी पति को प्राप्त किया है जो गुणों में मुझसे बढ़कर हैं। मैं गुणविहीन हूँ फिर प्रभु को किस प्रकार दोष दूँ। अतः जिन सखियों ने पति परमात्मा के साथ रमण किया है उनके पास जाकर मैं पति से मिलने की विधि पूछूँगी। उनके पाँव लगूँगी, विनती करूँगी और रास्ता पूछ लूँगी। इस प्रकार सन्त नानक कहते हैं कि प्रियतम को प्राप्त करने के लिए जब जीवात्मा रूपी स्त्री प्रभु की आज्ञा को पहचाने, उसके भय का चन्दन अपने अंगों में लगाए। पति को वशीभूत करने के लिए गुणों का टोना करे तभी वह प्रियतम को पा सकती है अन्यथा नहीं।[२६४] मान का परित्याग कर सद्गुरु से प्रियतम से मिलाने की आकांक्षा व्यक्त की है। हे सद्गुरु रूपी पिता मुझे वर से मिला दे, मुझे हरि

---

२६२. धरनीदासजी की बानी, पृ० ४८-४९

२६३. क्या सोवै तू बावरी चला जात बसंत।
चला जात बसंत कंत ना घर में आये॥
धृग जीवन है तोर कंत बिन दिवस गँवाये।
गर्व गुमानी नारि फिरै जोबन की माती॥
खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।
लगै न तेरो चित्त कंत को नाहि मनावै॥
कारर करै सिंगार फूल की सेज बिछावै।
पलटू ऋतु भरि खेलि लै, फिर पछितैहैं अंत॥
क्या सोवै तू बावरी, चला जात बसंत॥
—पलटू साहब की बानी, भाग १, कुण्डलियाँ ४१, पृ० १९-२०

२६४. नानकवाणी, पृ० ४३२.

ही वर अच्छा लगता है। यह प्रियतम युगयुगान्तर में वैसा ही एक समान रहता है।[२६५] अन्त में कामिनि मान का परित्याग कर अपने रूठे पिया को रिझाती हुई कहती है, हे प्रिय ! मैं तुम्हारी जन्म-जन्म की चेरी हूँ अबकी बार मुझे क्षमा कर दो। मैं तुम्हारे चरण कमलों में अपना हृदय लीन करूँगी।[२६६]

प्रवास-विरह—पूर्वराग की भाँति प्रवास विरह का भी सन्त बानियों में अत्यधिक उल्लेख हुआ है। भक्तभामिनी अथवा आत्मा रूपी कामिनी परमपुरुष के दीर्घकालीन प्रवास की विरह वेदना से छटपटाती है, अश्रु निकालती है और विह्वल हो वन-वन उन्हें ढूँढ़ती फिरती है, यहाँ तक कि वह अन्तिम मरणासन्नता की स्थिति में पहुँच जाती है किन्तु निष्ठुर परदेशी प्रिया जरा भी नहीं पसीजता, इन समस्त प्रसंगों को अत्यन्त ही स्वाभाविक ढंग से वर्णित किया है।

सन्त पलटू साहब की वियोगिन आत्मा अपनी करुण कथा सुनाती हुई कहती है हमारे प्रियतम परदेश में हैं, जिस कारण मुझ वियोगिनी को कुछ भी अच्छा नहीं लगता क्योंकि सास-नन्दों के ताने से मेरी छाती फटी जाती है। पिय वियोग से अश्रु प्रवाहित होते हैं जिससे सारी साड़ी भीग गई है। न भूख लगती है, न निद्रा ही आती है। अपने प्रियतम को मैंने पत्र लिखा है इस भेद को कोई नहीं जानता। विरह में उमंग रूपी यौवन की सम्भावना कठिन है, अतः प्रियतम अपनी अमानत को तुम स्वयं ले जाओ। पिया अभी नहीं आये, अतः हम विदेश में उन्हें ढूंढ़ने चली जाती हूँ।[२६७] धर्मदासजी की विरहणी कह उठती है सास एवं ननद के दुःख को सहा जा सकता है, क्योंकि प्रियतम के विदेश का दुख असह्य हैं। हे प्रियतम ! मैं जन्म-जन्म की तुम्हारी चेरी हूँ, अतः मेरे मुख को देखकर विदेश मत जाओ। इस विरह में बिना प्रियतम के मेरा समय व्यतीत नहीं हो रहा है।[२६८] सन्त तुलसी साहब हाथरस वाले की विरहिणी आत्मा कह उठती है

---

२६५. नानकवाणी, पृ० ४५२

२६६. अबरी के बार बकसु मोरे साहेब, जनम-जनम के चेरि हे ।।
चरन कँवल में हृदय लगाइब, कपट कागज सब फाड़ि हे ।।
मैं अबला किछुओ नहिं जानौं, परपंचन के साथ हे ।।
पिया मिलन बेरी इन्ह मोरा रोकल, तब जिव भयल अनाथ हे ।।
—दरिया साहब (बिहार वाले) के चुने हुए पद और साखी, पृ० ४

२६७. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० २४

२६८. ज्ञान की चुनरी धुमल भइ सजनी, मन की न पुरइल आशा हो ।
बारहि बार जीव मोर लरजै, कैसे कटै दिन राता हो ।।
—धर्मदास की शब्दावली, पृ० ६८

पिया परदेश में हैं, अतः उनके बिना मैं कैसे रहूँगी। वसन्त तथा होली दोनों ही ऋतु सुखदायी हैं। समस्त सखियाँ शृंगार कहती हैं, पिया के साथ गुलाल, अरगजा से खेलती हैं, जिसे देख-देख कर मैं रोती हूँ, क्योंकि पिया वियोग में इस सुख की प्राप्ति असम्भव है।[२६९] प्रियतम के परदेशी होने पर सेज सूनी हो जाती है, चातक की पीव-पीव की पुकार अत्यधिक कष्टप्रद है। ऋतु के आने पर दादुर, मोर, झिंगोरा, अपनी-अपनी बोली बोलते हैं। जब बादल गरजता है तब-तब प्रियतम की याद आती है। प्रीतम विहीन जीवन व्यर्थ है।[२७०] मेरे पिया परदेश में हैं, अतः मैं किससे होली खेलूँ। एक घड़ी भी मुझे शान्ति नहीं मिलती। अतः कोई मुझे उपदेश न दे।[२७१] हे प्रियतम आप परदेस चले गए हैं, अतः हमारी गली सूनी कर गए हैं। हमें कोई भी गुण आप नहीं दे गए हैं। जोगिन होकर मैं बन-बन ढूँढ़ रही हूँ, हमें विरह का वैराग्य आप दे गए हैं, मैं अकेली खड़ी हुई हूँ। प्रियतम बिना यह गाँव भी मुझे अच्छा नहीं लगता।[२७२]

---

२६९. सखी री सुख सेज पिया बिन कैसे रहूँगी ।।टेक।।
मगसर मास बिलास बसंत, घर-घर गाय रिझवत कंत।
हमरे पिया परदेस निवास, आवत होरी वा फागुन मास।
दई सुख दीन्ह सहूँगी ।।
सब री सखी सजि करत सिंगार, पिया संग खेलत कुमकुम मारि
अबिर गुलाल अरगजा सोई, झकझक देखि रही हम रोई।
आली मेरे गुरु ज्ञान गहूँगी ।।
— तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, भाग २, पृ० १८१

२७०. भरि भाहूँ की रैंनि सेझ सांई बिन सूंनी ।।
चात्रग पीव-पीव बोलि लगाई दाझणी दूंणी।
दादर मोर झिंगोर करै अपनी रुतपाई।
मोरा पीव परदेश तलफता रंनि बिहाई ।।
जब घण गरज सेवल, तब पीव आवै यादि।
पीव सहत जीवनि सुफल बिन जीवनि बादि ।।
—डॉ० एस० एच० मोरे, सेवादास निरञ्जनी, व्यक्तित्व एवं कृतित्वः एक अनुशीलन, पृ० ३६०

२७१. मोर पिया बिलम्यो परदेश, होरी मैं का सों खेलों।
घरी पहर मोहि कल न परतु है, कहत न कोऊ उपदेश ।।
—सन्तबानी-संग्रह, भाग २, नामदेव, पृ० ३०

२७२. धर्मदास की शब्दावली, शब्द २, पृ० १२

विरहिणी अपने प्रियतम को परदेश में ढूंढ़ने निकलती है; यह प्रियतम किस देश में रहता है इस भेद को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शारद, सेस भी नहीं जानते। वह विरहिणी धन्य है जो समस्त क्लेशों को सहती है।[२७३] सन्त वाजिदजी की वियोगिनी आत्मा अपनी करुणा कथा सुनाती हुई कहती है, प्रियतम निष्करुण हो विदेश जा बसे हैं। उनके वियोग में घर भाँय-भाँय कर रहा है। विरह की यह रात बड़ी कठिन है। काश, कोई चतुर संदेशवाहक मेरी स्थिति को प्रियतम से अवगत करा सकता। वे जब से गये हैं घर अच्छा नहीं लगता। रात छः-छः माह सदृश लम्बी हो गई है जो काटते-कटती नहीं। हे पंछी ! मेरा सन्देश उस प्रियतम तक पहुँचा दो कि विरहिणी बेहाल हो गयी है, अब मरणासन्न स्थिति आ गई है। शरीर सूखकर लकड़ी हो गया है, क्योंकि संजीवनी रस देने वाला प्रियतम सुदूर परदेश में जा बसा है।[२७४] कबीरदास की बिरहिणी भी अन्त में कह उठती है, हे प्रियतम तुम शीघ्र ही हमारे भवन में आओ, क्योंकि तुम्हारे बिना मैं दुखी हूँ। कोई ऐसा उपकारी है जो प्रियतम से मेरा सन्देश कह दे अब तो मैं व्याकुल हो गया हूँ। बिना उनके दर्शन के मृत्यु अवश्यम्भावी है।[२७५]

---

२७३. मोरा पिया बसै कौने देश हो ।।टेक।।
अपने पिया के ढुँढ़न हम निकसीं कोइल कहत सनेस हो।
पिय कारन हम भई हैं बावरी, धरो जोगिनिया के भेस हो ।।
ब्रह्मा विष्नु महेस न जाने, का जाने सारद सेस हो ।।
धनि जो अगम अगोचर पइलन, हम सब सहत क्लेस हो ।।
उहाँ कै हाल कबीर गुरु जानैं, आवत जात हमेस हो ।।
—धनी धर्मदास की शब्दावली, शब्द ८, पृ० १४

२७४. (क) सन्त सुधासार, 'वाजिदजी' पृ० ५५६
(ख) पंक्षी एक संदेश कहो उस पीव सूं।
विरहिन है बेहाल, जायगी जीव सूं ।।
सीचनहार सुदूर सूक भइ लाकरी
हरि हा वाजिद, घर ही बन कियो वियोगनि बाप री ।।
सन्त सुधासार, वाजिदजी, पृ० ५५५-५६

२७५. बालम आओ हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे ।।टेक।।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लगि कैसे स्नेह रे ।।
है कोइ ऐसा पर उपकारी, पिय से कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे ।।
—सन्त बानी-संग्रह, भाग २, कबीर, पृ० १०

दादूजी की विरहिणी आत्मा कहती है, प्रियतम विदेश में है वह नहीं आए। जन्म रूपी आयु समाप्त हो रही है, पर प्रियतम की प्राप्ति नहीं हुई। मेरी इस विपत्ति को कौन जाकर प्रियतम से कहे। हे अनाथों के नाथ प्रभु में विरहिणी आपके बिना कैसे रहूँ। हम समस्त नारी दुःखी हैं कि प्रियतम हरि कब आवेंगे। हे दीनदयालु ! आप अविलम्ब आइए, मुझ दुःखी को दर्शन दीजिए।[२७६] पलटू साहबजी कहते हैं; प्रियतम विदेश में हैं अतः श्रृंगार करने से क्या लाभ, क्योंकि स्त्रियाँ अपना श्रृंगार प्रियतम को रिझाने के लिए ही करती हैं।[२७७] रात्रि को नींद भी नहीं आती और चौंक-चौंक कर उठ जाती है, क्योंकि उसे सेज अच्छी नहीं लगती।[२७८] सन्त नानकजी कहते हैं, यदि प्रियतम परदेशी है तो उससे बिछड़ी हुई स्त्री दुःखी होती है। इस स्त्री की वही दशा होती है जो थोड़े जल में मछली की, वह करुण-प्रलाप करती है।[२७९] उपदेश देते हुए सन्त नानकजी के अनुसार जीव रूपी स्त्री के गृह में ही पति है, पर वह प्रियतम को विदेश में समझकर दुःखी होती है और उसकी नित्य याद करती है। यदि विरहिणी आत्मा अपनी नियत साफ कर ले तो पति परमात्मा से मिलने में क्षणभर भी देर नहीं लगती।[२८०] हरिदासजी की विरहिणी आत्मा भी प्रियतम बिना तलफती है जैसे जलविहीन मछली। विरह की चोट नख-शिख तक समाई हुई है। मैं व्याकुल हो गई हूँ। हरि आज भी नहीं आए। हरि प्रियतम के दर्शन हो जाने के उपरान्त सुख ही सुख की प्राप्ति होती है।[२८१]

२७६. सन्तबानी-संग्रह, भाग २, दादू, पृ० ८३-८४

२७७. सन्तबानी-संग्रह, भाग, २ पलटू साहिब, पृ० २२०

२७८. जेकर पिय परदेस, नींद नहिं आवे हो।
चौंकि-चौंकि उठै जागि, सेज नहिं भावै हो।।

—वही, पृ० २२०

२७९. पिरु परदेसी जे थीए धन बाढ़ी झूरेइ।।
जिउ जलि थोड़े मछुली करण पलाव करेइ।
फिर भावै सुख पाइए जा आये नदरि करेइ।।

—डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० १

२८०. डॉ० जयराम मिश्र, नानकवाणी, पृ० ३८५

२८१. रावड़ीयाँ जात सिराणीं,
पीव बिन प्रांण तरस तलफत है ज्यूँ मछली बिन पांणी ।।टेक।।
अंतरि चोट विरह की लागी, नष सिष चोट समांणी।
विकल भई हरि अजहुँ न आये, हरि जांणत है मैं जांणी।।
जांण प्रवीण परमसुषदाता, निरगुण नांह निबांणी।
प्रीति बिचारि मिलौ परमानंद, अबला नही बिनांणी।।
कहा कहिए कछु कहैत नहीं आवे, उनमनि रहैत लुभाणी।
जन हरिदास हरि सूँ मनमान्या आदि अंति सुषजांणी।।

—सम्पा०—मंगलदास स्वामी, श्री महाराज हरिदासजी की वाणी, पद १६६, पृ० २६७

पीर पराई को कोई क्या जाने ? जिसको विरह बाण लगता है उसे ही इस पीड़ा का अनुभव होता है। राह देखते देखते दिन व्यतीत हो जाता है, रात्रि तड़पते हुए व्यतीत होती है, मेरा प्यारा प्रियतम विदेश में है अतः दर्शन दुर्लभ है। यह दुःख तभी दूर होगा जब प्रियतम के दर्शन हो जायेंगे।[२८२] यह प्रियतम मेरे घर कब आवेंगे। रात-दिन मैं उनकी प्रतीक्षा करती हूँ। मेरा प्रियतम कहाँ बसता है, कहाँ वास कर रहा है, किसके पास है, किस देश में है, कौन सा उपाय किया जाय कि उससे भेंट हो।[२८३] इस प्रकार सन्तों ने प्रियतम के सुदूर प्रवास विरह का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। प्रवास विरह का दुःख समस्त सन्तों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। प्रियतम मिलन के पश्चात् ही यह दुःख दूर होता है।

विरह की अन्तर्दशाएँ

विरह पक्ष में वेदना की पूर्ण विवृत्ति को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। इसी लिए दस काम दशाओं का चित्रण भी इसी में ही आता है। जिनके नाम अग्रलिखित हैं : अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।

अभिलाषा—वियोगावस्था में प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर मिलन की इच्छा को 'अभिलाषा' कहते हैं। सन्त कवियों की अभिलाषामूलक विरहानुभूति में प्रतीक्षा, उत्कंठा, अतृप्ति, निराशा, व्याकुलता, विवशता आदि विविध भावों का समावेश उपलब्ध होता है। यह अभिलाषा भी दो रूपों में जागृत होती है : रूप

---

२८२. निरंञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंञ्जनी, पृ० १५०

२८३. ए पंथीडा बूझइ बिरहिनी। कहिए पिय की बात ॥
कब घर आवइ कब मिलइ। जोऊँ दिन अरु रात ॥ पंथीडा।
कहाँ मेरा प्रीतम बसइ। कहाँ रहइ करि बास ॥
कहाँ ढूढ़ौं कहाँ पाइये। कहाँ रहइ किस पास ॥ पंथीडा।
कवन देस कहाँ जाइये। कीजइ कवन उपाय ॥
कवन अंग कइसइ रहइ। कहा करइ समझाइ ॥ पंथीडा।
परम सनेही प्रांन का। सो कत देहु दिखाइ ॥
जीवनि मेरे जीव की। सो मुझ आनि मिलाइ ॥ पंथीडा।
नैन न आवइ नींदडी। निस दिन तलफत जाइ ॥
दादू आतुर बिरहिनी। क्यों कर रइन बिहाइ ॥ पंथीडा।
—महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, श्री दादूदयाल का सबद, पृ० ५१

दर्शन की अभिलाषा और तन मिलन की लालसा। सन्त कवियों की अभिलाषा में रूप-दर्शन का पक्ष ही प्रबल है। प्रेमिका सदैव अपने प्राणनाथ के दर्शन कर अपने को तृप्त करना चाहती है। इस दर्शन की उत्कट अभिलाषा से वह सदैव उस शुभ दिन की बाट जोहने लगती है।[२८४] कबीर दासजी की प्रतीक्षामूलक रूप दर्शन की अभिलाषा का उदाहरण भी मनमोहक है।[२८५] प्रेमी उस दिन की प्रतीक्षा में है जब वह अपने प्रेमास्पद की रूप माधुरी को आँखों में बन्द करके अपना सारा समय उसी के निरखने में बिता देगी। विरहिणी अपने परम प्रिय की प्रतीक्षा में अपना जीवन व्यतीत कर देती है, पर उसका दर्शन नहीं हो पाता, जिससे मन को किसी प्रकार की शान्ति नहीं मिल पाती।[२८६] विरहिणी आत्मा की परमप्रिय के रूप दर्शन की पिपासा अतृप्त रहती है, इसलिए उसका मन चातक की भाँति अनवरत प्रिय की पुकार लगाया करता है।[२८७] विरहिणी प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा में उसके दर्शन के लिए 'वैरागिन' का वेश धारण करने का विचार करती है।[२८८] अन्त में पश्चात्ताप से विरहाग्नि प्रज्वलित होती है कि अवसर बीता जा रहा है, प्रियतम न जाने कब अपना दर्शन देंगे।[२८९]

२८४. डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' सन्त साहित्य और साधना, महात्मा चरनदासजी, पृ० ८८

२८५. बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कौं, मन नांही विसराम।
डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम विरह कौ अंग', साखी १८

२८६. डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम बिरह को अंग', साखी ४७, पृ० १४७

२८७. मन चित चातक ज्यूँ रटै, पिव पिव लागी प्यास।
दादू दरसन कारने, पुरवहु मेरी आस॥
—दादूदयाल की बानी, भाग १, 'विरह कौ अंग', साखी ४, पृ० ३०

२८८. दरसन कारन बिरहिनी, बैरागिन होवै।
दादू बिरह बियोगिनी, हरि मारग जोवै॥
वही, साखी १६, पृ० ३१

२८९. दादू कहु दीदार की, साईं सेती बात।
कब हरि दरसन देहुगे, यहु अवसर चलि जात॥
वही, साखी ३४, पृ० ३[illegible]

वह प्रिय से सानुरोध प्रार्थना करती है कि प्रिय उस दुखियारी को दर्शन से वंचित कर निराश और दुखी न बनाए।[२९०] प्रिय की एक झलक पाने पर ही वह अपना सब कुछ निछावर करने और सभी प्रकार के कष्ट सहने के लिए कटिबद्ध है। दुखियारी विरहिणी किसी भी प्रकार अपने प्रिय को अपने हृदय से दूर नहीं कर पाती और उसका दर्शन करने के लिए बेचैन रहा करता है। यदि प्रिय को विरहिणी का जल भरना ही अच्छा लगता है तो वह वैसा ही कर दिखाएगी।[२९१] वह विरह की व्यथा से छटपटाती हुई सिसक-सिसक कर प्रिय से अनुरोध करती है कि वह शीघ्र ही अपना दर्शन दे।[२९२] चिर प्रतीक्षारत विरहिणी पथिक से यह जानना चाहती है कि वह कब घर आकर अपनी प्रिया से मिलेगा ?[२९३] अभि-लाषा के साथ ही व्याकुलता, छटपटाहट, बेचैनी और अतृप्ति के विविध भाव लक्षित होते हैं। समस्त सुख का आनन्द प्रियतम के मुख देखने पर ही सम्भव है। प्रियतम के बिना जीवित रहना व्यर्थ है। प्रियतम का दर्शन ही मुझ निर्धन के लिए सर्वश्रेष्ठ धन है। अतः हे प्रभु मैं आपकी बलि जाती हूँ आप मुझे दर्शन दें।[२९४] रूप दर्शन की चिर पिपासा के साथ ही तन-मिलन की अपूर्व लालसा भी दृष्टिगोचर होती है। नानक प्रियतम के दर्शन ही नहीं स्पर्श भी पाना चाहते हैं।[२९५] वह प्रिय का पंथ निहारती हुई, उसके लिए पुष्प-शैय्या का प्रबन्ध भी

---

२९०. बिथा तुम्हारे दरस को, मोहि व्यापै दिन रात।
दुखी न कीजै दीन कौं, दरसन दीजै तात॥
वही, साखी ३५, पृ० ३३

२९१. (दादू) हम दुखिया दीदार के, तूँ दिल थैं दूरि न होइ।
भावै हमकों जालि दे, हूणां है सो होइ॥
वही, साखी ४१, पृ० ३३

२९२. दादू तलफै पीड़ सों, बिरही जन तेरा।
ससकै साईं कारणे, मिलि साहब मेरा॥
वही, साखी ७७, पृ० ३७

२९३. पंथीडा बूझै बिरहिणी, कहिनैं पीव की बात।
कब घर आवै कब मिलै, जोऊँ दिन अरु राति॥ पंथीडा॥
दादूदयाल की बानी, भाग २, पद १५०/१ पृ० ६३

२९४. दादूदयाल की बानी, भाग २, पद ३१६।१-२, पृ० १३४

२९५. जब लगु दरस न परसै प्रीतम, तब लगु भूख पिआसी।
दरसनु देखत ही मन मानिआ, जल रजि कमल बिगासी॥
डॉ० केसनी प्रसाद चौरसिया, 'मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृ० ३८७

करती है और उस समय की प्रतीक्षा में है जब प्रिय आकर उसे गले से लगा लेगा।[296] अतः प्रिय से शारीरिक संयोग की अभिलाषा व्यक्त करती है।[297] इस अभिलाषा के साथ ही मरण का संकेत विरहानुभूति को कारुणिक बना देता है। परम प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने के लिए विरहिणी अपने मरणासन्न अवस्था का वर्णन करती है।[298] बिना प्रिय के दर्शन किये विरहिणी के प्राण शरीर में कैसे रह सकते हैं ? वह सहज ही बावली होकर मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो जाती है।[299]

चिन्ता—प्रिय दर्शन की अभिलाषा से विविध उपायों के चिन्तन को ही चिन्ता दशा मानी जा सकती है। इसी चिन्ता के कारण नयनों से निरन्तर अश्रु-धारा प्रवाहित होती है। पपीहा की भाँति ही वह पिव-पिव की पुकार करती है।[300] पिया मिलन के विविध उपाय सोचती है, अतः जिस किसी वेश को धारण

---

२९६. आव पियारे मीत हमारे। निस दिन देखौं पाँव तुम्हारे।
सेज हमारी पीव सँवारी। दासी तुम्हारी सो धन वारी।
जे तुझ पाऊँ अंगि लगाऊँ। क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ।
पंथ निहारूँ बाट सवारूँ। दादू तारूँ तन मन वारूँ॥

—दादूदयाल की बानी

२९७. सब हम नारी एक भरतार। सब कोई तन करै सिंगार॥टेक॥
घरि घरि अपणे सेज सँवारै। कंत पियारे पंथ निहारै॥
आरति अपणे पिव कौं ध्यावै। मिलै नाह कब अंग लगावै॥

—दादूदयाल की बानी, भाग २, पद ६३/१-२, पृ० २७

२९८. बिरहिन उठि उठि भुइं परै, दरसन कारन राम।
मुएं दरसन देहुगे, सो आवै कौने काम॥
मूएं पीछैं मति मिलो, कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिलि गया, तब पारस कौनें काम॥

—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम विरह कौ अंग', साखी ९-१०, पृ० १४२

२९९. दादूदयाल की बानी, भाग १, 'बिरह को अंग', साखी १३१-१३२, पृ० ४२

३००. नैंनां नीझर लाइया, रहट बहै निसधाम।
पपीहा ज्यूँ पिउ-पिउ करौं, कबरे मिलिहुगे राम॥

—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम बिरह कौ अंग', साखी ४३, पृ० १४७

करने से प्रिय का दर्शन हो सके वह वही करने को कटिबद्ध है।[३०१] पिया मिलन के विविध उपाय सोचती हुई विरहिणी प्रिय के पास जो कारुणिक संदेश भेजना चाहती है उसे पढ़कर हृदय द्रवित हो उठता है।[३०२] सन्त रज्जबजी की चिन्ताकुल विरहिणी बेहाल पड़ी है। प्रियतम राम की अनुपस्थिति में उसका घर सूना पड़ा है। इस सूनेपन में उसे निद्रा नहीं आती। ऐसा कोई परोपकारी सहायक भी नहीं उपलब्ध हो रहा है जो प्रिय को वापस लाकर उससे मिला दे। मन में बसी चिन्ता एक क्षण के लिए भी दूर नहीं होती। चारों ओर उत्कंठित नेत्रों से प्रिय की बाट निहारकर वह अन्ततः निराश हो जाती है। मन चिंतित है, विरहाग्नि में जल कर शरीर क्षीण हो चला है। कौन ऐसा है जो निर्मोही पिया को उसकी इस स्थिति से अवगत कराये। उनकी अनुपस्थित में एक-एक क्षण व्यतीत करना भी कठिन हो रहा है।[३०३]

संत दरिया साहब (मारवाड़ वाले) कहते हैं कि चिन्ताकुल वियोगिनी अपने प्रियतम को वन-वन में ढूँढ़ती फिरती है। प्रतीक्षा करते-करते सारी रात व्यतीत हो जाती है, अन्त में अन्तःव्यथा ही उसके जीवन का अंश बन जाती है। उसके तन का रक्त एवं मांस सूख गया है। प्रत्येक साँस के साथ वह सिसक पड़ती है। प्रिय विरह में अत्यधिक चिन्तित रहने के कारण मन छटपटाता है। अशान्ति के क्षणों में वह कभी लेटती है, कभी बैठती है और कभी उठकर खड़ी हो जाती

---

३०१. फाड़ि फुटोला धज करौं, काम लड़ी पहिराऊँ।
जिहि जिहि भेषा हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊँ॥
—सम्पा० श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, 'सुमिरण को अंग', साखी ४१, पृ० ११

३०२. यहु तनु जारौं मसि करौं, ज्यूं धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि॥
यह तनु जारौं मसि करौं, लिखौं राँम का नाउँ।
लेखनि करौं करंक की लिखि लिखि रांम पठाउँ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी २०-२१, पृ० १४३-४४

३०३. म्हारो मन्दिर सूनो राम बिन, विरहिण नींद न आवै रे।
× × ×
विरह अगित तन पिंजर छीनां, पिव कू कौने सुनावै रे।
जन रज्जब जगदीश मिलै बिन, पल-पल बज्र विहावै रे॥
—सन्त सुधासार (रज्जबजी), पृ० ५१५

है। लोग बातों से ही समझाने का प्रयास करते हैं, पर प्रियतम से मिलने का यत्न कोई नहीं करता।[304]

गुण-कथन—विरह दशा में प्रिय के गुणों का वर्णन करना ही गुण-कथन है। सन्त चरनदास वियोगिनी आत्मा की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसका अब अपने पर नियंत्रण नहीं रह गया है, क्योंकि वह परवश हो चुकी है। विरह जाल में फँसी हुई वह अपने प्रियतम के गुणों का स्मरण कर-कर रोती है।[305] क्योंकि संयोग में उनकी वाणी मधुर लगती थी, उनके गुणों को मैं कभी नहीं भूल सकती चाहे मुझे कोई जितना भी समझाने का प्रयास करे। जिस प्रकार मछली को जल से विलग कर, अमृत रस से सिंचित कर पलंग में लेटा दें, तब भी वह अपने प्राण का परित्याग कर देती है हीरा की परख जौहरी ही कर सकता है। उसी प्रकार प्रियतम के विरह को भी कोई विरला ही जान सकता है, स्वाती नक्षत्र के जल की बूंद से ही पपीहा की तृष्णा शान्त होती है, अतः वह स्वाती के बूंद की कामना करता है। उसके मन में इस जल की बूंद के प्रति क्यों आसक्ति है कोई नहीं जानता। मैं विरहिणी भी प्रिया-वियोग में विह्वल हूँ। उनके गुणो का विस्मरण करना कठिन है।[306]

स्मृति—विरह दशा में विरहिणी अपने विगत संयोग सुख की याद करती है और साँई प्रियतम के गुणों की स्मृति करती है।[307] विरह क्षणों में प्रिया आत्म-विस्मृति हो जाती है। उसे न खान-पान और वस्त्राभूषणों से लगाव रह जाता है न ही गृह-कार्यों में। प्रियतम की छवि का स्मरण कर वे क्षण-क्षण रोमांचित एवं आन्दोलित होती रहती हैं। विरहिणी नित्य-निरंतर अपने प्रियतम

---

३०४. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृ० १६

३०५. अपने बस वह ना रही, फंसी विरह के जाल।
चरनदास रोवत रहै, सुमिर सुमिर गुन ख्याल॥
—वहीं, पृ० १७

३०६. डॉ० ओम् प्रकाश सक्सेना, प्रणामी कवि और काव्य, मुकुन्द स्वामी (अहृदी), पृ० ६६

३०७. मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्यो, सीस नवावौं काहि॥
—सम्पा० श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, सुमिरण को अंग, साखी, ८, पृ० ५

की स्मृति में डूबी रहती है।[३०८] उनका नाम रटते-रटते उनकी जिह्वा में छाले पड़ जाते हैं, उनकी राह निहारते-निहारते आँखें थक गई हैं। अब उनका वियोग उसके लिए असह्य हो गया है। उसने यह निश्चित कर लिया है कि या तो वह उनका दर्शन करेगी या फिर जहर का प्याला पीकर प्राणों का परित्याग कर देगी। वह तो विरहाग्नि में जलती हुई प्रतिपल हृदय की व्याकुल धड़कनों के साथ उनकी प्रतिक्षा कर रही है, किन्तु हाय बेदर्दी साजन उसका दर्द भी जानने को तैयार नहीं।[३०९]

उद्वेग—विरह के कारण उत्पन्न विवशता और व्याकुलता भरी चित्तवृत्ति को उद्वेग कहते हैं। विरह की उद्वेग दशा कभी-कभी हास्यास्पद बन जाती है। इस दशा में प्रिय के न मिलेन के कारण मन कहीं नहीं लगता। उन्हें अत्यन्त सुखदायी वस्तुएँ भी दुखदायी प्रतीत होती हैं। कबीर की विरहिणी पति माधव से मिलने के लिए दिन-रात व्याकुल रहती है।[३१०] जिस तरह काठ में घुन लगकर उसे छलनी कर देता है, उसी तरह विरह उसके तन को दिन प्रतिदिन जर्जर किये जा रहा है। हृदय में जल रही विरहाग्नि की आँच से उसकी आँखों में लालिमा आ गई है एवं आँसू पर आँसू गिरते जा रहे हैं।[३११] प्रियतम की पीड़ा ही हृदय में सदैव खटकती रहती है। मन अत्यधिक व्याकुल है। जीवित

---

३०८. पिया मोर बसैं गउरगढ़, मैं बसों प्राग हो।
सहजहिं लागु सनेह, उपजु अनुराग हो॥
असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो।
पल-पल समुझि सुरति, मन गहबरि आवै हो॥
—धरनीदासजी की बानी, शब्द ३/१-२, पृ २

३०९. पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ४४, पृ० २३

३१०. वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ॥
—सम्पा० श्यामसुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, पद ३०६, पृ० १८१

३११. मो बिरहिन की बात हेली बिरहिन हो सोइ जानि है।
नैन बिछोहा जानती री हेली बिरहै कीन्हो घात॥टेक॥
या तन कूँ बिरहा लगो री, हेली ज्यों घुन लागो काठ।
निस दिन खोय जातु है, देखूँ हरि की बाट॥
हिरदै में पावक जरै री, हेली तपि नैना भये लाल।
आँसू पर आँसू गिरैं, यही हमारी हाल॥
—चरनदास की बानी, भाग २, पृ० २१

रहने की समस्त तरंगें नष्ट प्राय हो गई हैं, मन मुरदे के समान है, अतः यह रोग वैद्य द्वारा ठीक होना असम्भव है, जो मेरे ही समान रोग से पीड़ित है वही इस दुःख-दर्द को समझ सकता है।[३१२] इसी लिए प्रिय वियोग में मैं शृंगार आदि की समस्त साधनों को व्यर्थ मानती हूँ, क्योंकि विरह की चुभन हृदय को निरन्तर व्यथित करती है। वे माँग का सिंदूर और आँख का काजल पोंछ डालती हैं। विह्वलता के कारण उनके नयनों से आँसू ढुलक पड़ते हैं जिसका पिया घर में न हो उसे सजने-सँवरने से क्या लाभ? जिसको शृंगार करके रिझाया जा सकता है वह तो प्रवासी बना बैठा है।[३१३]

प्रलाप-उन्माद-व्याधि—विरही का निरर्थक वार्तालाप ही प्रलाप है। विरहिणी प्रलाप करते-करते असन्तुलित अवस्था में आ जाती है, तब उन्मादिनी बन जाती है।[३१४] इस उन्माद में राम-वियोगी जी नहीं सकता। यदि जियेगा तो उसकी दशा पागलों-सी हो जायगी।[३१५] वह प्रलाप करती हुई आगे कहती

---

३१२. सन्त बानी-संग्रह, भाग १, तुलसी साहब (हाथरस वाले), शब्द ७, पृ० २४५

३१३. अभरन देहु बहाय, बसन धै फारौ हो।
पिय बिनु कौन सिंगार, सीस दै मारौ हो।।
भूख न लागै नींद, विरह हिये करकै हो।
माँग सेंदुर मसि पोछ, नैन जल ढरकै हो।।
कै कहँ करै सिंगार, सो काहि दिखावै हो।
जेकर पिय परदेस, सोउ काहि रिझावै हो।।
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ३५/५, ६, ७, पृ० १८

३१४. (क) विरहिन देय संदेसरा सुनो हमारे पीव।
जल बिन मच्छी क्यों जिए पानी में का जीव।।
—सम्पा० श्यामसुन्दर दास, : कबीर वचनावली, साखी १५२, पृ० १०७

(ख) कबीर देखत दिन गया, निस भी निरखत जाइ।
विरहिन पिउ पावै नहीं, जियरा तलफत जाइ।।
—डॉ० पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम विरह कौ अंग साखी ३८, पृ० १४६

३१५. विरह भुवंगम तन बसे, मंत्र न मानै कोइ।
रांम बियोगी नां जिवै, जिवै त बउरा होइ।।
— डॉ० पारसनाथ तिवारी, 'कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम बिरह कौ अंग' साखी १, पृ० १४

है, मेरे प्रियतम मैं तुम्हारे लिए अंगों पर भस्म लगाकर 'जोगन' बन गयी हूँ। तुम आकर मेरा तप्त हृदय कब शीतल करोगे ? मेरा मन इस प्रकार तुमसे मिलने के लिए लालायित हो रहा है कि मैं दौड़कर तुमसे मिल जाऊँ।[३१६] अन्त में वह अपने मन को फटकारने लगती है। अरे मन ! तू बड़ा ही निष्ठुर है, क्योंकि प्रियतम की अनुपस्थित में भी स्थिर है। अपना शरीर-पिंजर तोड़कर क्यों नहीं अपने प्राण त्याग देता।[३१७] व्याधिग्रस्त विरहिणी में शारीरिक कृशता और पाण्डुता का दर्शन होता है। इसके अन्तर्गत विशेषतः आँखों से अश्रु-प्रवाह को आंगिक विकार के रूप में चित्रित किया जाता है। कबीर की व्याधिग्रस्त विरहिणी की दशा अत्यन्त कारुणिक है, क्योंकि प्रियतम के पथ की प्रतीक्षा में आँखें एकटक देखते हुए पथरा-सी जाती हैं। प्रिय का नाम पुकारते-पुकारते उसकी जिह्वा में छाले पड़ गये हैं। यह मरण से अधिक दुखदायी और असह्य अवस्था है। जीभ में छाला पड़ने के कारण वह कुछ खा-पी नहीं सकती है और न बोल सकती है। वह मूक भाव से मन ही मन विसूरती रहती है। रात-दिन उसे नींद नहीं आती और लगातार जगने से आँखें प्रेमानुरक्त हो गई हैं।[३१८] सामान्य लोग यह समझते हैं कि आँखें दुःखने के कारण ही उनकी यह अवस्था हुई है, किन्तु वास्तविक बात यह है कि विरहिणी की आँखों में प्रेम की लाली छाई हुई है और प्रिय के वियोग में निरन्तर रोने से वे रतनारी हो गई हैं। विरहिणी की आँखों से आँसू तो बहाता ही है किन्तु जब प्रेम हृदय की गहराइयों में बैठ जाता है तो विरहिणी-आत्मा रात-दिन रोती ही रह जाती है, जिससे

---

३१६. जोगिन भइउ अंग भसम चढ़ाय।
कब मोरा जियरा जुड़इहौ आय ॥
अस मन ललकै मिलौं मैं धाय।
—जगजीवन साहब की वाणी, भाग २, पृ० ३

३१७. रे मन तू निकसत नहीं, है तू बड़ा कठोर।
सुन्दर स्याम स्वरूप बिन, क्यों जीवत निसभोर ॥
—दयाबाई की बानी, पृ० ७

३१८. अँखियाँ प्रेम कसाइयाँ, जग जानैं दुखडियाँह।
राम सनेही कारनैं, रोइ-रोइ रातड़ियाँह ॥
अँखियन तौ झांई परी, पंथ निहारि निहारि।
जीभ्या मैं छाला परा, रांम पुकारि पुकारि ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, साखी २३, ३६,
पृ० १४४-१४६

उसकी आँखों से रक्त चूने लग जाता है।[319] प्रिया की प्रतीक्षा करती हुई व्याधिग्रस्त विरहिणी कहती है कि प्रत्येक पल प्रिया का ही दर्शन करने की अभिलाषा करने वाले ये मेरे नयन जलकर नष्ट हो गये। मेरी इस असहनीय पीड़ा का वर्णन नहीं हो सकता। प्रिय के मिलने और मेरे प्रसन्न होने की अब कोई आशा शेष नहीं रह गई है।[320] अभिलाषा मिश्रित व्याधि में यदि विरहिणी तन का दीपक बनाकर उसमें प्राण की बत्ती जलाने और रक्त के तेल से अभिसिंचित करने पर प्रिया का दर्शन सुलभ हो जाय तो मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।[321] क्योंकि रहट की बल्टियों से गिरने वाले जल की भाँति हमारे आँखों से प्रवाहित होने वाली अविरल अश्रुधारा अब असह्य हो उठी है, अतः मैं रातदिन पपीहे की भाँति प्रिय को पुकारा करती हूँ।[322] चिन्ता मिश्रित व्याधि में प्रियतम को ढूँढ़ने के लिए मैं पर्वत-पर्वत गयी, नेत्र रोने से नष्ट हो गए एवं जीवन का अन्त भी निश्चित है क्योंकि मुझे ईश्वर के सामीप्य में रहने की जड़बूटी प्राप्त नही हुई।[323]

जड़ता और मरण—विरह दशा में मूच्छा होना स्वाभाविक है, वही जड़ता मृत्यु तक पहुँच जाती है। मानसिक दुर्बलता, निद्राभंग आदि के कारण कभी-कभी विरहिणियों को मूर्छा आ जाती है। अतः शारीरिक अंगों के चेतनाशून्य होने एवं इन्द्रियों की गति अवरुद्ध हो जाती है। जो चित्र लिखी-सी चेतनाशून्य होकर जड़ता की स्थिति तक पहुँच जाती है।[324] विरह रोग पीड़ित कामिनी का मुखमण्डल पीला पड़ गया है। उसके रसीले अधर सूख गए हैं, तथा आँखों में उदासी का निवास है। गहरी साँस उसके हृदय की दुखभरी आह को व्यक्त करती

---

३१९. सोइ आँसू सजनां, सोइ लोक बिड़ांहि।
जे लोइन लोही चुवे, तौ जानौं हेतु हियांहि ॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'प्रेम विरह कौ अंग, साखी ४६, पृ० १४८

३२०. वही, साखी २५, पृ० १४४

३२१. वही, साखी २२, पृ० १४४

३२२. वही, साखी ४८, पृ० १४७

३२३. वही, साखी २४, पृ० १४४

३२४. हाकी बाकी रह गयी, न कछु पीवै न षाइ।
सुन्दर विरहनि वह सही, चित्र लिषी रह जाइ ॥
—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, संत-दर्शन, पृ० ११४

है ।[३२५] इन दुःखों का वास्तविक उपचार योग रूपी प्रियतम है । वियोग रोग से ग्रसित होने के कारण अत्यधिक पीड़ा का अनुभव हो रहा है ।[३२६] यह वियोग असहनीय है, अतः वह अपने जीवन के प्रति उदासीन होकर मृत्यु को गले से लगाने की इच्छा प्रकट करती है । क्योंकि यदि मृत्यु पश्चात् परमानन्द प्रियतम से मिलन हो जाता है तो मृत्यु से किसलिए डरना ? यह मृत्यु हमें आनन्द प्रदान करने वाली है ।[३२७] अतः नानक अपनी आत्मा से कहते हैं कि तुम प्रियतम के जीते जी मर जाओ, क्योंकि उसके मरने के बाद इस संसार में जीने को धिक्कार है । सन्त तुलसी का विश्वास है कि मृत्यु के चित्रण से ही विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति हो सकती है । उन्होंने वियोग की अन्य दशाओं की अपेक्षा मरण दशा का वर्णन कई बार किया है । जो अन्य सन्त कवियों में कम दृष्टिगत होता है । इनकी विरहिणी विरह विताड़ित होकर आत्महत्या करने का निश्चय कर लेती है ।[३२८] विरहिणी को मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी स्वीकृत नहीं है ।[३२९]

---

३२५. मुख पियरो सूखे अधर, आँखें खरी उदास ।
आह जो निकसै दुख भरी, गहिरे लेत उसाँस ।।
—चरनदासजी की बानी, भाग १, पृ० १७

३२६. मासत काहे न जोगिया, यह मरै विरह दुख रोगिया ।
बिनु जोगी समुझे कल न परत है, क्यों जीवै जन रोगिया ।।
पीर घने री सूल उठतु है, यह दुख जानै रोगिया ।
आवै जोगी करै तबीबी, तब सुख पावै रोगिया ।।
मथि मन पवन जे दारू लगाई जन बुल्ला दुख भगिया ।
—बुल्ला साहब का शब्द सागर, शब्द १३, पृ० १०

३२७. जिसु मरनैं तैं जग डरै, सो मेरै आनंद ।
कब मारिहौं कब भेटहौं, पूरन परमानंद ।।
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, 'सूरातन कौ अंग' साखी २, पृ० १७९

३२८. सन्त तुलसी शब्दावली, द्वितीय भाग, दोहा ४, पृ० १४८

३२९. प्रीतम पीर पिरानी दरद कोई बिरले जानी ।
मुरदा ह्वै करि खाक चली अब, जब पट अमर लिखानी ।
तुलसी यह मारग मुसकिल का, धड़ बिन सीस बिकानी ।।
—सन्त तुलसी शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २५१

सन्तों की विरह भावना में प्रतीक-विधान

सन्त कवियों ने अपनी विरहिणी-आत्मा की मर्मान्तक वेदना को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रतीकों से काम लिया है। जहाँ वाणी असमर्थ होती है और भाषा अपर्याप्त बन जाती है, वहाँ अमूर्त रूप देने के लिए प्रतीकों का विधान किया जाता है। विरह के कारण शरीर में बड़ी वेदना उत्पन्न होती है, इसे सन्त कवियों ने शारीरिक घाव से उत्पन्न पीड़ा के समान चित्रित किया है। विरह की ऐसी पीड़ा को चित्रित करने के लिए बाण, तलवार, भाले आदि के प्रतीक अत्यन्त सफल हैं। सन्तों ने विरह की असहनीय एवं अदमनीय पीड़ा को प्रकट करने के लिए प्रतीक रूप में आग को चित्रित किया है। विरह की बेसुध अवस्था को स्पष्ट करने के लिए सर्प-दंशन का वर्णन करके सर्प को प्रतीक बनाया गया है। कबीर कहते हैं कि जैसे तीर लगने से अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होता है, वैसे ही प्रिय प्रिया की विरह पीड़ा भी मर्मान्तक है। अतः विरह बाण का रूपक अत्यन्त समीचीन लगता है। इस विरह रूपी बाण के लगते ही सन्त साधक प्रियतम से मिलने के लिए तड़पने लगता है, क्योंकि उसके शरीर में दावाग्नि-सी फूट पड़ती है। इस बाण के लगने से जो भयानक चोट लगती है, उसे इलाज से ठीक नहीं किया जा सकता[330] अर्थात् औषधि विरह की पीड़ा को दूर करने के लिए उपयुक्त नहीं। इस आघात को सहकर साधक सिसकते-सिसकते मर जाता है या कराहते-कराहते रह जाता है। वैद्य को विरहिणी का उपचार करने के लिए बुलाया गया। वैद्य विरहिणी का हाथ पकड़ कर नाड़ी से रोग की जाँच करता है, पर पता नहीं पाता। बेचारे वैद्य को क्या मालूम है कि यह साधारण पीड़ा नहीं है। बाहर इसका कुछ भी लक्षण प्रकट नहीं होता, पर विरहिणी के कलेजे के अन्दर अत्यधिक पीड़ा होती है।[331] विरह रूपी सर्प के काटने की औषधि केवल हरि दर्शन ही है। हरि दर्शन रूपी औषधि केवल एक मात्र मूलमन्त्र है। जिसके अभाव में तन और मन कठिन दर्द से तड़पने लगता है। अतः विरह ताप से शरीर को जलाकर उसके अहं के मालिन्य को मिटा दें तो हरि दर्शन प्राप्त हो जायगा। विरह विह्वल होकर अपने प्राणनाथ के समीप एक पक्षी द्वारा सन्देश भेजने का प्रयास करते

---

३३०. सतगुरु मारा बांन भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अंगि उघारै लागिया, गई दवा सौं फूटि॥
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, सतगुरु महिमा कौ अंग, साखी २३, पृ० १३६

३३१. सम्पा०—श्री तेजनारायण टंडन, कबीर बाणी, विरह वर्णन, पृ० १५/१८४, १८३

हैं। जिस प्रकार कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना और मछली पानी बिना अस्तित्वहीन हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रिया प्रियतम बिना अस्तित्वहीन हो गई है।[३३२] विरह विदग्धा नायिका विरह का महत्व अच्छी तरह जानती है तो भी यह पीड़ाजनक विरह आनन्ददायक है। कबीर कहते हैं कि हे प्रियतम ! तुम विरहबाण बार-बार मारो, वह मुझे सुखद है।[३३३] वियोगिनी विरह को ही अपना साथी समझ बैठती है, अतः इस विरह को निःसंकोच रूप से अपना मित्र कहती है।[३३४] यह विरह ज्वाला सदृश्य है जिसके ज्वाला में जलकर तन शोभित हो जाता है,[३३५] जिससे हमें आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। विरह बाण के लगने से विरहिणी की आत्मा घायल हो जाती है। पर, इसमें उसे अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है।[३३६]

उपर्युक्त विरह की विभिन्न भावनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि माधुर्य प्रधान विरह में एकान्तिक प्रेम ही को आदर्श माना है। सन्त कवियों

---

३३२. विरहिण व्याकुल केसवा निस दिन दुखी बिहाय।
जैसे चंद कुमोदिनी, बिन देखे कुम्हलाय।।
खिन खिन दुखिया दर्पधिये विरह बन पीर।
घरी पलक में बिन सिये, ज्यूं मछली बिन नीर।।
—डॉ जयनाथ 'नलिन', भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, पृ० ७४

३३३. जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बसा।
तिहि सर अजहूँ मारि, सर बिनु सचु पाऊ नहीं।।
—डॉ० पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, प्रेम विरह को अंग साखी ५५, पृ० १४८

३३४. बिरहा मेरा मीत है, विरहा बैरी नाहि।
विरहा को बैरी कहै, सो दादू किस माहि।।
—दादूदयाल की बानी, भाग १, 'विरह कौ अंग' साखी १५१. पृ० ४४

३३५. मैं सुद्धाँ तन सोखता विरहा तन जारे।
जिव तरसै दीदार कूँ दादू न बिसारे।।
—सन्त दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ५१

३३६. ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यूँ जीवन होइ।
जिन मुझ कौं घायल किया, मेरा दारू सोइ।।
—दादूदयाल की बानी, भाग १, पृ० ३१/१५

की माधुर्य भक्ति-भाव प्रधान होने के कारण समाज विरोधी रति भावनाओं से सदैव मुक्त रहती है । अतः निर्गुण पंथ की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि गुह्य और रहस्य की भावना की प्रधानता होते हुए भी कामवासना ग्रस्त नहीं हुआ । स्पष्ट है कि सन्त कवियों का माधुर्य भाव पूर्णरूप से निर्मल तथा विशुद्ध बना रहा । सन्त कवियों की माधुर्य भक्ति मानसिक अवस्था को उल्लसित करने की क्षमता रखती है, शारीरिक सुख को कम प्रकट करती है । अतः इन सन्तों के संयोग-वियोग में शृंगारिक अश्लील वर्णन को लेशमात्र भी स्थान प्राप्तव्य नहीं हुआ ।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्त कवियों की विरह-भावना आत्मानुभूति प्रेरित है । उनकी विरह-भावना का केन्द्रबिन्दु निर्गुण परमात्मा के प्रति उनकी प्रेम भावना है । इनकी भक्ति भावना में प्रेम और विरह समाहित है । इन सन्तों की विरहणी कोई लौकिक नारी नहीं है, वरन् उसकी आत्मा ही है । आध्यात्मिक परिणय से वे सम्बद्ध हैं और इसके बिना परमात्मा में आत्मा का वास्तविक समर्पण नहीं हो सकता । इस आध्यात्मिक परिणय को स्पष्ट करने के लिए अधिकांशतः सन्त कवियों ने रहस्यात्मक भावनाओं को अपनाया है एवं विरह भावना की अभिव्यक्ति की है । निर्गुण साधना की माधुर्य भक्ति में विरह भावना की अपूर्व झलक है । सन्त कवियों की विरह भावना की ओर दृष्टि डालते समय हम इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि उनकी विरह कातरता में प्रिय मिलन की जो चीत्कार, व्याकुलता और वेदना है, उसे आध्यात्मिक परिवेश संपूर्णतः प्रदान किया गया है । डॉ० जयनाथ 'नलिन' के मतानुसार 'निर्गुण साधना में आध्यात्मिक शृंगार या माधुर्य भक्ति में आत्मा या प्रेम साधक की विरह कातरता, प्रिय-मिलन के लिए उसकी चीत्कार भरी आकुलता, तन-मन को मसल डालने वाली पीड़ा और असह्य शूल-दंशन का जैसा वर्णन है, मिलन शृंगार का वैसा नहीं ।"[३३७] जब प्रेमी-प्रेमिका का द्वैत भाव मिट जाता है, तब उनमें एकात्मकता आ जाती है और उन्हें माधुर्य भाव की सिद्धावस्था प्राप्त होती है । प्रेमी साधक कभी अपनी प्रेमिका से पृथक् होना नहीं चाहता । वह वास्तव में पानी में लीन हुए नमक की भाँति स्वयं अपने प्राण-प्रिय से मिलकर तल्लीन होना चाहता है ।

सन्त कवियों ने विरह की वेदना की तीव्रता को व्यक्त कर यह सिद्ध किया है कि यह आनन्ददायक है । सन्तों की विरह-वेदना दाम्पत्य भाव के प्रतीक को

३३७. डॉ० जयनाथ 'नलिन', भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, पृ० ८४

लेकर आत्मा और परमात्मा के विरह को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त हुई है। विरह के शारीरिक पक्ष की अभिव्यक्ति सन्त-काव्य में देखने को नहीं मिलती, पर उसकी मानसिक अवस्था को मोटेतौर पर स्पष्ट किया गया है। अधिकांशतः सन्त कवि अनपढ़ थे, तो भी उनकी विरहाभिव्यक्ति उच्च कोटि की है। क्योंकि उनकी विरह भावना अन्तरंग से अनुभूतिजन्य होकर निसृत है।

विरहोद्दीपन

जिस प्रकार संयोग में प्रकृति विरहोद्दीपन का कार्य करती है ठीक उसी प्रकार वियोग में भी प्रकृति के उद्दीपन भाव प्राणी के हृदय में शूल-दंशन का कार्य करते हैं। अतः सन्तों ने उद्दीपन विभाव के रूप में षट्ऋतु एवं बारहमासे की योजना की है। आषाढ़ का महीना आ गया है। बादल गरजते है, समस्त सखियों ने अपने घर छवा लिए हैं, पर प्रियतम के न रहने के कारण मेरा घर छवाया नहीं गया है, तथा वह दिग्भ्रमित होकर डोल रही है। सावन के बादल गरज रहे हैं तथा कोयल कुहुक रही है, वह बेचारी प्रिय वियोग में तलफती हुई रात व्यतीत करती है। भादों का माह और भी भयभीत प्रतीत होता है, क्योंकि बिजली अत्यधिक चमकती है, जिससे शरीर अत्यधिक भयभीत है। क्वार महीने में, जबकि समस्त सखियाँ प्रमुदित हैं पर उसे परदेशी पिया की याद में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। कार्तिक माह में समस्त सखियाँ अपने गृह को सजा रही हैं। मैं पापिन बिना प्रियतम के रो-रो कर समय व्यतीत करती हूँ। अगहन माह में समस्त सखियाँ प्रियतम के साथ जाती हैं पर मैं प्रिय विहीन अत्यधिक व्याकुल हो जाती हूँ।[३३८] पौस मास की रात्रि प्रियतम के बिना कटती नहीं है। हृदय तड़प-तड़प कर फट जाता है। इस माह में सूनी सेज मुझको बावरी बना देता है।[३३९] माघ महीने में अतिशय तुषार पात होने लगा है किन्तु बेदर्दी साजन न तो आये और न उन्होंने कोई पत्र ही भेजा है।[३४०]

---

३३८. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० ७६-७७

३३९. पोस मास की राति पीव बिन क्यौं कटै।
तलफि-तलफि जिय जाय करेजा अति फटै।।
सूनी सेज, संताप सहै सो बावरी।
(परि हाँ) सुन्दर काठौं प्राण सु अबहिं उतावरी।।
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ३६५

३४०. माघ तुसार परन लागा सजनी, पतियौ नाहिं पठाई।
ऐसे निपट कठोर कृपामय, निपटै सुधि बिसराई।।
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० ५०-५१

फागुन में गृह-गृह में सभी स्त्रियाँ केसर, चंदन, अगर, गुलाल से होली खेलती हैं, पर मेरे नख-शिख में अग्नि प्रज्वलित हो रही है, पर मैं मृतक बनी बैठी हुई हूँ।[३४१] चैत माह में नया वर्ष लग जाता है पर मेरा प्रियतम परदेश अत्यधिक पहले से गया हुआ है। वसंत में कंत के बिना रहना कठिन है।[३४२] हे सजनी! बैसाख में बंसी की धुन सुनकर मेरा मन अत्यधिक व्याकुल है, विरह भुजंग द्वारा डसे जाने पर वह चेतनाशून्य हो जाती है।[३४३] जेठ माह की तपन मेरी छाती को और भी तपाती है, क्योंकि प्रियतम का संदेश एवं पत्र भी नहीं आया। चन्दन जैसे पदार्थ भी शरीर को सुख नहीं देते।[३४४] इस प्रकार बारह मास तथा छः ऋतुएँ दिन-रात मुझे सालते हुए व्यतीत होते हैं।

उपर्युक्त बारहमास के विरह-वर्णन विरहिणी के लिए उपयोगी हैं, पर वसन्त और पावस ऋतु विरहिणी को अत्यधिक कष्ट पहुँचाती है।

---

३४१. फागुन घर-घर फाग सु षेलहि कंत सौं ॥
केसरि चन्दन अगर गुलाल बसंत सौं।
मेरे नख शिख अग्नि बारि बिरहा दई ॥
(परि हाँ) सुन्दर मृतक समान देषि विरहनि भई ॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम काण्ड, पृ० ३६५-६६

३४२. प्रथम सषी री चैत वर्ष लागौ नयौ।
मेरौ पिव परदेश बहुत दिन को गयौ ॥
बिरह जारावै मोहि विथा का सौं कहौं।
(परि हाँ) सुन्दर ऋतु बसंत कंत बिन क्यों रहौं ॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम काण्ड, पृ० ३६३

३४३. बैसाखे बंसी धुनि सुनि सजनी, मन अति तलफ मचाई।
विरह भुवंग डस्यौ मोरे हियरे, तन मन की सुधि न रहाई ॥
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृ० ७७

३४४. जैठ तपै दिन रैनि सु मेरी छत्तियाँ।
पीव संदेश लिषाइ न भेजी पत्तियो ॥
चन्दन चन्द वयारि लगै तन तीर री ॥
(परि हाँ) सुन्दर बिरहनि देषि धरै क्यों धीर री ॥
—सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० ३६३

वसन्त-ऋतु—बसन्तु ऋतु में अभागिनी विरहिणी एकान्त में अकेली खड़ी अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाती है। होली उत्सव ने विरहिणी का जीवित रहना और भी दूभर कर दिया, ऐसी होली न आये तो अच्छा है।[345] क्योंकि बसन्त के मादक वातावरण में भी अंगों पर भस्म लगाये जोगन बनी बैठी है।[346]

पावस-ऋतु—विरहिणी के लिए आकाश में उमड़ती-घुमड़ती काली घटाएँ काल बन जाती हैं। रिमझिम की रस भीगी बहार में भी उसका तन-मन जला जा रहा है। विरह रूपी नाग द्वारा डसे जाने के कारण वियोगिनी बेहाल पड़ी छटपटा रही है, सेज सूनी है, अतः अपनी विरह-व्यथा किससे कहूँ, जिससे मन को शान्ति प्राप्त हो। स्त्री के समस्त सौभाग्य के शृंगार अब बोझिल हो गए हैं।[347] इस पावस ऋतु राज्य ने विरहिणियों पर छल-बल सहित अचानक हमला बोल दिया है। बादल हाथी के समान चिंघाड़ रहे हैं, बिजली अग्निबाण की भाँति आकाश में चमक रही है। घन-गर्जना नगाड़ों की आवाज के समान चारों ओर गूँज रही है। चारों ओर पवन रूपी घोड़े दौड़ रहे हैं और बूँद तीर के समान बरस रही है। दादुर, मोर, पपीहा जैसे पैदल सिपाही मारो-मारो का शोर मचा रहे हैं। विरहिणी का हृदय रूपी दुर्ग चारों ओर से घिर गया है। शत्रु पक्ष ने इसमें विरह की आग लगा दी है। रात्रि के इस भयावह वातावरण में विरहिणी भाग कर जाए भी तो कहाँ जाए?[348] जिस कामिनी का पति परदेश में है उसे निद्रा कैसे आ सकती है? उसके लिए तीज-त्योहार भी व्यर्थ हैं। उसका मुख-मण्डल मलिन हो गया है। मन में चिन्ता समा गयी है। खाने की इच्छा नहीं होती। वह विरहिणी इस प्रकार सदैव उद्विग्न क्षीणकाय बनी

---

३४५. प्रान-पति बिनु कैसे जीवों, ऐसो होरी जाइया।
इक नाम सों नाहिं संग बनिया, बृथा सम्मत लाइया ॥
बृथा सम्मत लाइया, तब ऐस ही दिन जाइया।
अब कहा पछतात हो, तुम कहै कवन बुझाइया ॥
—गुलाल साहब की बानी, पृ० ८५

३४६. कौनि विधि खेलौं होरी यहि बन माँ भुलानी ॥टेक॥
जोगिन ह्वै अंग भसम चढ़ायो, तनहिं खाक करि मानी।
—जगजीवन साहब की बानी, भाग २, पृ० ७२

३४७. सन्त-सुधासार, रज्जबजी, पद १४, पृ० ५१८

३४८. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, सन्त दर्शन, पृ० १११-११२

रहती है।[349] इस ऋतु में विरहिणी को पपीहा भी अपना दुश्मन प्रतीत होता है, उसकी सुरीली आवाज कर्णकटु-सी प्रतीत होती है। वह तो उसके लिए सौत बन जाता है।[350] अन्त में आत्मा चीत्कार कर कह उठती है, हे प्रियतम ! इन काली घटाओं ने घिर कर मुझे घोर संकट में डाल दिया है। सूनी सेज भयावह लग रही है और मैं विरह में जलती हुई मरणावस्था में पहुँच गई हूँ।[351] विरहावस्था में प्रियतम के बिछुड़ते ही मरने की कामना करती है। प्रियतम विरह में अब क्या करूँ, किस प्रकार जीऊँ, कौन देश को जाऊँ, किससे पूछूँ, कौन उनके नाम-गाँव को बतायेगा जहाँ जाऊँ। तन को काट दूँ, उस घाव में नमक भर दूँ, तथा आग लगा दूँ, प्रियतम बिना इस जीव को राख कर दूँ, मेरे इस ज्ञान को धिक्कार है। अपने ही अन्दर प्रियतम से मिलकर समस्त दुःखों

---

३४९. मोर करत अति सोर चमक रही बीजरी।
जाको पीव विदेस ताहि कहाँ तीजरी ॥
बदन मलिन मन सोच, खाना नहि खाती है।
हरि हाँ, वाजिद, अति उनमन क्षीण रहति इहँ भाँति है।
—सन्त सुधासार, वाजिद, पृ० ५५५

३५०. पिया पिया बोलै पपीहा है, सबद सुनत फाटै हीया है।
सोवत से मैं चौंकि परी हौं, धकर-धकर करै जीया है ॥
पिय की सोच परी अब मोको, पिय बिनु जीवन छीया है।
बैरी होइ के आय पपीहा, बिरह जंजाल मोहिं दीया है ॥
रैन दिवस मारे बान, पपीहा बोलै हो।
पिय पिय लावे सौर, सवति ह्वै डोलै हो।
—पलटू साहब की बानी, भाग ३, शब्द ३८/१, २, ३, पृ० २०

३५१. देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
सूनी सेज भयावन लागी, मरौं बिरह की जारी ॥
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नाहि बिसारी।
चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी ॥
—बुल्ला साहब का शब्द सार, शब्द १०, पृ० ६

का विनाश हो जाता है।[३५२] अतः संयोगकालीन सुखद वस्तुएं वियोग में दुःखद लगती हैं। प्रियतम से मिलने पर ही इन दुःखों का विनाश होता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार सन्तों ने संयोग-वियोग वर्णन में मधुराभक्ति की अभिव्यक्ति प्रतीक पद्धति द्वारा ही हुई है। सिद्ध एवं नाथ द्वारा प्रतिपादित योग की जटिल साधना के मध्य भी मधुराभक्ति की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि सन्त इसी मधुराभक्ति में सिर से पैर तक डूबे हुए हैं।

---

३५२. जिवरा कैसे राखो रे, मेरे बिछुरे प्रीतम प्रान।
अब क्या करूं किन विध जिऊं, कौन देश कहाँ जाऊँ।।
कासों पूछो कौन बतावे, नाम ठाम तहाँ जाऊँ।
काटो तन भरों लोंन घाव में, उपर आयी बार।।
भस्म करूं यह जीव पीऊँ बिन, धिकधिक मोही मेरे ज्ञान।
कीहो संग चरमिष्ठ दुष्ट ठग, भुली विती दिन हान।।
आउ पीउ पुकार गए घर, सुन्यो गुन्यो नहीं कान।
मैं पापी रह्यो सोय नीद वश, सर्वस्व सुख निध खोए।।
अब तलफो मछली ज्यों जल बिना, सब कुछ मोही से नसान।
सब विधि भूल सकल मै मोंसे, लीजे शरण गही बाँह।।
प्रेमसखी निज घर प्रीतम मिली, दुख निश गये भए विहान।
—डॉ० ओम् प्रकाश सक्सेना, प्रणामी कवि और काव्य, परमहंस गोपाल दासजी, 'प्रेमसखी,' पृ० ३७

उपसंहार

किसी भी साहित्य को जानने से पूर्व तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक परिस्थितियों को समझना अनिवार्य है। उत्तर-मध्ययुग ऐहिकतापरक काव्य सर्जना की ओर विशेष रूप से उन्मुख था, इसलिए धूनी रमाने वाले सन्तों ने भी जिस भावोच्छ्वसित काव्य की रचना की है वह अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं बेजोड़ है। राग को राग के द्वारा शमित कर उन्होंने इस दिशा में अपना मौलिक योगदान किया है। पृष्ठभूमि के रूप में इन प्रवृत्तियों का परिचय प्रथम अध्याय में किया गया है।

मधुराभक्ति का मूल उत्स भक्ति-शास्त्र ही है, अतः भक्ति-शास्त्र के आधार पर भक्ति के विभिन्न अर्थ, महत्त्व, तत्त्व, रूप, रति के विविध रूपों को विवेचित करते हुए भगवान् के प्रति स्नेह को ही भगवत्साधना का मुख्य प्रयोजन तत्त्व माना गया है। शाण्डिल्य, नारद आदि भक्ति तत्त्ववेत्ताओं ने भक्ति के जिन अनेक रूपों का परिचय दिया है उनमें प्रेमाभक्ति ही प्रमुख है। भगवद् रति ही क्रमशः प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग, भाव, महाभाव के रूप में वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जब परमोत्कर्ष को प्राप्त होता है तब इसी का नाम भक्तिरसराज मधुराभक्ति हो जाता है। प्रेम की अनन्यासक्ति की दृष्टि से ऐश्वर्यभावपरक और माधुर्यभावपरक लीलाओं से भिन्न मानवीय रस से ओतप्रोत मधुर भक्ति भावना से पूरित लीला का ही सर्वोपरि स्थान है, जिसमें भगवान् भक्तों के लिए पुत्र, सखा, पति, स्वामी आदि रूपों को ग्रहण कर लेते हैं। जब भक्त को सहज ही भगवद्स्नेह की मानसिक तन्मयता प्राप्त हो जाती है तो उसी क्षण मधुराभक्ति-परमोत्कर्ष को प्राप्त हो जाती है। साधक सामान्यतः कान्ताभाव, गोपी-भाव, सखी-भाव से मधुराभक्ति का आस्वादन करता है। प्रेमानुभूति की तीव्रता एवं तन्मयता की दृष्टि से कान्ताभाव की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इस उपासना में ही जीवात्मा अथवा भक्त, प्रेयसी और परमात्मारूपी प्रियतम की मधुर प्रेम लीलाओं में ही मधुर भावना का चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है। उपर्युक्त भक्ति विषयक समस्त तत्त्वों का दिग्दर्शन करना द्वितीय अध्याय का ध्येय रहा है।

मधुर भक्ति रस के काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में रूप गोस्वामीकृत हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, आनन्दचन्द्रिका तथा जीवगोस्वमीकृत दुर्गम संगमनी, लोचन रोचनी, नामक टीकाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णदास कविराजकृत 'चैतन्य-चरितामृत', कर्णपूरकृत 'अलंकार-कौस्तुभ', नरोत्तमदासकृत 'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका', विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रणीत 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में भी मधुर रस की विवेचना की गयी है। इन पुस्तकों की सहायता लेकर ही मधुरभक्ति रस का स्थायी भाव, विभाव, आश्रयालम्बन, उद्दीपन, अनुभाव,

सात्त्विक भाव, संचारी भाव इन समस्त विषयों को समझाने का प्रयत्न किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानव में काम की प्रवृत्ति, आदर्शवाद की प्रवृत्ति, आत्मप्रतिष्ठा और आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, प्रमुख कामवासना की प्रवृत्ति शाश्वत है। प्रेम या राग मनुष्य के जीवन का सर्वाधिक मौलिक भाव है जो चेतन-अचेतन सबमें विद्यमान है। पाश्चात्य मानस तत्त्वज्ञों के मत में यही राग लिबिडो या काम है जिसे उन्होंने जीवन मूलप्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत किया है। मैथुन या प्रजनन की प्रवृत्ति मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में प्रबल है तथा काम अतिव्यापक मनोवेग है जिसके प्रभाव से संसार के समस्त क्रिया-कलाप चलते हैं। काम का प्रभाव सर्वत्र पारस्परिक सौन्दर्याकर्षण आदि से नानाविध प्रेम व्यापारों द्वारा संसार के सभी ज्ञात-अज्ञात, दृश्यादृश्य रूप से समस्त प्राणियों में सूक्ष्म रूप से दिखाई देता है। मधुर भक्ति भावना के मूल में यही कामवृत्ति कार्य करती है। यहाँ कामवासना का उदात्त, स्वच्छ, निर्मल रूप ही विद्यमान है। यही काम की उदात्त भावना श्रद्धा भक्ति में परिवर्तित होकर अलौकि प्रेम का रूप धारण कर लेती है। जीवनोन्मुख प्रेम जब परमेश्वरोन्मुख होता है तभी रागमयी साधना भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यही मधुराभक्ति भक्तजनों के हृदय को सिंचित करती है। इन समस्त विषयों का समावेश तृतीय अध्याय में किया गया है।

मधुराभक्ति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने के कारण औपनिषदिक मन्त्रों, पुराणों, ईसाइयों, आलवार भक्तों; कन्नड़, मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, बाउल समस्त सम्प्रदायों के साहित्य में भी मधुर-भावना की भक्ति को खोजने का प्रयास किया गया है। हिन्दी भक्ति साहित्य के अन्तर्गत सिद्ध साहित्य, जैन साधना-साहित्य, नाथ सम्प्रदाय, सूफी साधना आदि सन्तों के विविध साधना मार्गों की आध्यात्मिक प्रेम साधना के क्षेत्र में आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक प्रणय-विलास के आधार पर विपुल साहित्य भाण्डार की नींव रखी गई है। मधुर भक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वैष्णव आचार्यों को है। उन्होंने काव्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र वैष्णव रसशास्त्र का प्रणयन कर मधुर भक्ति की स्थापना का महनीय प्रयास किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय, सखी सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, बल्लभ सम्प्रदाय के माधुर्य रसोपासक भक्त्याचार्यों ने भी प्रासंगिक रूप में मधुर भक्ति को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है यद्यपि इन भक्तों का प्रमुख उद्देश्य मधुर रस की अपेक्षा राधा-कृष्ण की मधुर प्रेमलीलाओं, राधा की सुषमा माधुरी, पूर्वराग, अभिसार आदि का उल्लेख करना था। मधुर भक्ति रस की दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीभट्टकृत 'जुगलसतक', स्वामी हरिदासरचित 'केलिमाल', राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश प्रणीत 'राधा सुधानिधि', श्रीव्यासरचित 'व्यास-

वाणी' विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। कृष्ण-भक्तों की मधुरा भक्ति के साथ-ही-साथ रामभक्ति क्षेत्र में भी मधुर भक्ति के समरूप सीता की सुषमा माधुरी सीता-राम की माधुर्य-केलि तथा विलास का वर्णन किया गया है। मधुर भक्ति के विश्रयालम्बन ब्रह्म तथा आश्रयालम्बन उसकी शक्तियों में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। इसे सबने एक स्वर से स्वीकृत किया है। तथापि अनेक दार्शनिक मतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, आदि भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं, पर सबने ब्रह्म और उसकी शक्ति की एकात्मकता को एक स्वर से स्वीकृत किया है। चौथे अध्याय के विवेच्य विषय यही हैं।

सन्तो की गुह्य साधनाओं में निहित शब्द-सुरति-योग, शिव-शक्ति अथवा पुरुष-प्रकृति सामरस्य, चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध, नादानुसन्धान, नाद और बिन्दु के सम्मिलन, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, इड़ा-पिंगला, प्राण-अपान, कुलाकुल, शून्यता-करुणा, प्रज्ञा-उपाय इन समस्त भावों में प्रेम-लक्षणा-भक्ति का मर्म छिपा हुआ है। गुणातीत, द्वैताद्वैत, प्रेम पारावार 'राम' को विश्रयालम्बन तथा भक्तभामिनी अथवा जीवात्मा रूपी प्रेयसी को आश्रयालम्बन बनाकर सन्तों द्वारा की गई मधुरभक्ति की संयोग पक्षीय साधना में संसार रूपी नैहर से आत्मारूपी वधू का गौना, नववधू के परिधान, नव-वधू का उद्बोधन, संकल्प-विकल्प, आत्मा-परमात्मा का प्रणय-विलास, होली, हिण्डोला, मिलनोद्दीपन आदि का वर्णन किया है। वियोगपक्षीय साधना में प्रवर्त्तक दशा, साधक दशा, महाभाव दशा, विरह भावना के प्रतीक विधान, विरहोद्दीपन का वर्णन करते हुए निर्गुण भक्ति साहित्य में मधुर भक्ति भावना के तत्त्वान्वेषण सम्बन्धी लक्ष्य को भी अन्ततः पूरा किया गया है। पाँचवें अध्याय में इन्हीं विषयों का विस्तृत विवेचन है।

पंचम अध्याय में सन्तों की भक्ति में निहित सुरति-निरति कल्पना, सहज भाव-भक्ति, प्रेम लक्षणा भक्ति, सन्त-साधना के विश्रयालम्बन, निर्गुण राम एवं आश्रयालम्बन, भक्तिभामिनी अथवा जीवात्मारूपी सुन्दरी, मधुर भक्ति के संयोगात्मक संसार रूपी नैहर से आत्मारूपी वधू का गौना, नव-वधू के परिधान, सखी द्वारा नववधू का उद्बोधन, संकल्प-विकल्प, आत्मा-परमात्मा का प्रणय विलास आध्यात्मिक हिण्डोला, मिलनोद्दीपन, बारहमासा, वियोगात्मक मधुराभक्ति में प्रवर्त्तक दशा, साधक दशा, महाभावदशा, विरहभेद, पूर्वराग मानमोचन, प्रवास विरह, विरह की अन्तर्दशाएं, अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति-उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता-मरण, प्रतीक-विधान, विरहोद्दीपन उपर्युक्त समस्त भावों को दिग्दर्शित किया है।

●

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त (दो भाग), १९४७ ई०

२. अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्र० सं०, १९४७ ई०

३. अनुशीलन, डॉ० रामकुमार वर्मा; साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५७ ई०

४. अमीघूंट (केशवदासकृत), वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९१५ ई०

५. आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य, डॉ० मलिक मोहम्मद, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्र० सं०, १९६७ ई०

६. इन्द्रावती, (नूरमुहम्मदकृत) सम्पा०-श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९०६ ई०

७. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वि० सं०, १९६४ ई०

८. कबीर ग्रन्थावली सटीक, टीकाकार पुष्पपाल सिंह, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, प्र० सं०, १९६२ ई०

९. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्र० सं०, १९६१ ई०

१०. कबीर वचनावली, सम्पा०—श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, नवाँ संस्करण, १९४६ ई०

११. कबीर वचनावली, संग्रहकर्ता—अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, नवाँ संस्करण, १९४६ ई०

१२. कबीर बीजक, सम्पा०—उदयशंकर शास्त्री एवं महाबीर प्रसाद, कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, हरक. बाराबंकी, प्र० सं०, १९५० ई०

१३. कबीर बीजक, सम्पादक—डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९७२ ई०

१४. कबीर साहब की शब्दावली (चार भाग), वेलवेडीयर प्रेस, प्रयाग, तृ० सं०, १९२१ ई०

१५. कबीर का रहस्यवाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, तृ० सं०, १९३८ ई०

१६. कबीर : साधना और साहित्य, डॉ० प्रताप सिंह चौहान, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, प्र० सं०, १९७६ ई०

१७. कन्नड़ साहित्य सौरभ, डॉ० हिरण्यमय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र० सं०, १९७५ ई०

१८. काव्यनिर्णय (भिखारीदासकृत), सम्पादक—जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्र० सं०, १९५६ ई०

१९. गरीबदासजी की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

२०. गुलाल साहेब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, द्वि० सं०, १९१० ई०

२१. गुजरात के सन्तों की हिन्दी साहित्य को देन, डॉ० रामकुमार गुप्त, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, १९६७ ई०

२२. गुजराती साहित्यनुं रेखा-दर्शन, केशवराम का० शास्त्री, अहमदाबाद, १९५१ ई०

२३. गुरु ग्रन्थ दर्शन, डॉ० जयराम मिश्र, साहित्य भवन प्रायवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९६० ई०

२४. गोरखबानी, सम्पा० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९९ वि०

२५. चरनदासजी की बानी (दो भाग), वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९०८ ई०

२६. चैतन्य-चरितामृत, बाबा कृष्णदास, सम्पादक-श्री श्यामदास, १९६२ ई०

२७. चैतन्य-चरितामृतम्, श्री सुबल श्यामजी, कृष्णदास कुसुम सरोवर, प्र० सं०, १९४९ ई०

२८. चिन्तामणि (दो भाग), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

२९. जगद्विनोद, कवि पद्माकर, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्र० सं०, १९५७ ई०

३०. जगजीवन साहब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

३१. तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली (दो भाग), वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृ० सं०, १९३१ ई०

३२. दयाबाई की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९२७ ई०

३३. दरिया-ग्रन्थावली, सम्पा०-धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

३४. दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृ० सं०, १९२२ ई०

३५. दरिया साहब (बिहार वाले) के चुने हुए शब्द, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, द्वि० सं०, १९१९ ई०

३६. दादू दयाल का सबद, सम्पा० महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९०६ ई०

३७. दूलनदासजी की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, द्वि० सं०, १९३१ ई०

३८. धनी धरमदास की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, द्वि० सं०, १९२३ ई०

३९. नवरस तरंग (महाकवि बेनी प्रवीणकृत), सम्पा०—कृष्णबिहारी मिश्र, एस० एस० मेहता एण्ड ब्रदर्स, प्राचीन कवि माला कार्यालय, काशी, प्र० सं०, १९२५ ई०

४०. नानक-वाणी, सम्पा०—डॉ० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद १९६१ ई०

४१. नाथ सिद्धों की बानियाँ, सम्पादक—हजारी प्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं०, १९५७ ई०

४२. निरञ्जनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरञ्जनी, सम्पा०—डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्र० सं०, १९६४ ई०

४३. पद्माकर ग्रन्थावली, सम्पा०—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र० सं०, १९५९ ई०

४४. पलटू साहब की बानी (तीन भाग), वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

४५. परिचयी साहित्य, त्रिलोकी नारायण दीक्षित, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ, प्र० सं०, १९५७ ई०

४६. प्रणामी कवि और काव्य, डॉ० ओम् प्रकाश सक्सेना, प्रणामी प्रकाशन, अतरसुइया, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९७३ ई०

४७, ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्यभक्ति, यंग मैन ऐण्ड कम्पनी, नई सड़क, दिल्ली, प्र० सं०, १९६२ ई०

४८. बिहारी बोधिनी, टीकाकार—लाला भगवानदीन, गोपालदास 'सेवक' साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, चतुर्थ संस्करण

४९. भवानी विलास (देवकृत), काशी भारतजीवन प्रेस, १८९३ ई०

५०. भक्तमाल (नाभादासकृत), तेजकुमार प्रेस, बुक डीपो, लखनऊ, चतुर्थ सं०, १९६२ ई०

५१. भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं०, १९५३ ई०

५२. भारतीय धर्म एवं संस्कृति, बुद्ध प्रकाश, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, प्र० सं०, १९६७ ई०

५३. भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास, प्र० सं०, १९५२ ई०

५४. भारतीय संस्कृति और इसका इतिहास, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन, मसूरी, प्र० सं०, अगस्त १९५३ ई०

५५. भक्ति-सागर (चरणदासकृत), नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, पंचम सं०, १९३१ ई०

५६. भक्ति साहित्य में मधुरोपासना, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९६१ ई०
५७. भक्तिकालीन काव्य में राग और रस, डॉ० दिनेश चन्द्र गुप्त, भारती-प्रकाशन, लखनऊ, प्र० सं०, १९७० ई०
५८. भक्ति-काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, डॉ० जयनाथ 'नलिन', बंसल ऐण्ड कम्पनी, नवीन शाहदरा, दिल्ली
५९. मध्यकालीन धर्म साधना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५२ ई०
६०. मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं०, १९६९ ई०
६१. मध्यकालीन प्रेम साधना, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५२ ई०
६२. मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
६३. मराठी साहित्य का इतिहास, कृष्णलाल शरसोदे 'हंस', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त, प्रयाग, प्र० सं०, १९४८ ई०
६४. मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० र० श० केलकर, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्र० सं०, १९६६ ई०
६५. मध्यकालीन भारत, पी० डी० गुप्ता, राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, प्र० सं०, १९५३ ई०
६६. मधुर रस स्वरूप और विकास, डॉ० रामस्वार्थ चौधरी, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्र० सं०, १९६८ ई० एवं १९७२ ई०
६७. मुगलकालीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, श्री बी० एन० लूनिया, मानिकचन्द बुक डिपो, उज्जैन, प्र० सं०, १९७१ ई०
६८. मधुमालती (मंझनकृत), सम्पा०—शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, नवम्बर १९५७ ई०
६९. रत्न-सागर, तुलसी साहब (हाथरस वाले), वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृ० सं०, १९१९ ई०
७०. रज्जब-वाणी, डॉ० ब्रजलाल वर्मा, उपमा प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, कानपुर, प्र० सं०, १० दिसम्बर १९६३ ई०
७१. रसराज (मतिरामकृत) व्याख्या० और सम्पा०-रामजी मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्र० सं०, १९६० ई०
७२. रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पा०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्र० सं०, १९४९ ई०

७३. रसिक-प्रिया (केशवदासकृत), कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, चौक, वाराणसी, प्र० सं० १९५८ ई०
७४. राधास्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, डॉ० सरल कुमारी, राजेन्द्र शर्मा औरिएण्टल पब्लिशर्स, दरियागंज, दिल्ली, प्र० सं०, १९७१ ई०
७५. राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, अवध साहित्य मन्दिर, बलराम (गोंडा), उ० प्र०, प्र० सं०, १९५७ ई०
७६. रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, डॉ० भुवनेश्र नाथ मिश्र 'माधव', बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र० सं०, १९५७ ई०
७७. रीति-कविता और श्रृंगार रस का विवेचन, डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, प्र० सं०, १९५३ ई०
७८. रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुद्ध डिपो०, नई सड़क, दिल्ली, १९४९ ई०
७९. रीतिकालीन कवियों की मौलिक देन, डॉ० किशोरीलाल, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं०, सन् १९७१ ई०
८०. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, डॉ० शिवलाल जोशी, प्र० सं०, १९६२ ई०
८१. रैदास की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पंचम सं०, १९३० ई०
८२. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डॉ० मलिक मोहम्मद, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र० सं०, १९७१ ई०
८३. वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी, प्र० सं०, १९७८ ई०
८४. विनयपत्रिका, गीताप्रेस, गोरखपुर
८५. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, १९७२ ई०
८६. श्रृंगार सुधाकर, मन्नालाल द्विज, लाइट प्रेस, वाराणसी, सन् १८८७ ई०
८७. सन्त साहित्य, भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर, प्र० सं०, १९४३ ई०
८८. सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि, डॉ० ओम प्रकाश शर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाघाद, प्र० सं०, १९६५ ई०
८९. सन्त-काव्य, सम्पा० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब-महल, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५२ ई०
९०. सन्त मत, डॉ० प्रताप सिंह चौहान, रामबाग, कानपुर, प्र० सं०, १९७३ ई०

९१. सन्त-वाणी, सम्पा०—वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९४७ ई०
९२. सन्त बानी-संग्रह (तीन भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृ० सं०, १९५३ ई०
९३. सन्त-सुधासार, सम्पा०—वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, प्र० सं०, १९५३ ई०
९४. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् सम्मेलन, प्र० सं०, १९५४ ई०
९५. सन्त पलटूदास और पलटूपंथ, डॉ० राधाकृष्ण सिंह, शोध प्रबन्ध प्रकाशन, करौल बाग, नई दिल्ली, प्र० सं०, १९६६ ई०
९६. सन्त कवि मलूकदास, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, सन्त-सूफी-साहित्य संस्थान, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, २१ अप्रैल १९६५ ई०
९७. सन्त नामदेव की हिन्दी पदावली, सम्पा०—डॉ० भगीरथ मिश्र और मौर्य, पूना विश्वविद्यालय, सन् १९६४ ई०
९८. सन्त रोहल की बानी, डॉ० दशरथ राज, शिव शक्ति प्रकाशन, पूना, प्र० सं०, १९६९ ई०
९९. सहज-साधना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, म० प्र० शासन, साहित्य परिषद्, भोपाल, प्र० सं०, १९६३ ई०
१००. सनेह सागर (बकसी हंसराजकृत), १९७२ ई०
१०१. सिद्ध-साहित्य, डॉ० धर्मवीर भारती, किताब महल, जीरोरोड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५५ ई०
१०२. सुन्दर-सार (सुन्दरदासकृत), के० मित्रा, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, द्वि० सं०, १९२८ ई०
१०३. सुन्दर-दर्शन, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, किताब-महल, जीरोरोड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५३ ई०
१०४. सुन्दरी सर्वस्व, मन्नालाल द्विज, बनारस यन्त्रालय, वाराणसी, सं०, १९४२ ई०
१०५. सुखसागर तरंग (देवदत्तकृत)
१०६. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, सम्पा०—नन्द दुलारे बाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृ० सं०, १९६१ ई०
१०७. सूफीमत साधना और साहित्य, डॉ० रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, प्र० सं०, १९४६ ई०

१०८. सेवादास निरञ्जनी—व्यक्तित्व एवं कृतित्व : एक अनुशीलन, डॉ० एस० एच० मोरे, जवाहर पुस्तकालय, सदर बाजार, मथुरा, प्र० सं०, १९७७ ई०

१०९. हरिदासजी की वाणी, सम्पा०—मंगलदास स्वामी, निखिल भारतीय निरञ्जनी महासभा, जयपुर, प्र० सं०, १९६२ ई०

११०. हिन्दी अभिनव भारती, सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्र० सं०, १९६० ई०

१११. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, वि० सं०, १९९३ ई०

११२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग, द्वि० सं०, १९४८ ई०

११३. हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, प्र० सं०, १९५० ई०

११४. हिन्दी निर्गुण-काव्य का प्रारम्भ और नामदेव की हिन्दी कविता, डॉ० श० के० आडकर, रचना प्रकाशन, खुल्दाबाद, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९७२ ई०

११५. हिन्दी जैन भक्ति-काव्य और कवि, डॉ० प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञान पीठ, प्र० सं०, १९६४ ई०

११६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, आचार्य विनय मोहन शर्मा, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, प्र० सं०, मार्च १९५७ ई०

११७. हिन्दी सूफी-काव्य समग्र अनुशीलन, शिव सहायक पाठक, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र० सं०, १९७८ ई०

११८. हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना, डॉ० पूर्णमासी राय, अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं०, जनवरी १९७४ ई०

११९. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डॉ० हिरण्मय, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्र० स०, १९५९ ई०

१२०. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, आचार्य चतुरसेन, गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, द्वि० सं०, १९४९ ई०

१२१. ज्ञान समुद्र (सुन्दरदासकृत), ज्ञान सागर छापाखाना, बम्बई, १९६३ ई०

संस्कृत-ग्रन्थ

१. अष्टाध्यायी सूत्र पाठ, पाणिनिकृत, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट बनारस, तृतीय संस्करण, १९५१ ई०

२. अग्निपुराण, पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली, उत्तर प्रदेश, प्र० सं०, १९६८ ई०

३. अलंकार कौस्तुभ, कविकर्णपूरकृत

४. अथर्ववेद

५. ईशावास्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

६. उपनिषत्समुच्चय, श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती, चौधरी एण्ड सन्स, बनारस, १८ फरवरी १९३३ ई०

७. उज्ज्वलनीलमणि, रूप गोस्वामी विरचित, प्रकाशक व अनुवादक कृष्णदास बाबा, कुसुम सरोवर, १९६५ ई०

८. ऋग्वेद संहिता सायणभाष्यम्, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, १९५७ ई०

९. काव्य-प्रकाश, श्री मम्मटाचार्य विरचित, व्याख्या—आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पा०—डॉ० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, प्र० सं०, १९६० ई०, द्वि० सं०, १९६१ ई०

१०. काव्यानुशासन, हेमचन्द्रकृत् काव्यमाला, निर्णयसागर प्रेस, १९ ४ ई०

११. काव्यादर्श आचार्य दण्डीकृत, व्याख्याकार धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९३८ ई०

१२. काव्यालंकार, आचार्य भामहकृत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६२ ई०

१३. काव्यालंकार, रुद्रटकृत, वासुदेव प्रकाशन, माउलटाउन, दिल्ली, प्र० सं०, १९६५ ई०

१४. गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस, १९२५ ई०

१५. गीतगोविन्द, जयदेवकृत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

१६. चन्द्रालोकः, जयदेवकृत, जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सिरीज ऑफिस, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, तृ० सं०, १९५० ई०

१७. छान्दोग्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

१८. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर

१९. दशरूपक, श्री धनञ्जय विरचित, व्याख्या०—डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वि० सं०, १९६२ ई०

२०. दशलोकी, निम्बर्काचार्यकृत

२१. दोहाकोष (संस्कृत छाया सहित), डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, १९३८ ई०

२२. देवीभागवतपुराण, मनसुखराय मोर, कलकत्ता
२३. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धनाचार्यकृत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
२४. नाट्यशास्त्र (दो भाग), आचार्य भरत विरचित, ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, द्वि० सं०, १९५६ ई०
२५. नारदभक्ति दर्शन, देवर्षि नारद रचित, ब्र० प्रेमानन्द 'दादा,' सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई, प्र० सं०
२६. पद्मपुराण, प्रकाशक मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९५७ ई०
२७. परमात्म प्रकाश, श्रीमद्योगीन्दुदेव विरचित, सेठ मणीलाल रेवाशंकर, जगजीवन जौहरी, जौहरी बाजार, बम्बई, प्र० सं०, १९७२ ई०
२८. पाहुड़ दोहा, रामसिंह विरचित, सम्पा०—हीरालाल जैन, करंजा, १९३३ ई०
२९. पातञ्जलयोग दर्शन, महर्षि पतञ्जलिकृत, व्याख्याकार—स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वि० सं०, १९७० ई०
३०. प्रीति सन्दर्भ, जीवगोस्वामीकृत, कुसुम सरोवर
३१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, सम्पा०—पं० श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कतुब, बरेली, प्र० सं०, १९७० ई०
३२. बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड, सम्पा०—पं० श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, उ० प्र०, प्र० सं०, १९६६ ई०
३३. भक्तिमीमांसा, सम्पा०—विश्वनाथ शुक्ल, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, प्र० सं०, १९८० ई०
३४. भक्ति-चन्द्रिका, नारायणतीर्थ (शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रों की व्याख्या), गवर्नमेण्ट संस्कृत लायब्रेरी, सरस्वती भवन, बनारस
३५. भक्ति रसामृतसिन्धु, श्री रूपगोस्वामीकृत, व्याख्याकार—श्यामनारायण पाण्डेय, साहित्यनिकेतन, कानपुर
३६. भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
३७. मनुस्मृति, संस्कृति संस्थान, बरेली १९६६ ई०
३८. रसतरंगिणी, भानुदत्त विरचित, सम्पा० देवदत्त कौशिक, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र० सं०, १९७४ ई०
३९. रसार्णव सुधाकर, शिंगभूपाल
४०. रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथकृत, व्याख्या०—पं० श्री मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतु० सं०, १९७८ ई०
४१. विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर

४२. व्यक्ति विवेक, राजानक श्री महिमभट्टकृत, व्याख्याकार—रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९६४ ई०
४३. बृहत्स्तोत्र रत्नहरि, वेंकटश शास्त्री, प्र० सं०, १९२५ ई०
४४. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, चतु० सं०, १९६८ ई०
४५. शिवसंहिता, गीताप्रेस, गोरखपुर
४६. शिशुपालवधम्, महाकविमाघप्रणीत, व्याख्या०—श्री रामजी लाल शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, १९७७ ई०
४७. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, श्री बल्लभाचार्य विरचित, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस
४८. श्वेताश्वतरोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
४९. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, भोजदेव
५०. स्तोत्र रत्नावली, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
५१. संगीत रत्नाकर, शारंगदेवकृत, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
५२. साहित्यदर्पण (आचार्य विश्वनाथकृत), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५६ ई०
५३. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, गोरखनाथ, श्रीवल्लभ वेदान्त (अणुभाष्य), जगद्-गुरु श्री बल्लभाचार्य, श्री निम्बार्काचार्या पीठ, प्रयाग
५४. साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथकृत, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५६ ई०
५५. श्री विष्णुपुराण, अनु०—श्री मुनिलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर
५६. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर
५७. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, श्री रूप गोस्वामी (दुर्गम संगमनी सहित), अच्युत ग्रन्थमाला, विद्याविलास प्रेस, वि० सं० १९८८
५८. दोहाकोश, सिद्ध सरहपाद, सम्पा०—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र० सं०, १९५७ ई०
५९. दोहाकोश (अंग्रेजी टीका सहित), डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, १९५३ ई०
६०. चर्यापद (अपभ्रंश), संपाद०—मणीन्द्र मोहन बसु
६१. बौद्धगान ओ दोहा (अपभ्रंश), सम्पा०—म० म० हरप्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, सं० १३५८ (बंगाब्द)

अंग्रेजी पुस्तकें

१. इण्ट्रोडक्शन टु द सायकोलाजी ऑफ रीलिजन, थाउलेस
२. इण्ट्रोडक्शन टु सोसल सायकोलाजी, मैग्डुगल
३. इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स, फ्रायड
४. द नम्बर ऑफ रसाज, राघवन
५. द सायकोलाजी ऑफ सेक्स, ओस्वाल्ड स्क्वार्टज
६. द सायकोलाजी ऑफ रीलिजन, सेलवि
७. द मेसन्स ऑफ फिलासफी-विलगूराण्ट
८. द स्टडी ऑफ रीलिजन, मारिस जस्टो
९. द सायकोलाजी एण्ड रीलिजन, क्वेस्ट आर० वी० कैटल
१०. द नम्बर ऑफ रसास, डॉ० वी० राघवन
११. द सांग ऑफ सोलोमन, वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट, एस० के० डे०
१२. द बुक ऑफ द ओल्ड टेस्टामेण्ट
१३. द हिस्ट्री ऑफ मैडिवल वैष्णविज्म इन ओरिसा, प्रभात मुकर्जी
१४. द मास्टिकस ऑफ स्पेन, इ० एलिसन पियर
१५. मास्टिसिस्म, एवलिन अण्डर हिल
१६. मास्टिकस एण्ड मास्टिसिस्म, पी० एन० श्रीनिवासचारी
१७. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी
१८. हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंगवेज ऐण्ड लिट्रेचर, डॉ० डी० सी० सेन
१९. ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ द अरबस, आर० ए० निकल्सन

पत्र-पत्रिकाएँ

१. कल्याण (भक्ति अंक), गीता प्रेस, गोरखपुर, जनवरी १९५८ ई०
२. कल्याण, साधनांक, खण्ड १, गीता प्रेस, गोरखपुर, अगस्त १९४० ई०
३. वेदान्ताङ्क, कल्याण पत्रिका, वि० सं० १९९३